परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

प्रायश्चितविधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्य के सन्दर्भ में

शोधार्थी
साध्वी सौम्यगुणाश्री

प्रकाशक
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं (राजस्थान)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

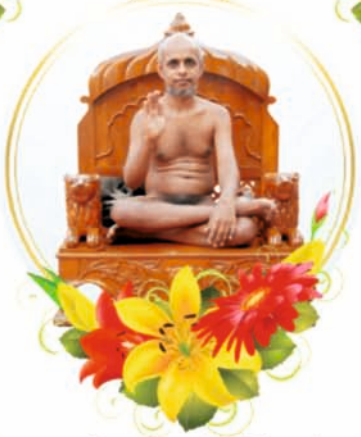

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

प्रायश्चित विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण

व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्य के संदर्भ में

सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी

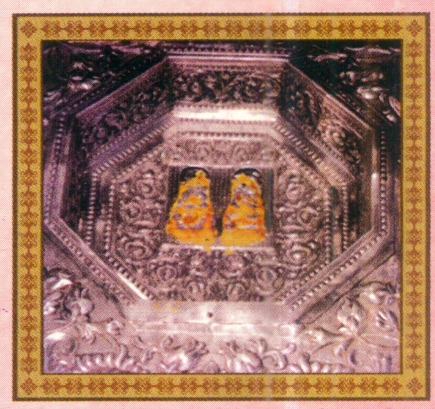

श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)

श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)

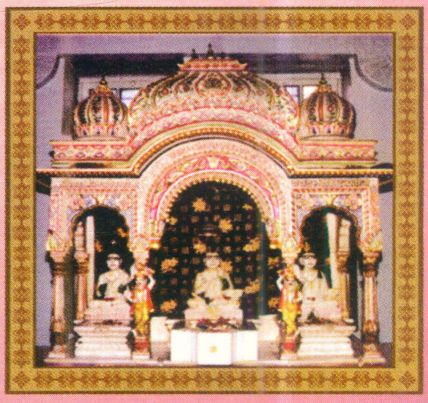

श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण

व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्य के संदर्भ में

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-10

2012-13

R.J. 241 / 2007

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRIMAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba... 382 009
Phone : (079)... 252, 25276204-0
ज्ञानस्य सारमायारो

शोधार्थी
डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय
लाडनूं-341306 (राज.)

प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण

व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्य के संदर्भ में

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-10

स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण

व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्य के संदर्भ में

कृपा वृष्टि : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल वृष्टि : उपाध्याय प्रवर पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द वृष्टि : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा वृष्टि : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य वृष्टि : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह वृष्टि : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभाजी, सुयोग्या संयमप्रज्ञाजी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : • प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
email : sagarmal.jain@gmail.com
• सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 100.00

(पुनः प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (X)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला– दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

विनयार्पण

तुम शान्त जैसे ठहरा जल हो।

तुम मुखर जैसे खिला कमल हो।

तुम दृढ़ संकल्पी जैसे अडिग हिमालय हो।

तुम महापुण्य के स्वामी, जैसे देवों के आलय हो।

तुम शरणागत प्रतिपाल जैसे इच्छा पूरण कल्पतरु हो।

तुम पुण्य के अभिधान जैसे विघ्न निवारक मंगल चरु हो।

ऐसे

खरतर संघ के पारस पुरुष, साहित्य दिवाकर,

जग वल्लभ, उपाध्याय भगवन्त पूज्य गुरुदेव

श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के

अनन्त आस्थामय चरणपुंज में

सादर समर्पित

सज्जन मनस् स्फुरणा

मनोगत पापों का, देहकृत दोषों का,

आत्मकृत दुष्कार्यों का, भावकृत दुर्विचारों का,

बोध हो...

भवोभव की कर्म परम्परा का,

अपराधों की अटूट श्रृंखला का,

जन्म मरण की दुखद यात्रा का,

वैभाविक अनादि अवस्था का,

विच्छेद हो...

पश्चात्ताप की अश्रुधारा से

तप की विशोधि ज्वाला से

प्रभु वीर की आगम शाला से

गुरुजनों की अनुभव माला से

आत्म निर्मलीकरण का अमूल्य अवसर

सभी को आत्मसात हो।

इसी आत्मनाद के साथ...

हार्दिक अनुमोदन

श्री कान्तिलालजी मुकीम, श्री निर्मलचन्दजी धांधिया, श्री कमलचंदजी धांधिया, श्री विमलचन्दजी महमवाल आदि

समस्त ट्रस्टीगण की अन्तरंग इच्छा को

साकार करते हुए

स्वाध्याय निमग्ना, परम विदुषी

साध्वी **श्री सौम्यगुणा श्रीजी म.सा.**

के अध्ययन प्रवास के चिरस्मरणार्थ

श्री जिनरंगसूरि पौशाल ट्रस्ट,

कौलकाता के ज्ञान खाते से प्रकाशित

श्रुत यात्रा का मुख्य पड़ाव
श्री जिन रंगसूरि पौशाल कोलकाता

किसी भी कार्य की सफलता एवं उसकी पूर्णाहुति में तद्योग्य वातावरण एवं स्थान की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यह सब अनुकूलताएँ कार्य को पूर्णता ही नहीं श्रेष्ठता भी प्रदान करती है। इसीलिए साधकों को साधना योग्य श्रेत्र का परीक्षण अवश्य करना चाहिए ऐसा शास्त्रकारों का मन्तव्य है। क्षेत्र की योग्यता कार्य को शीघ्र परिणामी बनाती है। इससे मन और तन की स्फूर्ति बनी रहती है तथा कार्य करने में आनंद की अनुभूति होती है।

कोलकाता की भीड़-भरी जिंदगी में एक शांत एवं अध्ययन योग्य स्थान मिलना अत्यंत दुर्लभ है। यदि ऐसा स्थल मिल जाए तो उसे स्वर्ग भूमि से कम नहीं आंका जा सकता। कोलकाता बड़ा बाजार में एक ऐसा ही स्वर्गोपम स्थान है आडी बांसतल्ला स्थित श्री जिनरंगसूरि पौशाल। यह पौशाल बड़े बाजार जैसे मार्केट एरिया में होने के बावजूद भी वहाँ पहाड़ों की शांति का अनुभव होता है। यहाँ पर एक शुद्ध प्राकृतिक माहौल की अनुभूति होती है। यह साधु-साध्वियों के रहने के लिए एक अत्यंत अनुकूल, मनोरम एवं साधना योग्य स्थान है।

श्री जिनरंगसूरि पौशाल की स्थापना विक्रम संवत 1972-73 में यतिप्रवर श्री जिनरत्नसूरिजी के सदुपदेश से हुई। पूज्यश्री के चातुर्मास के दौरान उचित स्थान की कमी महसूस होने लगी। उसी के परिणाम स्वरूप जौहरी साथ के श्रावक वर्ग द्वारा योग्य स्थान लिया गया। निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ। दीर्घ दृष्टि से विचार करते हुए नीचे के तल्ले में गादी एवं ऊपरी मंजिल में उपाश्रय बनाने का निर्णय लिया ताकि लोगों का आना-जाना निरंतर चलता रहे और Maintainence भी होता रहे। निर्माण कार्य प्रारंभ होने के पश्चात कुछ सामाजिक कारणों से 17 वर्ष तक पुन: बंद हो गया। तदनन्तर साध्वीवर्य्याओं की प्रेरणा से निर्माण कार्य को पुन: गति प्राप्त हुई तथा चार मंजिला भव्य हवादार उपाश्रय निर्मित किया गया।

वर्तमान में इस पौशाल के नीचे की दो मंजिल व्यवसायिक कार्यों हेतु एवं ऊपर की दो मंजिल उपाश्रय के रूप में प्रयुक्त की जाती है। उपाश्रय रूप में उपयोगी हाल का निर्माण इतनी सूझ-बूझ से किया गया है कि वहाँ गर्मी हो या सर्दी पर

कोई असुविधा नहीं। Cross ventilation होने से स्थान हवादार है। धूप आदि बराबर आती है। तीसरा-चौथा तल्ला होने से बाहरी हलचल का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। साध्वाचार में स्वच्छंदता को कोई स्थान नहीं है परन्तु एकाकी साधना या एकांत का महत्त्व भी कम नहीं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर यहाँ हॉल का निर्माण इस तरह किया गया है कि सभी एक दूसरे के सामने रहते हुए भी अपने आप में अलग रह सकें। इसका अनुभव वहाँ रहकर ही किया जा सकता है।

कोलकाता में आने वाले प्राय: साधु-साध्वियों के चातुर्मास कई वर्षों से आज भी यहीं पर होते हैं अत: कई साधकों के ऊर्जा परमाणु यहाँ पर बसे हुए हैं। आज भी अध्ययन-साधना आदि की अपेक्षा साधु-साध्वी इस स्थान को विशेष महत्त्व देते हैं। यहाँ श्री पूज्यजी की गद्दी भी है तथा शनिवार, रविवार आदि के दिन ध्यान साधना भी होती है। इसी कारण आज भी वहाँ अत्यंत पवित्रता की अनुभूति होती है।

साध्वी सौम्यगुणाजी ने सत्रह वर्ष पूर्व इसी स्थान से पी-एच.डी. सम्बन्धी अध्ययन की रुप रेखा प्रारम्भ की थी। अभी दुबारा कोलकाता आने का मुख्य कारण भी यहाँ के ट्रस्टियों का आग्रह एवं अध्ययन पूर्ण करवाने का आश्वासन था। जिस तथ्य का यहाँ के पदाधिकारियों ने पूरा ध्यान भी रखा। उन्हें अध्ययन योग्य पूर्ण सुविधाएँ प्रदान की। इसी के साथ सामाजिक गतिविधियों से भी यथासंभव मुक्त रखने का प्रयास किया। आप ही लोगों की बदौलत सौम्याजी का कार्य पूर्णता के शिखर को स्पर्श कर पाया है।

सज्जनमणि ग्रंथमाला प्रकाशन जिनरंगसूरि पौशाल के समस्त भूतपूर्व एवं वर्तमान पदाधिकारियों की अनुमोदना करता है एवं इनका आभार अभिव्यक्त करता है कि उन्होंने श्रुत संवर्धन के क्षेत्र में इतना उत्साह दिखाया। सौम्यगुणाजी द्वारा लिखित शोध साहित्य के Composing तथा एक पुस्तक के प्रकाशन का लाभ लेकर अपने योगदान को चिरस्मृत बना दिया है।

''मंजिल सभी को दिखती है, सीढ़ियों पर किसी की नजर नहीं।
यदि सीढ़ियाँ न होती तो, राही कभी पाता मंजिल नहीं।''

इस शोध यात्रा के प्रथम एवं अंतिम सोपान के रूप में सहयोगी और साक्षी बनी श्री जिनरंगसूरि पौशाल एवं वहाँ के ट्रस्टीगण इसी तरह साधु-साध्वियों की संभालना करते रहें तथा अपने योगदान द्वारा जिन शासन की पताका को सर्वोच्च शिखर पर लहराएँ यही मंगल कामना करते हैं।

●

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति में चित्त विशुद्धि एवं अपराधों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त देने की परम्परा अति प्राचीन काल से रही है। भारतीय जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्पराओं में प्रायश्चित्त सम्बन्धी विधि-विधान के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक हिन्दू परम्परा का प्रश्न है वहाँ स्मृतियों में दण्ड या प्रायश्चित्त व्यवस्था का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त परवर्ती काल में कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये हैं जिनका उल्लेख प्रो. काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में किया है। जहाँ तक बौद्ध परम्परा का प्रश्न है उसमें विनयपिटक के अन्तर्गत भिक्षु-भिक्षुणी के आचार संबंधी प्रायश्चित्तों की चर्चा की गई है। जैन परम्परा के प्राचीन परवर्ती ग्रन्थों में भी श्रमण-श्रमणियों संबंधी प्रायश्चित्तों का ही विशेष उल्लेख मिलता है। प्रायश्चित्त सम्बन्धी इन ग्रन्थों में दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ मुख्य माने गए हैं किन्तु इनमें कहीं भी गृहस्थ वर्ग सम्बन्धी प्रायश्चित्त विधान का वर्णन नहीं है। गृहस्थ संबंधी प्रायश्चित्तों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परावर्ती आचार दिनकर में पाया जाता है। यद्यपि इसके पूर्व भी श्रावकों के प्रायश्चित्त ग्रहण सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ रहे होंगे किन्तु आज उनकी जानकारी उपलब्ध नहीं है।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, मणिकचंद्र दिगम्बर ग्रंथमाला पुष्प क्रमांक 18 में प्राच्यसंग्रह नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत छेद पिंड, छेद शास्त्र, प्रायश्चित्त चूलिका और अकलंक प्रायश्चित्त ऐसे चार ग्रन्थ हैं। इन सभी ग्रन्थों में मुनि के आचार सम्बन्धी प्रायश्चित्तों के साथ श्रावक सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का भी विवेचन किया है। प्रायश्चित्त सामान्यतया आत्म शोधन की एक प्रक्रिया है। इसमें दोषी स्वयं अपने दोषों का दर्शन करता है और यह दोष दर्शन ही आगे चलकर आत्म शोधन की प्रक्रिया बन जाता है।

जैन धर्म में प्रायश्चित्त दान की एक सापेक्ष व्यवस्था है। जैनाचार्यों की यह मान्यता है कि एक ही समान किए जाने वाले अपराध के लिए देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त दिए जा सकते हैं।

अर्हत परम्परा में दो प्रकार के मार्गों की व्यवस्था है– उत्सर्ग और अपवाद। प्रायश्चित्त व्यवस्था में तो यहाँ तक कहा गया है कि अपवादिक परिस्थिति में साधक अपवाद मार्ग का सेवन नहीं करता है तो भी वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसी कारण प्रायश्चित्त दाता को देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही प्रायश्चित्त देने का निर्देश है। आगम शास्त्रों में प्रायश्चित्त देने का अधिकार केवल गीतार्थ मुनियों को दिया है। गीतार्थ केवल शास्त्रों के ही ज्ञाता नहीं होते अपितु देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति का भी उन्हें ज्ञान होता है। तदनुसार निर्णय लेने की क्षमता भी रखते हैं। प्रारम्भिक ग्रन्थों में दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है। 1. आलोचना 2. प्रतिक्रमण 3. तदुभय (आलोचना + प्रतिक्रमण) 4. विवेक 5. व्युत्सर्ग 6. तप 7. छेद 8. मूल 9. अनवस्थाप्य 10 पारांचिक।

ध्यातव्य है कि प्राचीन काल में उक्त दस प्रकार के प्रायश्चित्तों की व्यवस्था थी किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल में कालान्तर प्रायश्चित्तों को हटा दिया गया और नौ प्रकार की प्रायश्चित्त परम्परा सामने रखी गई। किन दोषों का सेवन करने पर कौनसा प्रायश्चित्त देना चाहिए? इस सम्बन्ध में आगम साहित्य, आगमिक व्याख्या साहित्य एवं स्वतंत्र ग्रन्थों में भी विस्तृत चर्चा मिलती है। जैन पुराणों में भी प्रायश्चित्त सम्बन्धी व्यवस्थाएँ देखी जाती है। यह ज्ञातव्य है कि प्रायश्चित्त परम्परा के संदर्भ में जैन परम्परा की दिगम्बर आम्नाय में लोक प्रचलित प्रायश्चित्त को भी स्थान दिया। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में हमें इस प्रकार की कोई व्यवस्था देखने को नहीं मिलती है। यद्यपि आचार दिनकर में कुछ लौकिक प्रायश्चित्त का विधान अवश्य है।

श्वेताम्बर परम्परा में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका वर्ग के लिए हर संभावित दोष हेतु प्रायश्चित्त विधान है वहीं दिगम्बर ग्रन्थों में मुनिवर्ग को प्रधानता दी गई है। अत: कह सकते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में इस विषयक व्यापक कार्य किया गया है। दोनों परम्पराओं में तप दान सम्बन्धी विधि को लेकर साम्य-वैषम्य देखा जाता है।

वैदिक परम्परा में एवं जैन परम्परा में प्राप्त प्रायश्चित्त विधि मुख्यभूत सन्दर्भों में प्राय: तुल्य है केवल व्रत आदि में लगने वाले दोषों के सम्बन्ध में भिन्नता है। जैन परम्परा में जहाँ गृहस्थ एवं मुनि वर्ग दोनों को ही मुख्यता दी गई है वहीं वैदिक परम्परा में अधिकांश दोष गृहस्थ सम्बन्धी ही है।

बौद्ध परम्परा में दोनों वर्गों के लिए प्रायश्चित्त दान की परम्परा जैन परम्परा के समान ही देखी जाती है। साध्वी सौम्यगुणाजी ने जैन विधि-विधानों पर शोध कार्य करते हुए इनके रहस्यात्मक पक्षों को उजागर करने का जो प्रयत्न किया है वह अनुशंसनीय एवं अभिवंदनीय है। साध्वीजी के कठिन परिश्रम, आत्म मग्नता एवं सामाजिक निर्लेपता का ही परिणाम है कि आज यह शोध कार्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच पाया है।

जैन विधि-विधानों के क्षेत्र में यह रचना एक स्वर्णिम इतिहास रचते हुए ज्ञान पिपासु मुनिजन एवं शोधार्थियों को इस विषय में अध्ययन हेतु अनुप्रेरित करेगी।

साध्वीजी इसी प्रकार श्रुत सेवा में संलग्न रहें एवं जैन साहित्य के खजाने को अपने अमूल्य रत्नों से संवर्धित करें यही शुभाशंसा।

डॉ. सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

आशीर्वचन

भारतीय वांगमय ऋषि-महर्षियों द्वारा रचित लक्षाधिक ग्रन्थों से शोभायमान है। प्रत्येक ग्रन्थ अपने आप में अनेक नवीन विषय एवं नव्य उन्मेष लिए हुए हैं। हर ग्रन्थ अनेकशः प्राकृतिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक रहस्यों से परिपूर्ण है। इन शास्त्रीय विषयों में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है विधि-विधान। हमारे आचार-पक्ष को सुदृढ़ बनाने एवं उसे एक सम्यक दिशा देने का कार्य विधि-विधान ही करते हैं। विधि-विधान सांसारिक क्रिया-अनुष्ठानों को सम्पन्न करने का मार्ग दिग्दर्शित करते हैं।

जैन धर्म यद्यपि निवृत्तिमार्गी है जबकि विधि-विधान या क्रिया-अनुष्ठान प्रवृत्ति के सूचक हैं परंतु यथार्थतः जैन धर्म में विधि-विधानों का गुंफन निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने के लिए ही हुआ है। आगम युग से ही इस विषयक चर्चा अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा वर्तमान विधि-विधानों का पृष्ठाधार है। साध्वी सौम्यगुणाजी ने इस ग्रंथ के अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया है।

साध्वी सौम्याजी जैन संघ का जाज्वल्यमान सितारा है। उनकी ज्ञान आभा से मात्र जिनशासन ही नहीं अपितु समस्त आर्य परम्पराएँ शोभित हो रही हैं। सम्पूर्ण विश्व उनके द्वारा प्रकट किए गए ज्ञान दीप से प्रकाशित हो रहा है। इन्हें देखकर प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की सहज स्मृति आ जाती है। सौम्याजी उन्हीं के नक्शे कदम पर चलकर अनेक नए आयाम श्रुत संवर्धन हेतु प्रस्तुत कर रही है।

साध्वीजी ने विधि-विधानों पर बहुपक्षीय शोध करके उसके विविध आयामों को प्रस्तुत किया है। इस शोध कार्य को 23 पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने जैन विधि-विधानों के समग्र पक्षों को जन सामान्य के लिए सहज ज्ञातव्य बनाया है।

जिज्ञासु वर्ग इसके माध्यम से मन में उद्वेलित विविध शंकाओं

का समाधान कर पाएगा।

साध्वीजी इसी प्रकार श्रुत रत्नाकर के अमूल्य मौतियों की खोज कर ज्ञान राशि को समृद्ध करती रहे एवं अपने ज्ञानालोक से सकल संघ को रोशन करें यही शुभाशंसा...

आचार्य कैलास सागर सूरि
नाकोडा तीर्थ

विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान सम्बन्धी विषयों पर शोध-प्रबन्ध लिख कर डी.लिट् उपाधि प्राप्त करके एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सौम्याजी ने पूर्व में विधिमार्गप्रपा का हिन्दी अनुवाद करके एक गुरुत्तर कार्य संपादित किया था। उस क्षेत्र में हुए अपने विशिष्ट अनुभवों को आगे बढ़ाते हुए उसी विषय को अपने शोध कार्य हेतु स्वीकृत किया तथा दत्त-चित्त से पुरुषार्थ कर विधि-विषयक गहनता से परिपूर्ण ग्रन्थराज का जो आलेखन किया है, वह प्रशंसनीय है।

हर गच्छ की अपनी एक अनूठी विधि-प्रक्रिया है, जो मूलतः आगम, टीका और क्रमशः परम्परा से संचालित होती है। खरतरगच्छ के अपने विशिष्ट विधि विधान हैं... मर्यादाएँ हैं... क्रियाएँ हैं...। हर काल में जैनाचार्यों ने साध्वाचार की शुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने का भगीरथ प्रयास किया है। विधिमार्गप्रपा, आचार दिनकर, समाचारी शतक, प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत शतक, साधु विधि प्रकाश, जिनवल्लभसूरि समाचारी, जिनपतिसूरि समाचारी, षडावश्यक बालावबोध आदि अनेक ग्रन्थ उनके पुरुषार्थ को प्रकट कर रहे हैं।

साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान संबंधी बृहद् इतिहास की दिव्य झांकी के दर्शन कराते हुए गृहस्थ-श्रावक के सौलह संस्कार, व्रतग्रहण विधि, दीक्षा विधि, मुनि की दिनचर्या, आहार संहिता, योगोद्वहन विधि, पदारोहण विधि, आगम अध्ययन विधि, तप साधना विधि, प्रायश्चित्त विधि, पूजा विधि, प्रतिक्रमण विधि, प्रतिष्ठा विधि, मुद्रायोग आदि विभिन्न विषयों पर अपना चिंतन-विश्लेषण

प्रस्तुत कर इन सभी विधि विधानों की मौलिकता और सार्थकता को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उजागर करने का अनूठा प्रयास किया है।

विशेष रूप से मुद्रायोग की चिकित्सा के क्षेत्र में जैन, बौद्ध और हिन्दु परम्पराओं का विश्लेषण करके मुद्राओं की विशिष्टता को उजागर किया है।

निश्चित ही इनका यह अनूठा पुरुषार्थ अभिनंदनीय है। मैं कामना करता हूँ कि संशोधन-विश्लेषण के क्षेत्र में वे खूब आगे बढ़ें और अपने गच्छ एवं गुरु के नाम को रौशन करते हुए ऊँचाईयों के नये सोपानों का आरोहण करें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि विदुषी साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी ने डॉ. श्री सागरमलजी जैन के निर्देशन में 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' इस विषय पर 23 खण्डों में बृहदस्तरीय शोध कार्य (डी.लिट्) किया है। इस शोध प्रबन्ध में परंपरागत आचार आदि अनेक विषयों का प्रामाणिक परिचय देने का सुंदर प्रयास किया गया है।

जैन परम्परा में क्रिया-विधि आदि धार्मिक अनुष्ठान कर्म क्षय के हेतु से मोक्ष को लक्ष्य में रखकर किए जाते हैं।

साध्वीश्री ने योग मुद्राओं का मानसिक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से क्या लाभ होता है? इसका उल्लेख भी बहुत अच्छी तरह से किया है।

साध्वी सौम्यगुणाजी ने निःसंदेह चिंतन की गहराई में जाकर इस शोध प्रबन्ध की रचना की है, जो अभिनंदन के योग्य है।

मुझे आशा है कि विद्वद गण इस शोध प्रबन्ध का सुंदर लाभ उठायेंगे।

मेरी साध्वीजी के प्रति शुभकामना है कि श्रुत साधना में और अभिवृद्धि प्राप्त करें।

आचार्य पद्मसागर सूरि

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थ के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि
भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी
योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway)

है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए

जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों की नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म

पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों की परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए

भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेंगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर
1.2.13 भद्रावती

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु

तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।
साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।
शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री
भद्रावती तीर्थ

आत्मीय नाद

जैन दर्शन भाव प्रमुख दर्शन है। भावों के आधार पर जीव प्रगाढ़ कर्मों का बंधन करता है और अनंत गुणी निर्जरा भी। प्रायश्चित्त, कर्म निर्जरा का रामबाण उपाय है। आलोचना एवं प्रायश्चित्त के द्वारा विविध प्रकार के दुष्कर्मों से छुटकारा पाना संभव है। इस आराधना में स्वकृत अपराधों की निन्दा की जाती है और उन्हें स्वीकार कर बार-बार उस दुष्कृत्य के प्रति उत्पन्न ग्लान भाव एवं पश्चाताप के द्वारा कर्मों को हल्का किया जाता है। बारह प्रकार के मुख्य तपों में प्रायश्चित्त को आभ्यंतर तप माना है।

प्रायश्चित्त की महत्ता को दर्शाते हुए अनेक गीतार्थ आचार्यों द्वारा प्रायश्चित्त के सन्दर्भ में विभिन्न ग्रन्थ लिखे गये हैं और उन्हीं के आधार पर जाने-अनजाने हुए छोटे-बड़े दोषों की आलोचना की जाती है। जैनागमवर्ती निशीथसूत्र तो मात्र प्रायश्चित्त विधि पर ही आधारित है। यदि यह क्रिया लोक लज्जा, अपयश आदि के भय से न की जाए तो गाढ़ कर्मों का बंध होता है। प्रायश्चित्त गुरु के समक्ष ही ग्रहण किया जाता है परन्तु वर्तमान में लिखित रूप से प्रायश्चित्त लेने की प्रणाली भी देखी जाती है। परिस्थितिवश इस अपवाद मार्ग का सेवन किया जाए तो समझ में आता है परंतु यथासंभव गुरु के समक्ष ही दुष्कृत्यों का निवेदन करके प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

स्वाध्यायनिष्ठा साध्वी सौम्यगुणाजी ने इस कठिन विषय पर कार्य करके अपनी सूक्ष्मग्राही अतुल प्रज्ञा का परिचय दिया है। मूलत: आलोचना, प्रायश्चित्त आदि गीतार्थ मुनियों से ही ग्रहण करते हैं तथा उनके द्वारा भी परिस्थिति एवं तरतम भावों की सापेक्षता के आधार पर प्रायश्चित्त दिया जाता है। साध्वीजी ने गहन अध्ययन एवं विद्वद मुनि भगवन्तों के निर्देशानुसार इस विषय पर अपना कार्य प्रस्तुत किया है। इन्होंने श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित ग्रन्थों के अनुसार यह विधि जीत व्यवहार के आधार पर प्रस्तुत की है। मध्यम कोटि के साधकों में आत्म जागरूकता एवं पाप भीरूता उत्पन्न हो, इसी उद्देश्य से यह शोध कृति लोकार्पित की जा रही है। एक विनम्र अनुरोध है कि कोई भी स्वेच्छा से इस

पुस्तक के आधार पर प्रायश्चित्त ग्रहण न करे अन्यथा महादोष का भागी होगा, क्योंकि इसका अधिकार मात्र सद्गुरु को ही होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी ने जैन धर्म की प्रचलित परम्पराओं में प्रायश्चित्त सम्बन्धी विवरण तथा श्रमण एवं ब्राह्मण परम्परा में इसकी मूल्यवत्ता का तुलनात्मक अध्ययन कर इस शोध कार्य को और अधिक प्रामाणिक भी बनाया है। अतः जिज्ञासु वर्ग के लिए यह कृति अत्यन्त उपयोगी बनेगी।

मैं उनकी श्रमशीलता, ज्ञानपिपासा एवं गूढ़ान्वेषी प्रज्ञा की सहृदय अनुमोदना करते हुए उनके उत्तरोत्तर प्रगतिशीलता की मंगल कामना करती हूँ।

आर्य्या शशिप्रभा श्री

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा. एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदु:खकातरता आदि गुण तो आप में जन्मत: परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्तत: 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क,

अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्‌भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकश: वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो नि:सन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णत: सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति

आप सदैव सचेष्ट रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मनःस्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकशः जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

साध्वी सौम्याजी की शोध यात्रा के अविस्मरणीय पल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकशः बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने का यह एक स्वर्णिम अवसर था अत: सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं

होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम कुछ भी करने में असमर्थ थे अतः पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुनः कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुनः कलकत्ता नगरी में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अतः उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अतः सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्रायः अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़

और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुनः साधु जीवन के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अतः चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अतः उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अतः गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु

उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा। मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुन: गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7

महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था। साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अतः न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अतः एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अतः उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन

हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुनः कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अतः दो माह तक अध्ययन की गति पर पुनः ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि–

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अतः वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुनः कोलकाता की ओर

पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी। गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर–शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस

बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंतत: उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है।।

●

हार्दिक अनुशंसा

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रात:कालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्षे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

स्वकथ्य

इस वसुधा पर जीवन यापन करते हुए अथवा अध्यात्म साधना में जो भी दोष लगे हों, उन दोषों या अपराधों को गुरु के समक्ष शुद्ध भाव से प्रकट करना आलोचना है। वस्तुतः आलोचना स्व-निन्दा है। परनिंदा करना सरल है, किन्तु स्वयं के दोषों को देखकर अपनी निन्दा करना कठिन ही नहीं, कठिनतर है। जिसका मानस बालक के सदृश सरल होता है वही अपने दोषों को प्रकट कर सकता है। भगवती आदि आगमों में स्पष्ट निर्देश है कि कृत पापों की आलोचना जब तक नहीं की जाती तब तक हृदय में शल्य बना रहता है और जब तक शल्य है तब तक आत्म विशुद्धि के सोपान पर नहीं चढ़ा जा सकता। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है– किसी साधक के अन्तर्मन में आलोचना की भावना उत्पन्न हुई हो और उसने आलोचना के लिए प्रस्थान कर दिया हो कि मुझे गुरु के समक्ष जाकर अपने सभी दोषों की आलोचना कर लेनी है और इस भावना को जीवन्त रखते हुए किसी कारणवश उसका निधन हो जाये तो भी वह साधक आराधक कहलाता है, क्योंकि उसके अन्तर्मानस में पाप के प्रति पश्चात्ताप भरा हुआ था। आयुष्य पूर्ण हो जाने से वह आलोचना न भी कर सका हो, फिर भी उसके मन में पश्चात्ताप के भाव होने से वह आराधक की श्रेणि में गिना जाता है।

जो साधक यह विचार करता है कि यदि मैं अपने पापों को प्रकट कर दूंगा तो सबकी निगाह से गिर जाऊंगा, इस कारण से पापों की आलोचना करने में कतराता है और सोचता है कि यदि मैंने दोषों को स्वीकार कर लिया और प्रायश्चित्त ले लिया तो 'लोग मुझे दोषी मानेंगे'। 'मेरी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायेगी' ऐसा विचार करने वाला व्यक्ति आलोचना नहीं कर सकता है। जब साधक के मन में यह विचार आये कि 'मैं जब तक पापों को प्रकट नहीं करूंगा वे शल्य की तरह मुझे सदा सताते रहेंगे। अतः मुझे अपने दोषों को बताकर पापों से मुक्त होना चाहिए' तभी वह आलोचना कर सकता है।

आलोचना शल्योद्धरण के समान होनी चाहिए। साधक को अपराध रूपी शल्य निकालने में क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। निशीथ भाष्य (6310-11) के अनुसार अपराधी को दोष-विशोधन के लिए गुरु अभिमुख अश्व के समान प्रस्थान करना चाहिए। अतिचार रूपी शल्यों की उपेक्षा करने वाले आचार्य और शिष्य दोनों ही दु:खों को प्राप्त होते हैं। इसलिए आचार्य के लिए भी आलोचना अनिवार्य कही गई है। व्यवहार भाष्य (4296-98) के अनुसार जैसे-चिकित्सा पारंगत वैद्य भी अपनी व्याधि दूसरे वैद्य को बताता है और उसके द्वारा बताई गई चिकित्सा का प्रयोग करता है वैसे ही प्रायश्चित्त अधिकारी आचार्य को भी अन्य आचार्य के समीप अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिए। जो आचार्य छत्तीस गुणों से सम्पन्न हैं, आगम आदि पाँच व्यवहार प्रयोगों में कुशल हैं, उन्हें भी अन्य आचार्य के पास विशोधि करनी चाहिए।

आलोचना काल में किसी तरह का भावशल्य न रह जाये, इस सम्बन्ध में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। गीतार्थ या आलोचनार्ह गुरु के सामने किसी दोष का भावपूर्वक प्रकाशन नहीं करना भावशल्य कहलाता है। भावशल्य को दूर न करने से जन्म-जन्मान्तर तक कटु फल भुगतने पड़ते हैं। भाष्यकार संघदासगणि (1022) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो जीव शल्ययुक्त (आलोचना किये बिना ही) मृत्यु को प्राप्त करते हैं वे महागहन संसार रूपी अटवीं में अनंतकाल तक परिभ्रमण करते रहते हैं तथा उनके लिए धर्म प्राप्ति दुर्लभ बनती है। दृष्टान्त के आधार पर यदि व्रण चिकित्सज्ञ (फोड़ा-फुंसी की चिकित्सा) शरीर में हुए दुर्गन्ध युक्त फोड़े को बढ़ने दे और उसे दूर न करे तो वह फोड़ा मृत्यु का कारण होने से अनिष्टकारक होता है। उसी प्रकार भावशल्य को दूर नहीं करने पर वह अनन्त जन्म-मरण का निमित्तभूत होने से अनिष्टकारक ही है। गीतार्थ गुरु के सम्मुख स्वयं के दुष्कृत्यों को बतलाना यही शल्योद्धार है।

बृहत्कल्पभाष्य (3606) में कहा गया है कि जब तक आलोचना न हो तब तक कर्मबंध है। सैद्धान्तिक मतानुसार जिस मुनि का पात्र चुराया गया है वह जब तक उसकी आलोचना और प्रतिक्रमण नहीं कर लेता, तब तक उसके कर्मबंध होता रहता है।

स्पष्ट रूप में कहें तो गीतार्थ मतानुसार शल्य का उद्धरण आलोचना और

प्रायश्चित्त से ही शक्य है। इस लोक में प्रमादवश किए गए पापों की विशुद्धि का हेतु आलोचना एवं प्रायश्चित्त को ही माना गया है। सामान्यतया क्रोध, मान, माया एवं लोभ के आवेगों तथा शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श से प्रेरित आत्मा जानते या अजानते हुए पुण्य-पापमय आचरण करती हैं और उन कर्मों के परिणाम को भवान्तर में भोगकर ही क्षय करना पड़ता है, किन्तु कठोर तपस्या, चित्तशुद्धि या ऋजु परिणामों से की गई आलोचना एवं प्रायश्चित्त द्वारा अशुभ कर्मों का बिना भोगे भी क्षय किया जा सकता है। आगमों में कहा गया है कि पूर्व में किए गए दुष्चिन्तित एवं दुष्प्रतिकान्त पापकर्मों के फल का वेदन किये बिना मोक्ष नहीं होता है। मात्र तपश्चरण के द्वारा ही उनके फल (विपाक) के वेदन से छुटकारा मिल सकता है। अज्ञानतावश अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हुए या दूसरों के आदेशवश, भयवश या हास्यवश किये गये पापों का क्षय सद्गुरु के समक्ष उनकी आलोचना करके एवं प्रायश्चित्त-विधि का सम्यक आचरण करके ही हो सकता है।

इस प्रकार साधक जीवन में आलोचना एवं प्रायश्चित्त का अत्यधिक महत्त्व है। जैसे बिना विचार किये सामदोष युक्त तीव्र ज्वर में दी गई महान औषधि भी आरोग्य कारक नहीं होती, उसी प्रकार आलोचना के बिना प्रायश्चित्त स्वरूप एक पक्ष (पन्द्रह दिन) का उपवास आदि महान तप भी संवरयुक्त निर्जरा कारक नहीं होता तथा जैसे राजा मन्त्रियों से परामर्श करके भी उनके द्वारा दिये गये परामर्श को कार्यान्वित न करने पर विजयी नहीं होता, उसी प्रकार आलोचना करके भी विहित आचरण न करने वाला मोक्षार्थी दोषों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता यानी दोषों से परिमुक्त नहीं हो सकता। आशय है कि आत्मशुद्धि एवं भाव विशुद्धि के लिए आलोचना और प्रायश्चित्त दोनों का समाचरण आवश्यक है। केवल आलोचना करने से या मात्र प्रायश्चित्त स्वीकार करने से मन की मलिनताएँ दूर नहीं हो जाती– इन दोनों के समवेत आचरण से ही पाप निवृत्ति संभव है। पण्डित आशाधरजी कहते हैं कि जिसका चित्त सद्गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त में रमता है उसका अन्तर्मन जीवन रूपी निर्मल दर्पण में मुख के समान चमकता है।

यहाँ उल्लेख्य है कि प्रायश्चित्त दान के कुछ नियम होते हैं– साधकों ने

जान-बूझकर या अनजान में जिन भावों से पाप किये हों, वे उसी भाव से कपट रहित होकर बालक की भाँति आलोचना करें, तो ही उन्हें प्रायश्चित्त दिया जाता है और वही आत्मा शुद्ध होती है परन्तु लज्जा, अहंकार, भय आदि के कारण अमुक पापों को हृदय में छुपाकर रखें तो उसे केवलज्ञानी जानते हुए भी प्रायश्चित्त नहीं देते। छद्मस्थ गुरु भी दो-तीन बार आलोचना सुनते हैं और यदि उन्हें यह ज्ञात हो जाए कि यह अपराधी कुछ पापों को छिपा रहा है तो उसे प्रायश्चित्त न देकर कह देते हैं कि तुम अन्य आचार्य आदि के समीप आलोचना करो। किन्तु जिस आलोचक को ज्ञानावरणी आदि कर्मोदय के कारण पाप स्मृति में नहीं आ रहे हों उसे आलोचनार्ह भिन्न-भिन्न प्रकार से याद दिलवाते हैं पर पापगुप्तक जानबूझकर को याद नहीं कराते हैं।

जैन शास्त्रों में प्रायश्चित्त दान के विषय में यह भी निर्देश है कि कोई सामान्य ढंग से ऐसे कह दें कि मैंने अनेक पापकर्म किये हैं, सबका प्रायश्चित्त दे दीजिए तो इस प्रकार कहने वाले को भी प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता। परन्तु एक-एक पापों को याद करके कहे और विस्मृत पापों का सामान्य से प्रायश्चित्त मांगे, तो उसे प्रायश्चित्त दिया जाता है। ज्ञानी पुरुषों ने कहा है–

तं न दुक्कर जं पडिसेविज्जई।
तं दुक्कर न सम्मं आलोइज्जइत्ति।।

पाप करना दुष्कर नहीं है परन्तु सम्यक् प्रकार से आलोचना करना दुष्कर है। आलोचना सबके लिए अनिवार्य है। आलोचना के बिना शुद्धि नहीं होती। जो अनर्थ जहर, शस्त्र या तीर से नहीं होता उससे अनेक गुणा हानि कपट पूर्वक पाप छिपाने से हो जाती है। पाप गुप्त रखने से रुक्मिणी राजकुमारी के 100000 भव बढ़ गये। विष तो एक बार शरीर को ही नुकसान पहुँचाता है जबकि अपराध रूपी विष का उद्धरण नहीं करने पर आत्मा अनन्त बार जन्म मरण रूपी दुःख को प्राप्त करती है।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि प्रायश्चित्त की सम्यक विधि केवली भगवान के अतिरिक्त कोई नहीं जानता है। जिस प्रकार शीघ्रता से फाड़े जाने वाले कपड़े (तन्तु) के छेदन का काल जानना कठिन है उसी प्रकार मन में उत्पन्न होने वाले शुभ-अशुभ परिणामों को जानना भी कठिन है। मन के परिणामों की गति अत्यन्त

सूक्ष्म है। मन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म असंख्य परिणामों के अंतर को जानना अति कठिन है फिर विषय-कषायजन्य तथा मनोगत भावजन्य अपराधों का विश्लेषण कर उनके परिणामों को जानना तो और भी कठिन है, क्योंकि संख्यातीत भावों की गति विचित्र है। अत: केवलज्ञान के बिना चार ज्ञान के ज्ञाता के लिए भी इन संख्यातीत पाप प्रवृत्तियों की प्रायश्चित्त-विधि को जानना कठिन है। फिर भी इस विषम काल में श्रुत के अध्येता गीतार्थ द्वारा अथवा श्रुत के अध्ययन द्वारा प्रायश्चित्त-विधि को किंचित् रूप से जाना जा सकता है अत: प्रायश्चित्त ग्रहण करने से पूर्व गीतार्थ गुरु की गवेषणा अवश्य करनी चाहिए।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि लौकिक व्यवहार में दिया जाने वाला दण्ड और लोकोत्तर जगत में व्यवहृत प्रायश्चित्त(दण्ड) दोनों में अन्तर है। प्रायश्चित्त में अपराधी व्यक्ति अपनी इच्छा से दोषों को प्रकट कर उसे स्वीकार करता है और उससे मुक्त होने के लिए गुरु से प्रायश्चित्त देने की प्रार्थना करता है। गुरु भी उस दोष से छुटकारा पाने की विधि बताते हैं जबकि बाह्य जगत में अपराधी व्यक्ति अपनी गलतियों को विवशता से प्रकट कर दण्ड को पराधीनता से स्वीकारता है। उसके मन में दुष्कृत्य के प्रति किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती। इस तरह सामान्य अपराधी अपने अपराध को दोष से मुक्त होने के लिए नहीं, किन्तु दूसरों के भय से स्वीकार करता है। सरकारी दण्ड ऊपर से थोपा जाता है परन्तु प्रायश्चित्त अन्तर्मन से ग्रहण किया जाता है। आचार संहिता की भिन्नता के कारण राजनीति में मारने, पीटने, मृत्युदण्ड आदि देने का विधान है तो धर्मनीति में तपस्या आदि प्रायश्चित्त का प्रावधान है।

प्रायश्चित्त की महत्ता एवं रहस्यों को जन-जन तक पहुँचाने हेतु इस शोध कार्य को निम्न सात अध्यायों में वर्गीकृत किया गया है–

इस खण्ड के **पहले अध्याय** में प्रायश्चित्त के विभिन्न अर्थों का निरूपण करते हुए पूर्वाचार्यों के अनुसार प्रायश्चित्त का स्वरूप, परिभाषा एवं उसके समानार्थक शब्दों का उल्लेख किया गया है।

दूसरा अध्याय प्रायश्चित्त के प्रकारों एवं उपभेदों से सम्बन्धित है। इसमें मुख्य रूप से किस दोष के लिए कौनसा प्रायश्चित्त? प्रायश्चित्त कौन दे सकता है? कौन, किस प्रायश्चित्त का अधिकारी होता है? वर्तमान में कितने प्रायश्चित्त

प्रवर्त्तित हैं? प्रायश्चित्त दान के विविध प्रतीकाक्षर, प्रायश्चित्त देने योग्य उपवास आदि तपों के मानदंड की तालिका इस तरह के गूढ़ार्थ विषयों को स्पष्ट किया गया है।

तीसरे अध्याय में प्रायश्चित्त देने-लेने के प्रभावों का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है।

चौथा अध्याय आलोचना विधि के मौलिक बिन्दुओं को उजागर करता है। जैसे- आलोचना किन स्थितियों में की जाए? आलोचना किसके समक्ष करें? आलोचना की आवश्यकता क्यों? आलोचना में किन योग्यताओं का होना जरूरी? आलोचना किस क्रम से करें? आलोचना कब करें? आलोचना न करने के दुष्परिणाम आदि का शास्त्रोक्त वर्णन किया गया है।

पाँचवें अध्याय में आलोचना एवं प्रायश्चित्त के उद्भव-विकास की क्रमिक चर्चा की गई है।

छठवें अध्याय में पूर्वापर क्रम को ध्यान में रखते हुए जैन एवं इतर साहित्य में प्रतिपादित प्रायश्चित्त विधियाँ तथा उसका तुलनात्मक पक्ष दर्शाया गया है।

प्रायश्चित्त दान का मुख्य अधिकारी आचार्य या गीतार्थ मुनि को माना गया है। दूसरे, वर्तमान में जीत व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त दिया जाता है अतः इस अध्याय में श्वेताम्बर मान्य विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर के मतानुसार जीत व्यवहारबद्ध प्रायश्चित्त कहा गया है।

इसमें प्रायश्चित्त की क्रमबद्ध विवेचना की गई है जिससे जन साधारण भी सुगमता पूर्वक इस विषय का ज्ञान प्राप्त कर पापों से विरत हो सकें।

सातवें अध्याय में उपसंहार की दृष्टि से प्रायश्चित्त दान की विविध कोटियों का आगमानुसार निरूपण किया गया है।

इस तरह प्रस्तुत शोध कृति में प्रायश्चित्त आलोचना के कई विषयों को स्पष्ट करने का लघुतम प्रयास किया गया है। हालांकि प्रायश्चित्त दान का अधिकार आचार्य एवं गीतार्थ मुनिवरों को होता है तथा आलोचना भी तद्योग्य गुरु के समक्ष ही करनी चाहिए, किन्तु इस सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी तो सामान्य गृहस्थ रख सकता है जिससे वह दोषों से बचते हुए निर्दोष जीवन जी

सके इसी ध्येय से जीत व्यवहार बद्ध प्रायश्चित्त लिखा गया है। यदि उसमें अनधिकारयुक्त चेष्टा की हो अथवा भ्रान्ति पूर्वक जो भी त्रुटि हुई हो उसके लिए त्रियोग पूर्वक करबद्ध क्षमायाचना करती हूँ।

अंतत: यही कहना चाहूँगी कि जिस प्रकार बादल गर्जन से मोर, कमल पल्लवन से भंवरा, चन्द्र दर्शन से चकोर हर्षित होता है वैसे ही प्रायश्चित्त मार्ग का अनुसरण करके भव्य जीव आत्मानन्द को प्राप्त करते हैं। यह विधि अनुष्ठान, आराधक एवं आराध्य के बीच सेतु का कार्य करते हुए आत्म साधकों को परम विशुद्ध पद प्राप्त करने में सहायक बने, यही शुभाशंसा...

●

वन्दना की झंकार

जैन विधि-विधानों से सम्बन्धित एक बृहद्स्तरीय अन्वेषण आज पूर्णाहुति की प्रतीक्षित अरूणिम वेला पर है। जिनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संबल इस विराट् विषय के प्रतिपादन में आधार स्तंभ बना उन सभी उपकारी जनों की अभिवन्दना-अनुमोदना करने के लिए मन तरंगित हो रहा है। यद्यपि उन्हें पूर्णत: अभिव्यक्ति देना असंभव है फिर भी सामर्थ्य जुटाती हुई करबद्ध होकर सर्वप्रथम, जिनके दिव्य ज्ञान के आलोक ने भव्य जीवों के हृदयान्धकार को दूर किया, जिनकी पैंतीस गुणयुक्त वाणी ने जीव जगत का उद्धार किया, जिनके रोम-रोम से निर्झरित करूणा भाव ने समस्त जीवराशि को अभयदान दिया तथा मोक्ष मार्ग पर आरोहण करने हेतु सम्यक चारित्र का महादान दिया, ऐसे भवो भव उपकारी सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा के चरण सरोजों में अनन्त-अनन्त वंदना करती हूँ।

जिनके स्मरण मात्र से दु:साध्य कार्य सरल हो जाता है ऐसे साधना सहायक, सिद्धि प्रदायक श्री सिद्धचक्र को आत्मस्थ वंदन।

चिन्तामणि रत्न की भाँति हर चिन्तित स्वप्न को साकार करने वाले, कामधेनु की भाँति हर अभिलाषा को पूर्ण करने वाले एवं जिनकी वरद छाँह में जिनशासन देदीप्यमान हो रहा है ऐसे क्रान्ति और शान्ति के प्रतीक चारों दादा गुरूदेव तथा सकल श्रुतधर आचार्यों के चरणारविन्द में भावभीनी वन्दना।

प्रबल पुण्य के स्वामी, सरलहृदयी, शासन उद्धारक, खरतरगच्छाचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा. के पवित्र चरणों में श्रद्धा भरी वंदना। जिन्होंने सदा अपनी कृपावृष्टि एवं प्रेरणादृष्टि से इस शोध यात्रा को लक्ष्य तक पहुँचाने हेतु प्रोत्साहित किया।

जिनके प्रज्ञाशील व्यक्तित्व एवं सृजनशील कर्तृत्व ने जैन समाज में अभिनव चेतना का पल्लवन किया, जिनकी अन्तस् भावना ने मेरी अध्ययन रुचि को जीवन्त रखा ऐसे उपाध्याय भगवन्त पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के चरण नलिनों में कोटिश: वन्दन।

मैं हृदयावनत हूँ प्रभुत्वशील एवं स्नेहिल व्यक्तित्व के धनी, गुण गरिमा से मंडित प.पू. आचार्य पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. की, जिन्होंने कोबा लाइब्रेरी के माध्यम से दुष्प्राप्य ग्रन्थों को उपलब्ध करवाया तथा सहृदयता एवं उदारता के साथ मेरी शंकाओं का समाधान कर प्रगति पाथेय प्रदान किया। उन्हीं के निश्रावर्ती मनोज्ञ स्वभावी, गणिवर्य्य श्री प्रशांतसागरजी म.सा. की भी मैं ऋणी हूँ जिन्होंने निस्वार्थ भाव से सदा सहयोग करते हुए मुझे उत्साहित रखा।

मैं कृतज्ञ हूँ सरस्वती साधना पथ प्रदीप, प.पू. ज्येष्ठ भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने इस शोध कार्य की मूल्यवत्ता का आकलन करते हुए मेरी अंतश्चेतना को जागृत रखा।

मैं सदैव उपकृत रहूंगी प्रवचन प्रभावक, शास्त्र वेत्ता, सन्मार्ग प्रणेता प.पू. आचार्य श्री कीर्तियश सूरीश्वरजी म.सा एवं आगम मर्मज्ञ, संयमोत्कर्षी प.पू. रत्नयश विजयजी म.सा के प्रति, जिन्होंने नवीन ग्रन्थों की जानकारी देने के साथ-साथ शोध कार्य का प्रणयन करते हुए इसे विबुध जन ग्राह्य बनाकर पूर्णता प्रदान की।

मैं आस्था प्रणत हूँ जगवल्लभ प.पू. आचार्य श्री राजयश सूरीश्वरजी म.सा एवं वात्सल्य मूर्ति प.पू. बहन महाराज वाचंयमा श्रीजी म.सा के प्रति, जिन्होंने समय-समय पर अपने अनुभव ज्ञान द्वारा मेरी दुविधाओं का निवारण कर इस कार्य को भव्यता प्रदान की।

मैं नतमस्तक हूँ समन्वय साधक, भक्त सम्मोहक, साहित्य उद्धारक, अचल गच्छाधिपति प.पू. आचार्य श्री गुणरत्नसागर सूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में, जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करके मेरे कार्य को आगे बढ़ाया।

मैं आस्था प्रणत हूँ लाडनूं विश्व भारती के प्रेरणा पुरुष, अनेक ग्रन्थों के सृजनहार, कुशल अनुशास्ता, साहित्य मनीषी आचार्य श्री तुलसी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के चरणों में, जिनके सृजनात्मक कार्यों ने इस साफल्य में आधार भूमि प्रदान की।

इसी श्रृंखला में श्रद्धानत हूँ त्रिस्तुतिक गच्छाधिपति, पुण्यपुंज प.पू. आचार्य श्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने हर संभव स्व सामाचारी विषयक तथ्यों से अवगत करवाते हुए इस शोध को सुलभ बनाया।

मैं श्रद्धावनत हूँ विश्व प्रसिद्ध, प्रवचन प्रभावक, क्रान्तिकारी सन्त प्रवर श्री तरुणसागरजी म.सा के प्रति, जिन्होंने यथोचित सुझाव देकर रहस्य अन्वेषण में सहायता प्रदान की।

मैं आभारी हूँ मृदुल स्वभावी प.पू. पीयूषसागरजी म.सा. एवं गूढ़ स्वाध्यायी प. पू. सम्यक्रत्नसागरजी म.सा. की जिन्होंने सदैव मेरा उत्साह वर्धन किया।

उपकार स्मरण की इस कड़ी में अन्तर्हृदय से उपकृत हूँ महत्तरा पद विभूषिता पू. विनीता श्रीजी म.सा., प्रवर्त्तिनी प्रवरा पू. चन्द्रप्रभा श्रीजी म.सा., सरलमना पू. चन्द्रकला श्रीजी म.सा., मरूधर ज्योति पू. मणिप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह गंगोत्री पू. हेमप्रभा श्रीजी म.सा. एवं अन्य सभी समादृत साध्वी मंडल के प्रति, जिनके अन्तर मन की मंगल कामनाओं ने मेरे मार्ग को निष्कंटक बनाया तथा आत्मीयता प्रदान कर सम्यक् ज्ञान के अर्जन को प्रवर्द्धमान रखा।

जिनकी मृदुता, दृढ़ता, गंभीरता, क्रियानिष्ठता एवं अनुभव प्रौढ़ता ने सुज्ञजनों को सन्मार्ग प्रदान किया, जिनका निश्छल व्यवहार **'जहा अंतो तहा बहिं'** का जीवन्त उदाहरण था, जो पंचम आरे में चौथे आरे की साक्षात प्रतिमूर्ति थी, ऐसी श्रद्धालोक की देवता, वात्सल्य वारिधि, प्रवर्त्तिनी महोदया, गुरूवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा के पावन पद्मों में सर्वात्मना वंदन करती हूँ।

मैं उऋण भावों से कृतज्ञ हूँ जप एवं ध्यान की निर्मल ज्योति से प्रकाशमान तथा चारित्र एवं तप की साधना से दीप्तिमान सज्जनमणि प.पू. गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा के प्रति, जिन्होंने मुझ जैसे अनघड़ पत्थर को साकार रूप प्रदान किया।

मैं अन्तर्हृदय से आभारी हूँ मेरे शोध कार्य की प्रारंभकर्त्ता, अनन्य गुरू समर्पिता, ज्येष्ठ गुरू भगिनी पू. प्रियदर्शना श्रीजी म.सा. तथा सेवाभावी पू. दिव्य दर्शना श्रीजी म.सा., स्वनिमग्ना पू. तत्त्वदर्शना श्रीजी म.सा., दृढ़ मनोबली पू. सम्यग्दर्शना श्रीजी म.सा., स्मित वदना पू. शुभदर्शना श्रीजी म.सा., मितभाषी पू. मुदितप्रज्ञा श्रीजी म.सा., समन्वय स्वभावी पू. शीलगुणाजी मृदु भाषिणी साध्वी कनकप्रभाजी, कोमल हृदयी श्रुतदर्शनाजी, प्रसन्न स्वभावी साध्वी संयमप्रज्ञाजी आदि समस्त गुरु भगिनि मण्डल की, जिन्होंने सामाजिक दायित्त्वों से निवृत्त रखते हुए सद्भावों की सुगन्ध से मेरे मन को तरोताजा रखा।

मेरी शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर पहुँचाने में अनन्य सहयोगिनी, सहज स्वभावी **स्थितप्रज्ञा जी** एवं विनम्रशीला **संवेगप्रज्ञा जी** तथा इसी के साथ अल्प भाषिणी **सुश्री मोनिका बैराठी** एवं शान्त स्वभावी **सुश्री सीमा छाजेड़** को साधुवाद देती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की तहेदिल से कामना करती हूँ।

मैं अन्तस्थ भावों से उपकृत हूँ श्रुत समाज के गौरव पुरुष, ज्ञान पिपासुओं के लिए सद्ज्ञान प्रपा के समान, आदरणीय डॉ. सागरमलजी के प्रति, जिनका सफल निर्देशन इस शोध कार्य का मूलाधार है।

इस बृहद् शोध के कार्य काल में हर तरह की सेवाओं के लिए तत्पर, उदारहृदयी श्रीमती मंजुजी सुनीलजी बोथरा (रायपुर) के भक्तिभाव की अनुशंसा करती हूँ।

जिन्होंने दूरस्थ रहकर भी इस ज्ञान यज्ञ को निर्बाध रूप से प्रवाहमान बनाए रखने में यथोचित सेवाएँ प्रदान की, ऐसी श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख (जगदलपुर) भी साधुवाद के पात्र हैं।

सेवा स्मरण की इस श्रृंखला में मैं ऋणी हूँ कोलकाता निवासी, अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी शकुंतलाजी मुणोत की, जिन्होंने ढ़ाई साल के कोलकाता प्रवास में भ्रातातुल्य स्नेह एवं सहयोग प्रदान करते हुए अपनी सेवाएँ अनवरत प्रदान की। श्री खेमचंदजी किरणजी बांठिया की अविस्मरणीय सेवाएँ भी इस शोध यात्रा की पूर्णता में अनन्य सहयोगी बनी।

सहयोग की इस श्रृंखला में मैं आभारी हूँ, टाटा निवासी श्री जिनेन्द्रजी नीलमजी बैद की, जिनके अथक प्रयासों से मुद्राओं का रेखांकन संभव हो पाया।

अनुमोदना की इस कड़ी में कोलकाता निवासी श्री कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दूसाज, कमलचंदजी धांधिया, विमलचन्दजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा, अजयजी बोथरा, महेन्द्रजी नाहटा, पन्नालाल दूगड़, निर्मलजी कोचर आदि की सेवाओं को विस्मृत नहीं कर सकती हूँ।

बनारस निवासी श्री अश्विनभाई शाह, ललितजी भंसाली, कीर्ति भाई ध्रुव दिव्येशजी शाह, राहुलजी गांधी आदि भी साधुवाद के अधिकारी हैं जिन्होंने अपनी आत्मियता एवं नि:स्वार्थ सेवाएँ बनारस प्रवास के बाद भी बनाए रखी।

इसी कड़ी में बनारस सेन्ट्रल लाइब्रेरी के मुख्य लाइब्रेरियन श्री संजयजी सर्राफ एवं श्री विवेकानन्दजी जैन की भी मैं अत्यंत आभारी हूँ कि उन्होंने पुस्तकें उपलब्ध करवाने में अपना अनन्य सहयोग दिया।

इसी श्रृंखला में श्री कोलकाता संघ, मुंबई संघ, जयपुर संघ, मालेगाँव संघ, अहमदाबाद संघ, बनारस संघ, शाजापुर संघ, टाटा संघ के पदाधिकारियों एवं धर्म समर्पित सदस्यों ने स्थानीय सेवाएँ प्रदान कर इस शोध यात्रा को सरल एवं सुगम बनाया अत: उन सभी को साधुवाद देती हूँ।

इस शोध कार्य को प्रामाणिक बनाने में कोबा लाइब्रेरी (अहमदाबाद) एवं वहाँ के सदस्यगण मनोज भाई, केतन भाई, अरूणजी आदि, एल. डी. इन्स्टीट्यूट (अहमदाबाद), प्राच्य विद्यापीठ (शाजापुर), पार्श्वनाथ शोध संस्थान (वाराणसी) एवं लाइब्रेरियन ओमप्रकाश सिंह तथा संस्थान अधिकारियों ने यथेच्छित पुस्तकों के आदान-प्रदान में जो सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनकी सदैव आभारी रहूंगी।

प्रस्तुत कार्य को जन समुदाय के लिए उपयोगी बनाने में जिनकी पुण्यराशि संबल बनी है उन समस्त श्रुतप्रेमी लाभार्थी परिवार की उन्मुक्त कण्ठ से अनुमोदना करती हूँ।

इन शोध कृतियों को कम्प्यूटराईज्ड, संशोधन एवं सेटिंग करने में अनन्य सहयोगी विमलचन्द्र मिश्रा (वाराणसी) का अत्यन्त आभार मानती हूँ। आपके विनम्र, सुशील एवं सज्जन स्वभाव ने मुझे अनेक बार के प्रूफ संशोधन की चिन्ताओं से सदैव मुक्त रखा। स्वयं के कारोबार को संभालते हुए आपने इस बृहद् कार्य को जिस निष्ठा के साथ पूर्ण किया है यह सामान्य व्यक्ति के लिए नामुमकिन है।

इसी श्रृंखला में शांत स्वभावी श्री रंजनजी, रोहितजी कोठारी (कोलकाता) भी धन्यवाद के पात्र हैं। सम्पूर्ण पुस्तकों के प्रकाशन एवं कॅवर डिजाइनिंग में अप्रमत्त होकर अंतरमन से सहयोग दिया। शोध प्रबंध की सम्पूर्ण कॉपी बनाने का लाभ लेकर आप श्रुत संवर्धन में भी परम हेतुभूत बने हैं।

23 खण्डों को आकर्षक एवं चित्तरंजक कॅवर से नयनरम्य बनाने के लिए कॅवर डिजाईनर शंभु भट्टाचार्य की भी मैं तहेदिल से आभारी हूँ।

इसे संयोग कहूँ या विधि की विचित्रता? मेरी प्रथम शोध यात्रा की संकल्पना लगभग 17 वर्ष पूर्व जहाँ से प्रारम्भ हुई वहीं पर उसकी चरम पूर्णाहुति भी हो रही है। श्री जिनरंगसूरि पौशाल (कोलकाता) अध्ययन योग्य सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यहाँ के शान्त-प्रशान्त परमाणु मनोयोग को अध्ययन के प्रति जोड़ने

में अत्यन्त सहायक बने हैं। इसी के साथ मैं साधुवाद देती हूँ श्रीजिनरंगसूरि पौशाल, कोलकाता के ट्रस्टी श्री कमलचंदजी धांधिया, कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, मणिलालजी दूसाज आदि समस्त भूतपूर्व एवं वर्तमान ट्रस्टियों को, जिन्होंने अध्ययन एवं स्थान की महत्त्वपूर्ण सुविधा के साथ कम्पोजिंग में भी पूर्ण रूप से अर्थ सहयोग दिया। इन्हीं की पितृवत छत्र-छाया में यह शोध कार्य शिखर तक पहुँच पाया है। इस अवधि के दौरान ग्रन्थ आदि की आवश्यक सुविधाओं हेतु शाजापुर, बनारस आदि शोध संस्थानों में प्रवास रहा। उन दिनों से ही जौहरी संघ के पदाधिकारी गण कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दूसाज, विमलचन्दजी महमवाल आदि बार-बार निवेदन करते रहे कि आप पूर्वी क्षेत्र की तरफ एक बार फिर से पधारिए। हम आपके अध्ययन की पूर्ण व्यवस्था करेंगे। उन्हीं की सद्भावनाओं के फलस्वरूप शायद इस कार्य का अंतिम प्रणयन यहाँ हो रहा है। इसी के साथ शोध प्रतियों के मुद्रण कार्य में भी श्री जिनरंगसूरि पौशाल ट्रस्टियों का हार्दिक सहयोग रहा है।

अन्ततः यही कहूँगी–

प्रभु वीर वाणी उद्यान की, सौरभ से महकी जो कृति।
जड़ वक्र बुद्धि से जो मैंने, की हो इसकी विकृति।
अविनय, अवज्ञा, आशातना, यदि हुई हो श्रुत की वंचना।
मिच्छामि दुक्कडम् देती हूँ, स्वीकार हो मुझ प्रार्थना।।

●

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी–

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरु बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पक्षों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्वक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : प्रायश्चित्त का अर्थ एवं स्वरूप विमर्श 1-8

1. प्रायश्चित्त शब्द के विभिन्न अर्थ 2. प्रायश्चित्त का स्वरूप एवं शास्त्र निर्दिष्ट परिभाषाएँ 3. प्रायश्चित्त के एकार्थवाची।

अध्याय-2 : जैन वाङ्मय में प्रायश्चित्त के प्रकार एवं उपभेद 9-46

1. प्रायश्चित्त की विविध कोटियाँ • आलोचना योग्य दोष • प्रतिक्रमण योग्य दोष • तदुभय (आलोचना-प्रतिक्रमण) योग्य दोष • विवेक प्रायश्चित्त योग्य दोष • व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) प्रायश्चित्त योग्य दोष • किस दोष में कितने उच्छ्वास परिमाण कायोत्सर्ग करें? • तप प्रायश्चित्त योग्य दोष • लघुमासिक के योग्य अपराध • गुरुमासिक के योग्य अपराध • लघु चातुर्मासिक के योग्य अपराध • गुरुचातुर्मासिक के योग्य अपराध • छेद प्रायश्चित योग्य दोष • मूल प्रायश्चित्त योग्य दोष • अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य दोष • पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष।

2. प्रायश्चित्त दान के अधिकारी • कौन, किस प्रायश्चित्त का अधिकारी?

3. प्रायश्चित्त देने का अधिकार मन:पर्यवज्ञानी एवं आचार्य आदि को ही क्यों? 4. वर्तमान में कितने प्रायश्चित्त प्रवर्त्तित हैं?

5. प्रायश्चित्त के प्रकारान्तर • प्रतिसेवना प्रायश्चित्त • संयोजना प्रायश्चित्त • आरोपणा प्रायश्चित्त • प्रतिकुंचना प्रायश्चित्त।

6. प्रायश्चित्त देने योग्य उपवास आदि तपों के अन्य मानदंडों की तालिका

7. प्रायश्चित्त दान के विभिन्न प्रकार एवं उसके विविध प्रतीकाक्षर • निशीथसूत्र के उपलब्ध संस्करण के अनुसार प्रायश्चित्त दान-यंत्र • बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार प्रायश्चित्त दान-यंत्र • निशीथभाष्य चूर्णि में प्रायश्चित्त दान के कुछ प्रतीकाक्षर।

अध्याय-3 : प्रायश्चित्त दान की उपयोगिता एवं उसके प्रभाव 47-61

1. शास्त्रकारों के मत में प्रायश्चित्त के लाभ 2. प्रायश्चित्त आवश्यक क्यों? 3. प्रायश्चित्त विधियों के गवेषणात्मक रहस्य • आलोचना गुरुमुख से ही क्यों करें? • आलोचना विधिपूर्वक क्यों ली जाए? • आलोचना एकान्त में क्यों लेनी चाहिए? • वर्तमान में आलोचना के प्रति उपेक्षा क्यों? 4. प्रायश्चित्त दान से संबंधित कुछ शास्त्रीय नियम।

अध्याय-4 : आलोचना क्या, क्यों और कब? 62-102

1. जैन आगमों में आलोचना का अर्थ एवं स्वरूप विमर्श 2. आलोचना के एकार्थक शब्द 3. आलोचना के मुख्य भेद 4. आलोचना किन स्थितियों में? 5. आलोचना किसके समक्ष करें? 6. आलोचना के प्रारम्भिक कृत्य 7. साधु-साध्वी की पारस्परिक आलोचना विधि 8. आलोचना करने की आवश्यकता क्यों? 9. आलोचना करने से पूर्व मानसिक भूमिका कैसी हो? 10. आलोचना की सामान्य विधि • आलोचक में अपेक्षित गुण • आलोचना सुनने अथवा प्रायश्चित्त देने योग्य गुरु कैसे हों? • आलोचना किस क्रम से करें? • आलोचना का भाव प्रकाशन किस प्रकार हो? • आलोचना योग्य प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव 11. आलोचना की प्रायोगिक विधि 12. आलोचना न करने के दुष्परिणाम 13. आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट आलोचना का समय 14. विधिपूर्वक सम्यक आलोचना के सुपरिणाम 15. आलोचना के दोष 16. आलोचना के पश्चात प्रायश्चित्त वहन कैसे करें? 17. आलोचना करने के फायदे और न करने के नुकसान।

अध्याय-5 : आलोचना एवं प्रायश्चित्त विधि का ऐतिहासिक अनुशीलन 103-106

अध्याय-6 : जैन एवं इतर साहित्य में प्रतिपादित प्रायश्चित्त विधियाँ एवं तुलनात्मक अध्ययन 107-253

1. विधिमार्गप्रपा के अनुसार प्रायश्चित्त विधि-

(i) गृहस्थ (देशविरति श्रावक) सम्बन्धी प्रायश्चित्त • सम्यक्त्वव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • अहिंसा अणुव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • सत्याणुव्रत-अस्तेयाणुव्रत-परिग्रहपरिमाणव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • मैथुनविरमणव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • दिशापरिमाण-भोगोपभोगपरिमाण-अनर्थदण्डविरमणव्रत (तीन गुणव्रत) सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • सामायिक-देशावगासिक-पौषध-अतिथिसंविभागव्रत (चार शिक्षाव्रत) सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

(ii) श्रमण (सर्वविरति मुनि) सम्बन्धी प्रायश्चित्त • ज्ञानाचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • दर्शनाचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • चारित्राचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • मूलगुण एवं पाँच महाव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त।

• *उत्तरगुण (आहार चर्या) सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त* • *आहार सम्बन्धी* 47 दोषों की सामान्य प्रायश्चित्त विधि • आहार सम्बन्धी 47 दोषों की विस्तृत प्रायश्चित्त विधि • चारित्राचार सम्बन्धी अन्य दोषों के प्रायश्चित्त • तपाचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • वीर्याचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • वसति सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • स्थण्डिल सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • वंदन सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त • प्रव्रज्या सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त।

2. आचारदिनकर के अनुसार प्रायश्चित्त विधि

(i) गृहस्थ (देशविरति श्रावक) सम्बन्धी प्रायश्चित्त विधि • सम्यक्त्वव्रत सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त • पाँच अणुव्रत सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त • तीन गुणव्रत सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त • चार शिक्षाव्रत सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त • ज्ञानाचार से संबंधित दोषों के प्रायश्चित्त • दर्शनाचार से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त • चारित्राचार से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त • तपाचार से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त • वीर्याचार से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त

(ii) श्रमण (सर्वविरतिधर मुनि) धर्म से सम्बन्धित प्रायश्चित्त • ज्ञानाचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त • दर्शनाचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त • चारित्राचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त • चारित्राचार सम्बन्धी अन्य दोष • तपाचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त • योगोद्वहन-तप सम्बन्धी दोषों

के प्रायश्चित्त • वीर्याचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त • किंच सामान्य दोष।

3. द्रव्य दोषों की प्रायश्चित्त विधि

(i) स्नान योग्य प्रायश्चित्त (ii) करने योग्य प्रायश्चित्त (iii) तप योग्य प्रायश्चित्त (iv) दान योग्य प्रायश्चित्त (v) विशोधन योग्य प्रायश्चित्त।

4. दिगम्बर ग्रन्थों में उल्लिखित प्रायश्चित्त दान

(i) गृहस्थ सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त (ii) मुनि सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त (iii) आर्यिका सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त।

5. वैदिक ग्रन्थों में निरूपित प्रायश्चित्त विधान 6. बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित प्रायश्चित्त विधान 7. तुलनात्मक अध्ययन।

अध्याय-7 : उपसंहार **254-265**

1. दोष स्वीकृति के आधार पर प्रायश्चित्त 2. स्वीकृत व्रतों के आधार पर प्रायश्चित्त 3. राग-द्वेष की तरतमता के आधार पर प्रायश्चित्त 4. ज्येष्ठ आदि पर्याय के आधार पर प्रायश्चित्त 5. दुर्बलता आदि के आधार पर प्रायश्चित्त 6. पुरुष भेद के आधार पर प्रायश्चित्त 7. सापेक्ष-निरपेक्ष दृष्टि के आधार पर प्रायश्चित्त 8. अपवाद मार्ग के आधार पर प्रायश्चित्त।

सहायक ग्रन्थ सूची **266-270**

●

अध्याय-1

प्रायश्चित्त का अर्थ एवं स्वरूप विमर्श

जैन धर्म में आचार-शुद्धि पर सर्वाधिक बल दिया गया है। जैनाचार्यों ने आचार पालन के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण करते हुए कहा है कि स्वप्न में भी यदि हिंसा या असत्य भाषण हो जाए तो उसे गुरु के समक्ष निवेदन कर उनके द्वारा दिए गए दण्ड (प्रायश्चित्त) को मनोयोग पूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए।

सामान्यत: गृहस्थ साधक द्वारा यथायोग्य व्रतों एवं नियमों का पालन करते हुए तथा मुनि द्वारा संयम साधना करते हुए परिस्थिति या प्रमादवश अर्हत प्ररूपित धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन अथवा अकरणीय कार्यों का सेवन हो जाता है तब संसार भीरु आत्माओं को अनाचरणीय कृत्यों की अप्रमत्त भाव से शीघ्र ही आलोचना कर लेनी चाहिए। यह आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन का आवश्यक अंग है।

जिस प्रकार नदी-नालों में प्रवाहित नीर कई स्थानों के कूड़े-कचरे, मिट्टी आदि के मिश्रण से मलिन हो जाता है तब फिल्टर आदि यंत्रों के प्रयोग से उसे स्वच्छ-निर्मल कर दिया जाता है उसी प्रकार अनादिकाल से परिभ्रमण कर रही यह आत्मा मोह-मिथ्यात्व-विषय-कषाय आदि से युक्त राग-द्वेषात्मक परिणतियों से दूषित है, आत्मार्थी साधक आलोचना एवं प्रायश्चित्त रूपी रसायन के द्वारा उसे निर्मल एवं मोक्षपथ पर आरूढ़ कर सकता है।

भगवान महावीर के शासनवर्ती गृहस्थ एवं मुनि साधकों को सामान्य पापों की आलोचना प्रतिदिन करनी चाहिए, क्योंकि काल दोष के प्रभाव से जाने-अनजाने दुष्कर्मों का आसेवन हो जाता है। जिस प्रकार रोगी औषधि के साथ पथ्य का परिपालन करता है तभी आरोग्य पाता है उसी प्रकार सद्गति इच्छुकों को आवश्यक धर्म आराधनाएँ जैसे संयम, शील, व्रत, तप, जप आदि अनुष्ठान रूपी औषधि का आस्वादन करते हुए प्रायश्चित्त रूपी पथ्य का भी

विधिवत अनुसरण करना चाहिए, तभी संसारी चेतना जन्म-जरा-मरणरूपी व्याधि से छुटकारा पाकर चिरस्थायी स्वास्थ्य लाभ की उपभोक्ता बन सकती है।

प्रायश्चित्त शब्द के विभिन्न अर्थ

प्रायश्चित्त, श्रमण संस्कृति का आधारभूत शब्द है। जैन, वैदिक एवं बौद्ध- इन तीनों परम्पराओं में इसका प्रयोग दण्ड देने के रूप में किया जाता रहा है। अध्यात्म मार्ग में लगने वाले दोषों से परिमुक्त होने के लिए जो दण्ड दिया जाता है उसे आगमिक शैली में प्रायश्चित्त कहा गया है।

'प्रायश्चित्त' दो शब्दों के योग से बना है प्राय: + छित्। जैनागमों एवं टीकाओं में इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं।

• धर्मसंग्रह में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है- **"प्राय: पापं विनिर्दिष्ट, चित्तं तस्य विशोधनम्।"** प्राय: का अर्थ है पाप और 'चित्त' का अर्थ है विशोधन करना अर्थात पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है।[1]

प्राकृत कोश में 'प्रायश्चित्त' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है-

पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं ति भण्णई तेण।
पाएण वा वि चित्तं, सोहयति तेण पच्छित्तं।।

जिसके द्वारा पाप का छेदन होता है उसे 'प्रायश्चित्त' कहते हैं।[2] प्राकृत भाषा के 'पायच्छित' शब्द का संस्कृत में 'पापच्छित' रूप भी बनता है।

• अभिधानराजेन्द्रकोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है- **"पापं छिनत्तीति पापच्छित्"** अर्थात जो पाप का छेद करता है वह 'पापच्छित्' कहलाता है।[3]

• उपर्युक्त गाथा की व्याख्या करते हुए प्रायश्चित्त की निम्न परिभाषा भी दी गयी है- **"पापमशुभं छिनत्ति कृन्तति, यस्माद्हेतो: पापच्छिदिति वक्तव्ये प्राकृतत्वेन 'प्रायच्छित्तमि' ति भण्यते निगद्यते तेन तस्माद्हेतो: प्रायेण बाहुल्येन। वाऽपीत्यथवा, चित्तं मन/शोधयति निर्मलयति तेन हेतुना प्रायश्चितमित्युच्यते। इति गाथार्थ:। "प्रायशो वा चित्तं जीवं शोधयति कर्म मलिनं विमली करोति तेन कारणेन प्रायच्छित्तमित्युच्यते। चित्तं स्वेन स्वरूपेण अस्मिन् सतीति प्रायश्चित्तं, प्रायो ग्रहणं संवरादेरपि तथाविधचित्तसद्भावादिति गाथार्थ:।"** -जो जीव या चित्त को शुद्ध करता है

और कर्म-मल को दूर करता है, धो डालता है उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है।[4]

अथवा जिससे आचार रूप धर्म उत्कर्ष को प्राप्त होता है, ऐसा प्राय: मुनि जन कहते हैं। इस कारण से अतिचारों को दूर करने के लिए जिसका चिन्तन-स्मरण किया जाये उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।

अथवा प्रकर्षेण अयते गच्छति अस्मादाचारधर्म इति प्रायो मुनिलोकस्तेन चिन्त्यते स्मर्यतेऽतिचारविशुद्धयर्थमिति निरुक्तात् प्रायश्चित्तम्।[5]

• आचार्य अभयदेवसूरिकृत स्थानांगटीका में प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि **"पापच्छेदकत्वात् प्रायश्चित्तं, विशोधकत्वाद् वा प्राकृते पायच्छित्त मिति।"**[6]

• दशवैकालिकनिर्युक्ति में भी प्रायश्चित्त को पाप कर्म का छेदक ही बतलाया है। स्पष्टता के लिए व्युत्पत्ति पाठ निम्न है—

"पापं छिनत्तीति पापच्छित् अथवा यथावस्थितं प्रायश्चित्तं शुद्धमस्मिन्निति प्रायश्चित्तमिति।"[7]

• जीतकल्पचूर्णि में सिद्धसेनसूरि ने प्रायश्चित्त की जो व्युत्पत्ति दी है वह ऊपर वर्णित अर्थ की ही पुष्टि करती है। उसका मूल पाठ यह है—

"पावं छिन्दन्तीति पायच्छित्तं। चित्तं वा जीवो भण्णइ। पाएण वा वि चित्तं सोहइ अइयार-मल-मइलियं, तेण पायच्छित्तं।"

जो पाप समूह का छेदन करता है अथवा चैतन्ययुक्त अध्यवसायों का प्राय: शोधन करता है और उसे अतिचार मल से रहित करता है वह प्रायश्चित्त है।[8]

• आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकटीका में प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलायी है– **"पापं कर्मोच्यते, तत् पापं छिनत्ति यस्मात् कारणात् 'पायच्छित्तं' ति भण्यते तेन कारणेन संस्कृते तु पापं छिनत्तीति पायच्छिदुच्यते"** अर्थात पाप को कर्म कहते हैं जिस कारण से उस पाप को छेदा (नष्ट किया) जाता है उसे प्राकृत में 'पायच्छित्त' तथा संस्कृत में 'प्रायश्चित्त' कहते हैं।[9] यहाँ प्रायश्चित्त का अर्थ पापकर्म को विध्वंस करने वाला माना गया है।

• पंचाशकटीका में प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार की गई है–

''प्रायशो वा चित्तम् जीवं शोधयति कर्म मलिनं विमली करोति तेन कारणेन प्रायश्चित्त मित्युच्यते'' – जो क्रिया कर्म मल से युक्त चैतन्य भावों का प्राय: शोधन करती है, अध्यवसायों को निर्मल करती है उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति में भी प्रायश्चित्त को कर्म विनाशक माना गया है।

• राजवार्तिककार ने श्वेताम्बर आचार्यों से किंचित भिन्न अर्थ करते हुए कहा है कि

''प्राय: साधुलोक:, प्रायस्थ यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम् अपराधो वा प्राय:, चित्तं शुद्धि:, प्रायक्य चित्तं प्रायश्चित्तम् अपराधविशुद्धि रित्यर्थ:।''

प्राय:– साधुलोक अर्थात जिस क्रिया में साधुओं का चित्त हो वह प्रायश्चित्त है अथवा प्राय: = अपराध, चित्त = शुद्धि अत: जिस क्रिया से अपराध की विशुद्धि हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।[10]

• पं. आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत में प्रायश्चित्त के निरुक्तिगत निम्न अर्थ बतलाये हैं उनमें पहला अर्थ राजवार्तिककार की पुष्टि करता है जैसा कि

प्रायो लोकस्तस्य चित्तं, मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया।
प्राये तपसि वा चित्तं, निश्चयस्तन्निरुच्यते।।

यहाँ 'प्राय:' का अर्थ है लोक और 'चित्त' का अर्थ है मन। लोक का तात्पर्य अपने वर्ग के लोगों से है। तदनुसार जिस क्रिया के द्वारा साधर्मी और संघ में रहने वाले लोगों का मन अपनी ओर से शुद्ध हो जाये, उस क्रिया या अनुष्ठान को प्रायश्चित्त कहते हैं।

द्वितीय अर्थ के अनुसार 'प्राय:' शब्द का एक अर्थ तप है और 'चित्त' का अर्थ निश्चय अर्थात यथायोग्य उपवास आदि तप में यह श्रद्धान करना कि यह करणीय है अथवा निश्चय संयुक्त तपस्या को प्रायश्चित्त कहते हैं।[11]

• धवलाटीका में 'प्राय:' पद को लोकवाची और 'चित्त' को मनसंज्ञक कहा गया है। इस मन को ग्रहण करने वाला कर्म प्रायश्चित्त है।[12]

• आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में अपराध की विशुद्धि करने वाले कर्म को प्रायश्चित्त कहा है जैसा कि पाठ है— **''अपराधो वा प्रायस्तेन विशुद्धयति।''**

उपरोक्त वर्णन से सुस्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर आचार्यों ने भाव विशोधक एवं कर्म विनाशक कर्म को प्रायश्चित्त कहा है जबकि दिगम्बर आचार्यों ने अपराध विशुद्धि, तप श्रद्धान कारक और लोकचित्तग्राही कर्म को प्रायश्चित्त माना है। गूढ़ार्थत: दोनों परम्परा के आचार्यों का अभिप्राय समान ही है।

प्रायश्चित्त का स्वरूप एवं परिभाषाएँ

जिससे संचित पापकर्म नष्ट होते हैं, जो चित्त का प्राय: विशोधन करता है और आभ्यन्तर तप का प्रथम भेद रूप है वह प्रायश्चित्त है। इन्हीं परिभाषाओं से मिलती-जुलती अन्य अनेक परिभाषाएँ दृष्टिगत होती हैं जो इस प्रकार है–

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रायश्चित्त का स्वरूप दिग्दर्शित करते हुए कहा है–

प्रायश्चित्तं ति तवोजेण, विसुज्कादि हु पुव्वकमपावं ।।
प्रायाच्छित्तं पत्तो त्रि, तेण वुत्तं दसविहं ।।184।।

जिस तप के द्वारा पूर्वकाल में संचित पापकर्म नष्ट होकर आत्मा निर्मल होता है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।

आचार्य वट्टकेर ने कुन्दकुन्दाचार्य का अनुसरण करते हुए प्रायश्चित्त का पूर्वोक्त स्वरूप ही बतलाया है। सम्यक् बोध के लिए उद्धृत पाठ इस प्रकार है[13]–

पायच्छित्तं त्ति तवो जेण, विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं ।
पायच्छित्तं पत्तो त्ति, तेण वुत्तं दसविहं तु ।।

पं. आशाधरजी ने अतिचार शुद्धि को प्रायश्चित्त कहा है। उसकी स्पष्ट परिभाषा यह है–

यत्कृत्याकरणे वर्ज्याऽवर्जने च रजोऽर्जितम् ।
सोऽतिचारोऽत्र तच्छुद्धिः, प्रायश्चित्तं वशात्म तत् ।।

आवश्यक आदि क्रियाओं के न करने पर और हिंसा आदि दुष्कार्यों का वर्जन न करने पर जिस पाप का सेवन होता है उसे अतिचार कहते हैं और उन अतिचारों की शुद्धि जिस विधान के द्वारा होती है उसे प्रायश्चित्त कहना चाहिए।[14]

चारित्रसार में चामुण्डराय ने प्रायश्चित्त का यही अर्थ उल्लिखित किया है।[15] पूज्यपाद के अनुसार जिससे प्रमाद आदि दोषों का परिहार हो, वह

प्रायश्चित्त है।[16] शुभचन्द्राचार्य के अनुसार प्रायश्चित्त वह श्रेष्ठ प्रक्रिया है जिसके माध्यम से अपराधी आत्मा पूर्वबद्ध पाप कर्मों से परिमुक्त होकर पूर्व गृहीत व्रतों से परिपूर्ण हो जाती है।[17]

लाटीसंहिताकार ने सुगम शैली में प्रायश्चित्त की व्याख्या करते हुए कहा है–

प्रायो दोषेऽप्यतीचारे, गुरौ सभ्यग्निवेदिते।
उद्दिष्टं तेन कर्त्तव्यं, प्रायश्चित्तं तपः स्मृतम्।।

मर्यादित जीवन जीते हुए भी यत्किंचित अतिचारों (दोषों) का सेवन हो जाये तो उन्हें गुरु के समक्ष भली भाँति निवेदित कर उसकी शुद्धि हेतु दिया गया दण्ड स्वीकार करना, प्रायश्चित्त तप कहा जाता है।[18]

इसी तरह हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र स्वोपज्ञविवरण, प्रायश्चित्तसंग्रह, उपासकाध्ययन, आचारसार आदि ग्रन्थों में भी प्रायश्चित्त का स्वरूप परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से सुस्पष्ट होता है कि प्रायश्चित्त वह तपोनुष्ठान है जिसके समाचरण से इहभव में उपार्जित एवं परभव में संचित समस्त प्रकार के दुष्पाप आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त के एकार्थवाची

व्यवहारभाष्य में प्रायश्चित्त के चार पर्यायवाची नाम बतलाये गये हैं[19]–

1. व्यवहार 2. आलोचना 3. शोधि और 4. प्रायश्चित्त।

आगम आदि पाँच व्यवहार की प्रवृत्ति मुख्यत: प्रायश्चित्त दान के उद्देश्य से ही होती है। आलोचना, प्रायश्चित्त का प्रारम्भिक चरण है। प्रायश्चित्त आलोचना पूर्वक ही होता है, बिना आलोचना के प्रायश्चित्त असंभव है। कदाच कोई व्यवहृत भी कर ले तो वह विफल होता है प्रायश्चित्त से आत्म परिणामों की शुद्धि होती है इसलिए इसे शोधि कहा है।

आचार्य वट्टकेर रचित मूलाचार में प्रायश्चित्त के समान अर्थबोधक आठ नाम कहे गये हैं[20]–

पोराणकम्म खवणं, खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं।
पुंछण मुछिवण छिदणं त्ति, पायच्छित्तस्स णामाइं।।

1. क्षपण – प्रायश्चित्त तप पुराने कर्मों का क्षय करने वाला होने से क्षपण कहलाता है।
2. क्षेपण – पूर्वसंचित कर्मों को दूर करने वाला होने से क्षेपण है।
3. निर्जरण – पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा में सहायक होने से निर्जरण है।
4. शोधन – आत्म भावों का विशोधक होने से शोधन कहलाता है।
5. धावन – मलिन कर्मों को प्रक्षालित करने वाला होने से धावन कहा जाता है।
6. पुंछन – जीव संपृक्त दुष्कर्मों का निराकरण करने वाला होने से इसका पुंछन नाम है।
7. उत्क्षेपण – चेतनाबद्ध शुभाशुभ कर्मों को उससे विलग करता है, बहुत दूर फेंकता है इसलिए इसे उत्क्षेपण नाम दिया गया है।
8. छेदन – आत्म आच्छादित कर्म समूह को छिन्न-भिन्न (चूर्ण-चूर्ण) कर देने वाला होने से इसे छेदन कहा गया है।

इस तरह प्रायश्चित्त के उपर्युक्त आठ नाम भी माननीय हैं।

शास्त्रों में वर्णित प्रायश्चित्त के उक्त स्वरूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि आंतरिक अध्यवसायों की शुद्धि ही प्रायश्चित्त है। आत्म विशुद्धि का यही एकमेव स्वतंत्र मार्ग है। गलती करना मानव का स्वभाव है, परन्तु जाने-अनजाने में हुए अपराधों एवं दुष्कृत्यों के प्रति ग्लानिभाव या क्षमा भाव रखना मानव से महामानव बनने का श्रेष्ठतम एवं सरलतम मार्ग है। अतः सभी मुमुक्षु आत्माओं को इस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

1. *धर्मसंग्रह, अधिकार 3*
2. *अभिधानराजेन्द्रकोश, 5/129 (पंचाशक टीका, 16 विवरण)*
3. *वही, आवश्यक निर्युक्ति, 5/129, 855, 5/22)*
4. *वही, 5/855 (आवश्यक बृहद्वृत्ति-1522*
5. *वही, 5 पृ. 855*
6. *स्थानांगटीका, अभयदेवसूरि, 3/3/196 की टीका*
7. *दशवैकालिकनिर्युक्ति, पृ. 48*

8. जीतकल्पचूर्णि, पृ. 2
9. आवश्यकटीका, अध्ययन 5वाँ
10. राजवार्तिक, 9/20/1
11 अनगारधर्मामृत, 7/37
12. धवलाटीका, 13/5,4,26/गा. 9.59
13. मूलाचार, 5/361
14. अनगारधर्मामृत, 7/34
15. चारित्रसार, पृ. 60
16. सर्वार्थसिद्धि, 9-20
17. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ. 449
18. लाटीसंहिता, 7/82
19. व्यवहारभाष्य, 1065
20. मूलाचार, 5/363

अध्याय-2

जैन वाङ्मय में प्रायश्चित्त के प्रकार एवं उपभेद

दोष विशुद्धि के लिए किया जाने वाला आभ्यन्तर तप रूप अनुष्ठान प्रायश्चित्त कहलाता है। आगमयुग से ही अनेकशः आचार्यों ने इस विषय पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। देश-काल परिस्थिति के अनुसार प्रायश्चित्त देने-लेने के व्यवहार में परिवर्तन भी हुए लेकिन इसका मूल प्रयोजन एक ही रहा। जीवों की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ एवं पात्रता के आधार पर प्रायश्चित्त करने के अनेक मार्ग शास्त्रों में उल्लिखित हैं, ताकि प्रत्येक जीव विशुद्ध मार्ग पर अग्रसर हो सके।

प्रायश्चित्त की विविध कोटियाँ

स्थानांगसूत्र[1] व्यवहारभाष्य[2] प्रवचनसारोद्धार[3] पंचाशकप्रकरण[4] मूलाचार[5] अनगारधर्मामृत[6] आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित्त दस प्रकार का बतलाया गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं–

आलोयण पडिकमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे ।
तव-छेय-मूल-अणवट्ठया, य पारंचिए चेव ।।

1. आलोचना 2. प्रतिक्रमण 3. तदुभय 4. विवेक 5. व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) 6. तप 7. छेद 8. मूल 9. अनवस्थाप्य और 10. पारांचिक।

दिगम्बर परम्परा के मूलाचार आदि में नौवाँ परिहार और दसवाँ श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त कहा गया है। इस तरह अंतिम के दो प्रायश्चित्त नामों में भेद है।

प्रायश्चित्त के दसविध भेद बताने के पीछे मूल प्रयोजन यह है कि दोष कई प्रकार के होते हैं उन दोषों की शुद्धि एक ही प्रकार के प्रायश्चित्त से नहीं हो सकती। दोषों के अनुरूप दण्ड विधान होना चाहिए। लौकिक जगत में भी अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता है। छोटे-बड़े अपराधों के लिए पृथक-पृथक दण्ड की व्यवस्था है इसी भाँति धार्मिक न्यायालय में भी दोषों की भिन्नता

के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त (दण्ड) देने का नियम है। कुछ दोष आलोचना मात्र से निराकृत हो जाते हैं, कुछ दोष प्रतिक्रमण से दूर किये जाते हैं तो कुछ दोष आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के द्वारा नष्ट किये जाते हैं। कई अपराध विवेक प्रायश्चित्त से, कुछ कायोत्सर्ग से, कई तप से तो कुछ दोष मूल, अनवस्थाप्य या पारांचिक प्रायश्चित्त से क्षय किये जाते हैं। पूर्वाचार्यों ने प्रायश्चित्त दान की व्यवस्था इस भाँति की है कि दशविध प्रायश्चित्त द्वारा सभी तरह के दुष्कृत्यों से परिमुक्त हुआ जा सकता है।

व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, जीतकल्पसूत्र, निशीथसूत्र आदि में प्रायश्चित्त योग्य अपराधों एवं तद्योग्य प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है। यहाँ दसविध प्रायश्चित्त का क्रम से निरूपण किया जायेगा।

1. आलोचना योग्य दोष

अपराध को तद्रूप स्वीकार करके उसे यथावत गुरु के सामने प्रकट करना आलोचना कहलाता है। जिन अपराधों की शुद्धि आलोचना करने मात्र से हो जाती है उसे आलोचना योग्य प्रायश्चित्त कहते हैं।

व्यवहारभाष्य[7], विधिमार्गप्रपा[8] एवं आचारदिनकर[9] के अनुसार आहार-वस्त्र-पात्र-औषधि आदि ग्रहण करने, मल-मूत्र का विसर्जन करने, विहार करने, चैत्यवंदन करने, अन्य उपाश्रय में रहे हुए साधुओं को वंदन करने, प्रत्याख्यान देने अथवा राजा आदि के यहाँ किसी शुभ कार्य की मंत्रणा हेतु उपाश्रय से सौ कदम बाहर जाने पर और नियमित सामान्य क्रियाओं में लगने वाले दोष आलोचना करने मात्र से दूर हो जाते हैं।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के अनुसार प्रत्युपेक्षण, प्रमार्जन, वैयावृत्य, स्वाध्याय, तपश्चरण, आहार-विहार आदि अवश्यकरणीय क्रियाओं में जागरूक रहते हुए भी प्रमादवश जो अतिचार लगते हैं उनकी शुद्धि आलोचना मात्र से हो जाती है।[10]

तत्त्वार्थराजवार्तिक के अनुसार विद्या और ध्यान के साधनों को ग्रहण करने आदि में जो दोष लगता है उसकी शुद्धि आलोचना प्रायश्चित्त से होती है।[11]

लाभ– आलोचना प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुए मुनिजनों का संयम निर्मल होता है। छद्मस्थ साधु का उपयोग अयथार्थ या विपरीत भी हो सकता है इसलिए आचार्य आदि बहुश्रुतों के पास आलोचना करता हुआ मुनि ऊहापोह के द्वारा स्वयं ही शुद्ध-अशुद्ध को जान लेता है अथवा वहाँ आने-जाने वाले अन्य

श्रोताओं से भी शुद्धाशुद्धि के विषय में सुनकर उसका विवेक कर सकता है। इसी प्रकार आलोचना से सूक्ष्म एवं विस्मृत दोष भी स्मरण में आ जाते हैं।[12]

प्रतिक्रमण योग्य दोष

कृत दोषों को दोष रूप में स्वीकार कर उन्हें दुबारा न करने का निश्चय करना प्रतिक्रमण कहलाता है। जिन दुष्कृत्यों की शुद्धि प्रतिक्रमण करने मात्र से हो जाती है उसे प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कहते हैं।

व्यवहारभाष्य[13] विधिमार्गप्रपा[14] आचारदिनकर[15] आदि के अनुसार प्रमाद के कारण समिति एवं गुप्ति का भंग होने पर, गुरु की आशातना होने पर, उनके प्रति विनय आदि का परिपालन न करने पर, इच्छाकार आदि दस सामाचारी का सम्यक पालन न करने पर, पूज्यों का समुचित आदर न करने पर, अल्प मिथ्याभाषण करने पर, सूक्ष्म अदत्तादान का सेवन करने पर, मुखवस्त्रिका का उपयोग रखे बिना छींक, खांसी एवं उबासी करने पर, दूसरों से वाद करने पर, संक्लेश उत्पन्न करने पर, पात्र लेप आदि का कार्य करने पर, प्रमादवश हास्य, कुचेष्टा, परनिन्दा एवं कौत्कुच्य करने पर, राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा एवं भक्तकथा करने पर, प्रमादवश कषाय एवं विषयों का सेवन करने पर, किसी के सम्बन्ध में यथार्थ से भिन्न, कम या अधिक कहने या सुनने पर, द्रव्य और भाव से संयम में स्खलना होने पर, असावधानी से या सहसाकार से व्रत का भंग होने पर, अल्पमात्र भी रागभाव, हास्य एवं भयसेवन करने पर, शोक, प्रदोष, कन्दर्प, वाद-विवाद और विकथा आदि करने पर, उत्तरगुण प्रतिसेवना रूप अपराध में अतिक्रम और व्यतिक्रम होने पर तथा अनजाने में मूलगुण– उत्तरगुण प्रतिसेवना रूप अतिक्रमण होने पर इन सभी दोषों के लिए प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त प्राप्त होता है यानी प्रतिक्रमण करने मात्र से ये दोष आत्म पृथक हो जाते हैं।

तदुभय (आलोचना-प्रतिक्रमण) योग्य दोष

कृत दोषों की स्वीकारोक्ति आलोचना है और सेवित के लिए अपुनर्सेवन का संकल्प प्रतिक्रमण कहलाता है। जिन अपराधों की विमुक्ति आलोचना एवं प्रतिक्रमण दोनों क्रियाओं से होती है वह तदुभय प्रायश्चित्त कहा जाता है। व्यवहारभाष्य टीका के अनुसार पहले गुरु के पास आलोचना करना, फिर गुरु आज्ञा से 'मिच्छामि दुक्कड़ं' कहना तदुभय प्रायश्चित्त है।[16]

संघदासगणि विरचित व्यवहारभाष्य आदि के उल्लेखानुसार मैंने प्राणातिपात आदि दोषों का सेवन किया या नहीं? इस प्रकार आशंका होने पर, सहसा दोष सेवन होने पर, भय और रोग के कारण या आपदाओं के समय दोष सेवन होने पर, महाव्रतों में अतिक्रम, व्यतिक्रम या अतिचार की आशंका होने पर, दूसरे महाव्रत के सम्बन्ध में मैंने झूठ बोला या नहीं?, तीसरे महाव्रत में मैंने अवग्रह (स्थान) की अनुज्ञा ली या नहीं?, चौथे महाव्रत के विषय में स्त्री का स्पर्श हुआ या नहीं?, पाँचवें महाव्रत के विषय में इंद्रिय विषयों के प्रति राग-द्वेष किया या नहीं?, छठे रात्रि भोजन विरमणव्रत में लेप लगे पात्रों को धोया या नहीं? इस प्रकार जो दोष इंद्रियों द्वारा प्रकट होने पर अथवा अप्रकट रहने पर भी उनके प्रति सम्यक् अवधारण नहीं हुआ हो तो भावत: तदुभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[17]

इसी तरह इन्द्रिय विषयों का आसेवन कर उनके प्रति राग-द्वेष का एकपक्षीय निर्णय न कर सकने पर, सावधानी से संयमपूर्वक चलते हुए सहसा या भय के कारण पृथ्वी आदि जीवनिकाय की हिंसा होने पर, क्षुधा-पिपासा से अत्यंत पीड़ित होने पर अथवा आपतकालीन स्थिति में निषिद्ध आहार आदि का ग्रहण या उपभोग करने पर तदुभय प्रायश्चित्त आता है। इसी तरह असावधानी के कारण, गुरु आदि के अवरोध के कारण या संघ के बृहद कार्य के लिए व्रत के सर्वथा खण्डित होने पर या अतिचार लगने पर, दुष्ट भाषण, दुष्टचिंतन या दुष्टकाय रूप संयम विरोधी प्रवृत्तियाँ बार-बार करने पर, प्रमादवश अहोरात्रि के करणीय कर्त्तव्यों का विस्मरण होने पर तदुभय प्रायश्चित्त के द्वारा इनकी शुद्धि की जा सकती है।

इस प्रायश्चित्त के विषय में एक शंका होती है कि जहाँ शास्त्र में कहा गया है कि आलोचना के बिना कोई भी प्रायश्चित्त कार्यकारी नहीं है वहाँ यह उल्लेख भी देखा जाता है कि कुछ दोष प्रतिक्रमण करने मात्र से शुद्ध हो जाते हैं तथा कुछ दोष तदुभय से निराकृत होते हैं। यह परस्पर विरुद्ध कथन कैसे? यदि कहा जाये कि प्रतिक्रमण के पहले आलोचना की जाती है तब तदुभय प्रायश्चित्त का कथन व्यर्थ हो जायेगा। इसका समाधान यह है कि सभी प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही होते हैं किन्तु अन्तर यह है कि प्रतिक्रमण गुरु आज्ञा से शिष्य करता है और तदुभय गुरु के द्वारा ही किया जाता है।

विवेक प्रायश्चित्त योग्य दोष

आहार आदि के विषय में शुद्ध-अशुद्ध का विचार करते हुए उसका स्वीकार एवं परिहार करना विवेक है।

मुनि जीवन में कुछ दोष ऐसे होते हैं जिनका परिहार करने के लिए विवेक रखने की आवश्यकता होती है। आगमिक टीका साहित्य (व्यवहारभाष्य-108 की टीका) एवं आगमेतर साहित्य (विधिमार्गप्रपा,पृ. 80, आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 242) के अनुसार विवेक प्रायश्चित्त के योग्य निम्न स्थान हैं–

गीतार्थ मुनि शय्या-संस्तारक या आहार-पानी ग्रहण करे और कुछ देर पश्चात उन्हें यह ज्ञात हो जाये कि ये वस्तुएँ प्रासुक और अनेषणीय हैं तो उस दोषयुक्त शय्या आदि का त्याग कर देना चाहिए, यह विवेक प्रायश्चित्त है। इसी तरह आधाकर्मिक वसति में ठहरने पर किसी तरह से यह ज्ञात हो जाये कि यह उपाश्रय अकल्पनीय है तो उसे तुरन्त छोड़ देना विवेक प्रायश्चित्त है।

इसी तरह पर्वत, राहु, बादल, कुहासा और रजकण से सूर्य आवृत्त हो जाए और उस समय यदि मुनि अशठभाव से सूर्य उग गया है या सूर्य अस्त नहीं हुआ है– इस बुद्धि से भोजन-पानी ग्रहण कर ले, किन्तु बाद में उसे पता लग जाए कि सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के पश्चात आहार आदि ग्रहण किया है तो उस गृहीत अशन आदि का परित्याग कर देना विवेक प्रायश्चित्त है।

प्रथम पौरुषी में गृहीत आहार को चतुर्थ पौरुषी तक रखा हो या भूलवश रह गया हो ऐसा कालातिक्रम भोजन-पानी तथा दो कोश के बाहर से लाया गया आहार आदि क्षेत्रातिक्रम कहलाता है। इन दोनों प्रकार के आहार का परिष्ठापन कर देना चाहिए, यह विवेक प्रायश्चित्त है।

अज्ञानतापूर्वक नियम विरुद्ध उपधि आदि का ग्रहण करने पर अथवा उपयुक्त समय को जाने बिना कारणवशात द्रव्यों का भोग-उपभोग करने पर विवेक प्रायश्चित्त करना चाहिए यानी विवेक बुद्धि से उन वस्तुओं का परित्याग कर देना चाहिए।

व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) प्रायश्चित्त योग्य दोष

देह ममत्व का विसर्जन कर आत्मधर्म में स्थिर हो जाना कायोत्सर्ग है। हमारे द्वारा कुछ दोष उस श्रेणि के किये जाते हैं जिनकी विमुक्ति कायोत्सर्ग करने

से हो जाती है।

व्यवहारभाष्य[18] आदि टीका मूलक साहित्य एवं विधिमार्गप्रपा[19] और आचारदिनकर[20] आदि वैधानिक साहित्य के मतानुसार निम्न प्रवृत्तियों में व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त (कायोत्सर्ग) आता है–

1. उपाश्रय से विहार एवं गमनागमन की क्रिया करने पर, 2. सावद्य (हिंसक) स्वप्न देखने पर या हिंसा आदि की घटना सुनने पर, 3. नाव के द्वारा नदी आदि पार करने पर या तैरने पर, 4. मल-मूत्र आदि का परिष्ठापन करने पर, 5. सूत्र का प्रत्यावर्त्तन करने पर, 6. पैरों से नदी उल्लंघन करने पर– इन क्रियाओं में लगने वाले दोषों की संशुद्धि कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त से होती है।

किस दोष में कितने श्वासोश्वास परिमाण कायोत्सर्ग करें?

- भोजन, पानी, संस्तारक, आसन आदि का मर्यादापूर्वक ग्रहण करने पर भी, मल-मूत्र का त्याग करने पर, असावधानी से दूसरों के शारीरिक अंगों का संस्पर्श या व्याघात होने पर, उपाश्रय से सौ हाथ अधिक दूर जाने पर, पूज्य गुरु एवं ज्येष्ठ साधुओं की शय्या और आसन का उपयोग करने पर पच्चीस उच्छ्वास (श्वासोश्वास) का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

- जीववध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह– इनका स्वप्न में सेवन करने, करवाने और अनुमोदन करने पर, महाव्रतों का देशत: या सर्वत: भंग होने पर, हिंसा आदि के स्वप्न आने पर सौ श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए। वर्तमान परिपाटी के अनुसार चार बार चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान करें। चतुर्थ महाव्रत के खंडित होने का स्वप्न आने पर एक सौ आठ श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए। आचार मर्यादा का खंडन होने पर भी यही प्रायश्चित्त करें।

- दैवसिक प्रतिक्रमण में 100 श्वासोश्वास का, रात्रिक प्रतिक्रमण में 50 श्वासोश्वास का, पाक्षिक प्रतिक्रमण में 300 श्वासोश्वास का, चौमासी प्रतिक्रमण में 500 श्वासोश्वास का और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 1008 श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

- सभी आगम सूत्रों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा में सत्ताईस उच्छ्वास के कायोत्सर्ग का विधान है। स्वाध्याय की प्रस्थापना और काल का प्रतिक्रमण आदि करने के पश्चात आठ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग (एक बार नमस्कारमंत्र का स्मरण) करना चाहिए।

• बहिर्गमन के समय अथवा अन्यान्य कार्यों के प्रारंभ में वस्त्र आदि के स्खलित होने पर अथवा इसी प्रकार के अन्य अपशकुन होने पर (उनके प्रतिघात के निमित्त) आठ श्वासोश्वास (एक नमस्कार मन्त्र) का स्मरण अथवा दो श्लोकों का चिंतन करना चाहिए अथवा जितने समय में दो श्लोकों का चिंतन हो उतने समय तक तत्क्षण एकाग्र होकर कायोत्सर्ग लीन हो जायें। बहिर्गमन आदि के समय दूसरी बार स्खलना आदि अपशकुन होने पर सोलह श्वासोश्वास का और तीसरी बार अपशकुन होने पर बत्तीस श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करें। यदि चौथी बार भी अपशकुन हो जाये तो अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र नहीं जायें तथा अन्य कार्य भी प्रारंभ न करें।

सभी कायोत्सर्गों में श्वासोश्वास संख्या की भिन्नता ही विशेष है।

उच्छ्वास का अर्थ– शास्त्रीय विधि से 25, 27, 50, 100, 500 आदि श्वासोश्वास परिमाण के कायोत्सर्ग में उतनी बार श्वास लेते-छोड़ते हुए चित्त को स्थिर रखना चाहिए। अर्वाचीन विधि के अनुसार आठ श्वासोश्वास परिमाण के कायोत्सर्ग में एक बार नमस्कार मन्त्र का स्मरण और 25-27 आदि श्वासोश्वास परिणाम के कायोत्सर्ग में लोगस्ससूत्र का ध्यान किया जाता है।

एक उच्छ्वास (श्वासोश्वास) एक पाद (चरण) जितना होता है। सामान्यतया श्लोक में चार चरण होते हैं। व्यवहारभाष्य के अनुसार–

पायसमा ऊसासा, कालपमाणेण होंति नायव्वा।
एतं काल प्रमाणं, काउसग्गे मुणेयव्वं।।

श्लोक के एक चरण के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना एक उच्छ्वास का काल होता है।[21]

यहाँ ज्ञातव्य है कि लोगस्ससूत्र के सात श्लोकों में 28 चरण हैं। यदि 25 या 27 उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करते हैं तो 'चंदेसुनिम्मलयरा' तक पच्चीस और 'सागरवरगंभीरा' तक 27 उच्छ्वास परिमाण जितना काल होता है इसलिए वहाँ तक के पाठ का स्मरण करते हैं। कायोत्सर्ग रूप में इन दोनों सूत्रों के स्मरण करने का हार्द यह है कि लोगस्ससूत्र और नवकार मन्त्र दोनों गणधर रचित शाश्वत सूत्र हैं तथा निर्धारित श्वासोश्वास कायोत्सर्ग के परिमाण वाले सूत्र हैं इसलिए इन्हीं को आधार मानते हुए 50, 100, 500 आदि श्वासोश्वास प्रमाण कायोत्सर्ग पूर्ण किया जाता है।

तप प्रायश्चित्त योग्य दोष

चेतना सम्पृक्त कषाय-विषयजन्य अध्यवसायों को कृश करना, वैभाविक शक्तियों को क्षीण करना तप कहलाता है। जिन अपराधों का छुटकारा तप करने से ही हो सकता है, उन्हें तप प्रायश्चित्त योग्य दोष कहते हैं।

टीकाकारों एवं पूर्वाचार्यों के अभिमतानुसार निम्न स्थितियों में तप प्रायश्चित्त करना आवश्यक है–

1. पंचाचार में अतिचार लगने पर 2. काल मर्यादा का उल्लंघन करने पर 3. महाव्रतों का खण्डन होने पर 4. पापकारी विविध प्रवृत्तियाँ करने पर आदि।

इस तरह की दोषजन्य अनेक स्थितियों का विस्तृत वर्णन अध्याय-6 में किया जाएगा, क्योंकि तप प्रायश्चित्त जनित अपराधों की संख्या असीमित होने से उनका वर्णन एक स्वतन्त्र अध्याय में करना अधिक उचित होगा।

तदुपरान्त व्यवहारभाष्य के अनुसार तप योग्य कुछ विशेष दोष एवं उसके निराकरण रूप प्रायश्चित्त (दण्ड) इस प्रकार है[22] –

• डंडे को ग्रहण करते समय अथवा नीचे रखते समय भूमि का प्रमार्जन न करने पर, • वसति के बाहर जाते समय 'आवस्सही' और पुनः प्रवेश करते समय 'निसीहि' का उच्चारण न करने पर, • उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'नमो खमासमणाणं' न कहने पर पाँच अहोरात्रि का तप प्रायश्चित्त आता है।

निम्न क्रियाओं में विधिपूर्वक आचरण न करने पर पाँच अहोरात्रि का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है–

• संस्तारक की विंटलिका को लेते-रखते समय, • विधिपूर्वक न थूंकने पर, • वस्त्र आदि को धूप से छांव में और छांव से धूप में संक्रमित करते हुए, • स्थंडिल से अस्थंडिल में अथवा अस्थंडिल से स्थंडिल में आते हुए, • काली मिट्टी वाले प्रदेश से नीली मिट्टी वाले प्रदेश में संक्रमण करते हुए अथवा नीली से काली मिट्टी युक्त क्षेत्र में गमन करते हुए, • यात्रा-पथ से गाँव में प्रवेश करते हुए अथवा गांव से यात्रा-मार्ग में जाते हुए पैरों का प्रमार्जन अथवा निरीक्षण न करने पर।

• जैसे सचित्त जल से भीगे हुए हाथ या पात्र में भिक्षा लेने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है वैसे ही हरिताल, हिंगुलक, अंजन, नमक आदि सचित्त पृथ्वीकाय तथा मिश्र पृथ्वीकाय से सने हुए हाथ या पात्र से भिक्षा लेने वाले मुनि को लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

• स्वाध्याय, कायोत्सर्ग एवं प्रतिलेखना न करने पर, अष्टमी आदि पर्व तिथियों में तपयुक्त पौषध न करने पर तथा चैत्यवंदन न करने पर मासलघु का प्रायश्चित्त आता है।

• सूत्र पौरुषी और अर्थ पौरुषी न करने पर क्रमशः मासगुरु और मासलघु का प्रायश्चित्त विहित है।

• चार काल की सूत्र पौरुषी (दिन और रात के प्रथम और अंतिम प्रहर में स्वाध्याय) न करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

• रात्रिक एवं दैवसिक प्रतिक्रमण करते समय जितने कायोत्सर्ग नहीं किए जाते, उतने मास का प्रायश्चित्त आता है।

• बैठे हुए या लेटे हुए तथा चद्दर ओढ़े हुए प्रतिक्रमण करने पर प्रत्येक में एक-एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। आवश्यक अनुष्ठान सर्वथा नहीं करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

• उत्कृष्ट उपधि की प्रतिलेखना न करने पर चार लघुमास, मध्यम उपधि के लिए एक लघुमास और जघन्य उपधि के लिए पंचरात्रिक प्रायश्चित्त आता है।

• अष्टमी और पक्खी के दिन उपवास न करने पर क्रमशः मासलघु और मासगुरु, चातुर्मासिक बेला न करने पर चार लघुमास तथा सांवत्सरिक तेला न करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

• इन पर्व तिथियों में चैत्यवंदन तथा अन्य उपाश्रय में रहे हुए मुनियों को वंदन न करने पर मासलघु प्रायश्चित्त का विधान है।

• छह जीवनिकायों में से त्रसकाय के सिवाय पाँच स्थावर जीवों का संघट्टन-परितापन करने पर लघु प्रायश्चित्त और साधारण वनस्पतिकाय का संघट्टन-परितापन करने पर गुरु प्रायश्चित्त आता है।

• बेइन्द्रिय आदि त्रस जीवों का संघट्टन-परितापन करने पर लघु अथवा गुरु प्रायश्चित्त आता है तथा इन जीवों का विनाश करने पर मूल प्रायश्चित्त विहित है।

यहाँ तप प्रायश्चित्त संबंधी यह वर्णन स्थूल दोषों के आधार पर अति संक्षेप में किया गया है।

निशीथसूत्र, जो आगमिक वर्गीकरण के छेद ग्रन्थों में अपना अमूल्य स्थान रखता है और पूर्णरूप से तप प्रायश्चित्त योग्य दोषों एवं तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त

का ही निरूपण करता है। वर्तमान में निशीथसूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त दान प्रवर्तित नहीं है यद्यपि प्रायश्चित्त का आधारभूत ग्रन्थ होने से इसमें वर्णित प्रायश्चित्त विधि संक्षेप में इस प्रकार है[23]–

निशीथसूत्र में तप प्रायश्चित्त के चार प्रकार मिलते हैं– 1. गुरुमासिक 2. लघुमासिक 3. गुरु चातुर्मासिक और 4. लघु चातुर्मासिक। लघुमासिक या मासलघु प्रायश्चित्त का अर्थ-एकासन और गुरु मासिक का अर्थ-उपवास है। इसी प्रकार लघु चातुर्मासिक का अर्थ-बेला (लगातार दो दिन तक अन्न का उपवास) और गुरु चातुर्मासिक का अर्थ-तेला (लगातार तीन दिन का उपवास) है।

लघुमासिक के योग्य अपराध– दारूदण्ड का पादप्रोंछन बनाना, पानी निकालने के लिए नाली बनाना, आहार लेने से पूर्व अथवा पश्चात दाता की प्रशंसा करना, निष्कारण परिचित घरों में प्रवेश करना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ की संगति करना, शय्यातर-आवास देने वाले मकान मालिक के यहाँ का आहार-पानी ग्रहण करना आदि क्रियाओं से लघुमासिक प्रायश्चित्त आता हैं।

गुरुमासिक के योग्य अपराध– अंगादान का मर्दन करना, अंगादान के ऊपर की त्वचा दूर करना, अंगादान को नली में डालना, पुष्पादि सूंघना, पात्र आदि दूसरों से साफ करवाना, सदोष आहार का उपभोग करना आदि क्रियाएँ गुरुमासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

लघुचातुर्मासिक के योग्य अपराध– प्रत्याख्यान का बार-बार भंग करना, गृहस्थ के वस्त्र, पात्र, शय्या आदि का उपयोग करना, प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक रखना, दो कोस से आगे जाकर आहार लाना, विरेचन लेना अथवा औषधि का सेवन करना, शिथिलाचारी को नमस्कार करना, वाटिका आदि सार्वजनिक स्थानों में मल-मूत्र डालकर गन्दगी करना, गृहस्थ आदि को आहार-पानी देना,दम्पत्ति के शयनागार में प्रवेश करना, समान आचारवाले साधु-साध्वी को स्थान आदि की सुविधा न देना, गीत गाना, वाद्ययन्त्र बजाना, नृत्य करना, अस्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करना अथवा स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय न करना, अयोग्य को शास्त्र पढ़ाना अथवा योग्य को शास्त्र न पढ़ाना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को पढ़ाना अथवा उससे पढ़ना आदि क्रियाओं से लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

गुरुचातुर्मासिक के योग्य अपराध– स्त्री अथवा पुरुष से मैथुन सेवन के

लिए प्रार्थना करना, मैथुनेच्छा से हस्तकर्म करना, नग्न होना, निर्लज्ज वचन बोलना, प्रेमपत्र लिखना, गुदा अथवा योनि में लिंग डालना, स्तन आदि को हाथ से हिलाना अथवा मसलना, पशु-पक्षी को स्त्री अथवा पुरुष रूप मानकर उनका आलिंगन करना, मैथुनेच्छा से किसी को आहार आदि देना, आचार्य की अवज्ञा करना, लाभ-अलाभ का निमित्त बताना, किसी श्रमण-श्रमणी को बहकाना, किसी दीक्षार्थी को भड़काना, अयोग्य को दीक्षा देना, अचेलक होकर सचेलक के साथ रहना अथवा सचेलक होकर अचेलक के साथ रहना आदि क्रियाएँ गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

छेद प्रायश्चित्त के योग्य दोष

अपराध की तरतमता के अनुसार अमुक दिन, पक्ष, मास या वर्ष की दीक्षा पर्याय में कमी करना छेद प्रायश्चित्त है।

जिनशासन में कुछ अपराध उस स्तर के माने गये हैं जिनके दण्ड रूप में दीक्षा पर्याय की कमी करने से ही आत्मा की विशुद्धि होती है।

आगमिक टीकाओं (व्यवहारभाष्य गा. 125-126) में तप प्रायश्चित्त योग्य जिन स्थानों का उल्लेख है यदि उनमें से किसी एक का भी निष्कारण तथा अग्लान अवस्था में निरन्तर तीन बार आचरण कर लिया जाता है तो वह छेद प्रायश्चित्त का भागी होता है। फलतः उसके लिए पाँच अहोरात्रि के संयम का छेद कर देते हैं। व्यवहारभाष्य (गा. 719) के अनुसार श्री संघ का विशिष्ट प्रयोजन उपस्थित होने पर भी जो गर्व से उस कार्य को नहीं करता वह छेद प्रायश्चित्त का अधिकारी होता है।

इसी तरह तपस्या का गर्व करने वाला, तप के प्रति श्रद्धा नहीं रखने वाला, तप से भी जिसका निग्रह न हो सके ऐसा, अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाला, गुणों का त्याग करने वाला– छेद प्रायश्चित्त के योग्य होता है। जो पार्श्वस्थ आदि का संग करे, उसे तप प्रायश्चित्त के स्थान पर छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए। आचार्य वर्धमानसूरि के मतानुसार उसे यावज्जीवन नीवि आदि तप करवाएँ।

चूर्णिकार संघदासगणि ने तप और छेद के स्थान समान बतलाये हैं। उनके अनुसार दोनों में ही आदि के स्थान पाँच अहोरात्र है फिर पाँच-पाँच की वृद्धि करते हुए अंतिम स्थान छह महीना है। स्पष्ट है कि तप और छेद प्रायश्चित्त पाँच

अहोरात्रि से कम और छह मास से अधिक अवधिवाले नहीं होते हैं। छेद के दो प्रकार हैं– 1. देशछेद और 2. सर्वछेद।

पाँच अहोरात्रि से लेकर छह मास पर्यन्त का प्रायश्चित्त देशछेद कहलाता है तथा मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त सर्व छेद के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि वे श्रमण पर्याय का युगपद् छेद करते हैं। इस प्रकार अंतिम तीन प्रायश्चित्तों का सर्व छेद में समावेश होने से प्रायश्चित्त के सात प्रकार होते हैं।[24]

इस प्रायश्चित्त की विशिष्टता यह है कि इसके कारण श्रमण-संघ में वरीयता की दृष्टि से अपराधी का जो स्थान था, वह अपेक्षाकृत कम हो जाता है। साथ ही जो अपराधी तप के अयोग्य है, तप के गर्व से उन्मत्त है अथवा तप प्रायश्चित्त का जिस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसके लिए छेद प्रायश्चित्त का विधान है।

मूल प्रायश्चित्त योग्य दोष

पूर्व दीक्षा पर्याय को समाप्त कर नूतन दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है। इसमें पूर्व गृहीत व्रतों का पुनः से आरोपण किया जाता है एतदर्थ इसका नाम मूल प्रायश्चित्त है।

जिनशासन की अविच्छिन्न परम्परा में कुछ ऐसे दोष, जिनकी विमुक्ति के लिए अपराधी की पूर्व दीक्षा पर्याय का पूर्णतः छेदकर नयी प्रव्रज्या दी जाती है उन्हें मूल प्रायश्चित्त योग्य दोष कहा गया है।

भाष्यकार संघदासगणि ने निम्नोक्त आठ प्रकार के मुनि को मूल प्रायश्चित्त का भागी कहा है–

1. **तप अतीत** – छह माह पर्यन्त तपस्या करने पर भी शुद्धि न हो।
2. **तपोबली** – जो महान् तप से क्लांत नहीं होता अथवा छह मासिक तप देने पर भी जो कहता है कि मैं अन्य तप करने में भी समर्थ हूँ।
3. **अश्रद्धा** – तप से पाप की शुद्धि नहीं होती, ऐसा विचार करने वाला हो।
4. **पर्याय** – छेद प्रायश्चित्त से शुद्धि न होने पर अथवा मैं रत्नाधिक हूँ, छेद देने पर भी मेरा पर्याय दीर्घ है, ऐसा कहने वाला हो।
5. **दुर्बल** – जिसे तप प्रायश्चित्त अत्यधिक रूप में प्राप्त है, किन्तु वह उसे वहन करने में असमर्थ हो।
6. **अपरिणामी** – छह मासिक प्रायश्चित्त से मेरी शुद्धि नहीं होगी, ऐसा विचार वाला हो।

7. **अस्थिर** – धैर्यबल न होने के कारण पुनः पुनः प्रतिसेवना करने वाला हो।
8. **अबहुश्रुत** – अनवस्थाप्य या पारांचित प्रायश्चित्त को प्राप्त होने पर भी अबहुश्रुतता के कारण उसे मूल प्रायश्चित्त दिया जाता हो।[25]

विधिमार्गप्रपा[26] एवं आचारदिनकर[27] आदि के उल्लेखानुसार पंचेन्द्रिय जीव का घात करने वाला, गर्व से मैथुन सेवन करने वाला, समस्त विषयों का आसक्ति पूर्ण परिभोग करने वाला, मूल एवं उत्तर गुणों में दोष लगाने वाला, तप सामर्थ्य का गर्व करने वाला, ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र घातक कार्यों में निमग्न रहने वाला, अवसन्न, पार्श्वस्थ, मूलकर्म जैसी दूषित प्रवृत्तियाँ करने वाला अपराधी मुनि मूल प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। ऐसे अपराधी श्रमण को पुनर्दीक्षा देकर संघ में सबसे निम्न स्थान दिया जाता है। इसी भाँति जिस साधु को प्रायश्चित्त के रूप में जो तप दिया गया हो और वह तप से भ्रष्ट हो गया हो उसे तथा जो पारांचित प्रायश्चित्त के योग्य हो उसे सर्वप्रथम पूर्व दीक्षा पर्याय का छेद करके मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी प्रकार जो संयम से भ्रष्ट हों उन्हें भी मूल प्रायश्चित्त विहित है। सामान्यतया पंचेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा एवं मैथुन संबंधी अपराध इस प्रायश्चित्त के कारण माने गये हैं।

छेद एवं मूल प्रायश्चित्त में अंतर– यहाँ प्रश्न होता है कि छेद प्रायश्चित्त एवं मूल प्रायश्चित्त दोनों में दीक्षा पर्याय की हानि की जाती है तब इसमें मूल भेद क्या है? इसका समाधान यह है कि छेद में पाँच अहोरात्रि से लेकर अधिकतम छह माह तक की दीक्षा पर्याय का विच्छेद किया जाता है जबकि मूल में छह माह से अधिक दीक्षा पर्याय का छेद होता है। दूसरा अन्तर यह है कि छेद प्रायश्चित्त चिरघाती है, क्योंकि इसमें चिरकाल तक दीक्षा पर्याय का छेद होता है, किंतु मूल सद्योघाती है, क्योंकि यह शीघ्र ही दीक्षा पर्याय को समाप्त कर देता है।[28]

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य दोष

अवस्थाप्य का अर्थ है अवस्थित (स्थापित) करने योग्य और अनवस्थाप्य का अर्थ है अवस्थित नहीं करने योग्य। उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार इस प्रायश्चित्त में अपराधी को प्रव्रज्या पथ से बहिष्कृत कर तत्काल पुनर्दीक्षा न देते हुए कुछ अवधि तक उसकी परीक्षा की जाती है। तत्पश्चात संघ के आश्वस्त

हो जाने पर अथवा उसके द्वारा प्रायश्चित्त पूर्ण करने के बाद पुन: दीक्षा दी जाती है। इस तरह इसमें अपराधी श्रमण को तत्काल संयम मार्ग के योग्य नहीं मानते हैं, बल्कि निश्चित अवधि के उपरान्त भी आचार्य एवं संघ की अनुमति होने पर ही प्रव्रजित करते हैं इसलिए इसका नाम अनवस्थाप्य है।

दोष– पंचाशकप्रकरण[29], विधिमार्गप्रपा[30], आचारदिनकर[31] आदि के अनुसार साधर्मिक अथवा अन्य किसी व्यक्ति की उत्तम वस्तुओं की चोरी करने वाला हो, हस्त ताड़न कर्म करता हो, स्वपक्ष-परपक्ष में कलह करने वाला हो, अर्थादि का लेन-देन करता हो, द्रव्योपार्जन के लिए अष्टांगनिमित्त का कार्य करता हो, दुष्ट प्रकृति से युक्त हो, जीवों की हिंसा करने वाला हो, पारांचित-प्रायश्चित्त का बिल्कुल भी भय न रखने वाला हो, दुष्ट प्रवृत्तियों का बारंबार सेवन करता हो, उसे लिंग, क्षेत्र, काल एवं तप का विचार कर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त दिया जाता है।

किसी ने वेश से दुष्कर्म किया हो उसका द्रव्य की अपेक्षा से मुनि वेश ले लेना चाहिए और भाव की अपेक्षा से पुन: उस कार्य को न करें– ऐसा निर्देश देना चाहिए। क्षेत्र से उसे भावलिंग धारण करवाते हुए अन्य क्षेत्र में स्थापित करें। काल से अन्यत्र रहकर जितने समय तक उसने पाप किया हो, उतने समय से भी अधिक उसे तप करवाएं। तप की अपेक्षा पाप अल्प मात्रा में हो तो छहमासी तप करवाएं। यदि परमात्मा की आशातना की हो तो एक वर्ष तक तप करवाएं। पाप के आधार पर अधिक से अधिक बारह वर्ष तक तप करवायें।

दिगम्बर परम्परा में नौवें प्रायश्चित्त का नाम परिहार है। यह प्रायश्चित्त अर्थत: अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के समान ही है। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार दिन आदि के विभाग पूर्वक अपराधी मुनि को संघ से बहिष्कृत कर देना परिहार प्रायश्चित्त है। इसके तीन प्रकार हैं– निजगुणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान और पारंचिक।

1. निजगुणानुपस्थान– अपने संघ से निर्वासित करने को निजगुणानुपस्थान कहते हैं। जो मुनि नौ या दस पूर्व का धारी है, जिसके आदि के तीन संहननों में से कोई एक संहनन है, परीषहजेता, दृढ़धर्मी एवं संसारभीरु है यद्यपि लोभवश अन्य साधुओं की वस्तुओं को चुराता है, मुनियों पर प्रहार करता है, अन्य से भी इस प्रकार के विरुद्ध आचरण करता है उसे

निजगुणानुपस्थान प्रायश्चित्त होता है। इस प्रायश्चित्त के अपराधी मुनि को वसति से बत्तीस दण्ड दूर रखते हैं। वह बाल मुनियों को भी वन्दन करता है उसे कोई भी वन्दना नहीं करता, केवल गुरु से आलोचना कर सकता है। शेष जनों से वार्त्तालाप भी नहीं करता, पीछी उलटी रखता है। उसे जघन्य से पाँच-पाँच उपवास और उत्कृष्ट से छह मास का उपवास-बारह वर्ष पर्यन्त करना होता है।

2. सपरगणोपस्थान– जो मुनि दर्प से उक्त दोषों का सेवन करता है उसे सपरगणोपस्थान प्रायश्चित्त दिया जाता है। इस प्रायश्चित्त के अनुसार अपराधी मुनि को उसके संघ के आचार्य दूसरे संघ के आचार्य के पास भेज देते हैं। दूसरे संघ के आचार्य भी उसकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त नहीं देते, उसे तीसरे आचार्य के पास भेज देते हैं। इस तरह वह सात आचार्यों के पास जाता है। पुनः उसे इसी प्रकार लौटाया जाता है अर्थात सातवाँ आचार्य छठें के पास, छठा पाँचवें के पास क्रमशः वह प्रथम आचार्य के पास लौटता है तब प्रथम आचार्य उसे पूर्वोक्त प्रायश्चित्त देते हैं।

3. पारांचिक– जो तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, प्रवचन, संघ आदि की आशातना करता है, राज्य विरुद्ध आचरण करता है, राजा की स्वीकृति के बिना उसके मन्त्री आदि को दीक्षा देता है, राजकुल की नारी का सेवन करता है और इसी प्रकार के अन्य कार्यों से धर्म को दूषित करता है उसको पारांचिक प्रायश्चित्त इस प्रकार दिया जाता है।

चतुर्विध श्रमण संघ एकत्र होकर उसे बुलाता है और कहता है यह पातकी महापापी है, ऐसी घोषणा करके अनुपस्थान प्रायश्चित्त देकर देश से निकाल देते हैं। वह भी अपने धर्म से रहित क्षेत्र में रहकर आचार्य के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को वहन करता है।

पारांचिक प्रायश्चित्त करने वाला नियम से आचार्य ही होता है इसीलिए वह अन्य गणों में जाकर प्रायश्चित्त करता है। क्योंकि अपने गण में करने से शिष्यवर्ग यह जान सकते हैं कि गुरु ने अपराध किया है।[32]

श्वेताम्बर परम्परा भी पारांचिक प्रायश्चित्त का अधिकारी आचार्य को माना गया है किन्तु वहाँ अपराधी आचार्य को हमेशा के लिए संघ से बहिष्कृत कर देते हैं।

पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष

पारांचिक के स्वरूप में मतान्तर है। सामान्य मत के अनुसार अमुक अपराधी भिक्षु को सदा के लिए संघ से बहिष्कृत कर देना पारांचिक प्रायश्चित्त है।

दूसरे मत के अनुसार अन्योन्यकारकता, मूढ़ता, दुष्टता और तीर्थंकर आदि की आशातना करने से तीव्र संक्लेश परिणामी श्रमण को जघन्यत: छह महीना और उत्कृष्टत: बारह वर्ष तक शास्त्रोक्त उपवास आदि तप द्वारा सम्पूर्ण अतिचारों से रहित करके पुनर्दीक्षा देना पारांचिक प्रायश्चित्त कहलाता है।[33]

तीसरे मत के अनुसार स्वलिंग भेदी (मुनि हत्या अथवा श्रमणी के साथ सम्भोग आदि करने वाला), चैत्यभेदी (जिन प्रतिमा या चैत्य का विनाश करने वाला), प्रवचन उपघाती जीव इस भव में और पर भव में चारित्र के अयोग्य होता है। यह परिभाषा प्रथम मत का समर्थन करती है इसलिए वह पारांचिक है।

आचार्य हरिभद्रसूरि अन्य मत का पोषण करते हुए कहते हैं कि परिणामों की विचित्रता से अथवा मोहनीय आदि कर्मों का निरूपक्रम बन्ध होने से इस भव में और पर भव में चारित्र प्राप्ति की अयोग्यता हो सकती है इसलिए अन्य आचार्यों का मत संगत ही है।[34]

इस प्रकार पारांचिक प्रायश्चित्त मुख्यत: दो प्रकार से दिया जाता है।

दोष– पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य कौन से अपराध हैं? इसकी चर्चा करते हुए विधिमार्गप्रपा[35] एवं आचारदिनकर[36] आदि में कहा गया है कि जो अत्यंत अहंकार एवं क्रोध के कारण हमेशा अरिहंत परमात्मा, आगम, आचार्य, श्रुतज्ञ, गुणीजनों की आशातना करे, स्वलिंग या परलिंग में स्थित होने पर भी दुष्ट प्रकृति से युक्त हो, अत्यधिक कषायी हो, इन्द्रिय विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखता हो, गुरु आज्ञा का लोप करने वाला हो, राजा की रानी (अग्रमहिषी) एवं गुरु की पत्नी को भोगने वाला हो, मुनि या राजा आदि का वध करने वाला हो, जिसके दोष जन-सामान्य में प्रकट हो चुके हों, स्त्यानगृद्धि-निद्रा के उदय से महादोष वाला हो, काम-भोग संबंधी प्रवृत्तियों में निरत हो, दुराचरण का आदर करने वाला हो, सप्त व्यसनों में संसक्त हो, परद्रव्य को हरण करने के लिए तैयार हो, परद्रोह करने वाला हो, नित्य पैशुन्य का सेवन करने वाला हो, अंगुष्ट-कुड्यम आदि प्रश्नशास्त्रों का बारम्बार प्रयोग

करने वाला हो, गण में फूट डालता हो अथवा उस तरह की योजना में निरत हो– उसे पारांचिक प्रायश्चित्त दिया जाता है, क्योंकि ये सभी पारांचिक प्रायश्चित्त संबंधी अपराध हैं।

यह प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य की तरह लिंग, क्षेत्र, काल एवं आचार की अपेक्षा चार प्रकार से दिया जाता है– द्रव्य की अपेक्षा उसे वसति, निवास, वाटक, वृन्द, नगर, ग्राम, देश, कुल, संघ, गण से बाहर करें तथा इनमें प्रवेश न करने दें। क्षेत्र की अपेक्षा जिसने जिस दोष का सेवन जहाँ किया हो उसे वहीं पारांचिक प्रायश्चित्त दें। काल की अपेक्षा पूर्व में जितने काल तक उसने पाप का सेवन किया हो उतने समय का उसे पारांचिक प्रायश्चित्त दें। आचार की अपेक्षा निर्धारित काल के बीच उससे तपस्या करवायें। इसी के साथ वह अपराधी मुनि मौनपूर्वक एकाकी रहे, ध्यान करे, फेंकने योग्य आहार को ग्रहण करे।

दिगम्बर साहित्य में दसवें प्रायश्चित्त का नाम 'श्रद्धान' है। अनगारधर्मामृत के अनुसार जिस मुनि ने अपना धर्म छोड़कर मिथ्यात्व को अंगीकार कर लिया हो उसे दुबारा दीक्षा देना श्रद्धान प्रायश्चित्त है। इसको उपस्थापन भी कहते हैं।[37]

यहाँ ज्ञातव्य है कि उक्त प्रायश्चित्त के दस प्रकार व्यवहारनय से कहे गये हैं। परमार्थ से प्रायश्चित्त के भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं क्योंकि दोष प्रमाद से होता है और आगम में व्यक्त और अव्यक्त प्रमादों के असंख्यात लोक प्रमाण भेद कहे गये हैं अत: उनसे होने वाले अपराधों की विशुद्धि के भी उतने ही भेद होते हैं, किन्तु यहाँ सामूहिक रूप से प्रायश्चित्त का कथन किया गया है।

प्रायश्चित्त दान के अधिकारी

आगमिक टीकाओं के अनुसार प्रायश्चित्त देने का अधिकार निम्न साधुओं को है–

केवलज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदह पूर्वी, दस पूर्वी, नौ पूर्वी, बृहत्कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र एवं निशीथसूत्र के ज्ञाता, भद्रबाहुस्वामीकृत निर्युक्ति के धारक, निशीथ-कल्प और व्यवहार सूत्रों की पीठिका के धारक, आज्ञाव्यवहारी, धारणाव्यवहारी और जीतव्यवहारी– ये सभी प्रायश्चित्त देने के अधिकारी होते हैं। इस दुषमकाल में उक्त अधिकारियों में से बहुत कम का अस्तित्व रह गया है। इस स्थिति में सामान्यतया प्रायश्चित्त दान का अधिकारी आचार्य को माना गया है यद्यपि परिस्थिति विशेष में श्रुतस्थविर, पर्यायस्थविर,

गीतार्थ आदि मुनि भी इसका व्यवहार कर सकते हैं। यदि अपराध एवं अपराधी विशिष्ट प्रकार के हो तो सम्पूर्ण संघ भी प्रायश्चित्त का विधान करता है। पारांचिक प्रायश्चित्त सामान्यतया संघ अनुमति से दिया जाता है।[38]

कौन, किस प्रायश्चित्त का अधिकारी?

पूर्वोक्त प्रायश्चित्त के दस प्रकारों में से प्रारम्भ के छह- आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, कायोत्सर्ग और तप प्रायश्चित्त गृहस्थ एवं मुनि दोनों को दिये जाते हैं, सातवाँ छेद एवं आठवाँ मूल- ये दोनों प्रायश्चित्त सामान्य साधु को देने का विधान है, नौवाँ अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त उपाध्याय को और दसवाँ पारांचिक प्रायश्चित्त सामर्थ्यवान आचार्य को देने का नियम है। इस प्रकार दसविध प्रायश्चित्त के अधिकारी भिन्न-भिन्न हैं।

व्यवहारभाष्य में आचारविशुद्धि की तरतमता के आधार पर निर्ग्रन्थ (मुनि) के पंचविध भेदों की अपेक्षा पूर्वोक्त दस प्रायश्चित्त के अधिकारी की चर्चा की गई है। निर्ग्रन्थ के पाँच प्रकार हैं- पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। इनके प्रायश्चित्त का क्रम इस प्रकार है[39]-

- पुलाक मुनि को प्रथम के छह प्रायश्चित्त दिये जाते हैं-आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप।
- बकुश और प्रतिसेवनाकुशील- इन दोनों प्रकार के मुनियों को दस तथा यथालंदकल्पी और जिनकल्पी के लिए प्रथम आठ प्रायश्चित्त विहित हैं।
- निर्ग्रन्थ के लिए आलोचना और विवेक तथा पाँचवें स्नातक (केवली) के लिए केवल विवेक प्रायश्चित्त का विधान है।

चारित्र धारण की अपेक्षा दसविध प्रायश्चित्त के अधिकारी निम्न हैं-

चारित्र के पाँच प्रकार हैं- सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात।

- स्थविरकल्पी सामायिकधारी मुनि के छेद एवं मूल को छोड़कर आठ तथा छेदोपस्थापनीय मुनि के दस प्रायश्चित्त होते हैं।
- जिनकल्पी सामायिकधारी मुनि के तप पर्यंत छह तथा छेदोपस्थापनीय मुनि के मूल पर्यन्त आठ प्रायश्चित्त होते हैं।
- स्थविरकल्पी परिहारविशुद्धि मुनि के लिए प्रथम आठ तथा जिनकल्पी परिहारविशुद्धि मुनि के लिए प्रथम छह प्रायश्चित्तों का विधान है।

• सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्री के लिए आलोचना और विवेक– ये दो प्रायश्चित्त होते हैं।

मन:पर्यवज्ञानी एवं आचार्य आदि को ही प्रायश्चित्त देने का अधिकार क्यों?

जैन परम्परा में प्रायश्चित्त देने का अधिकार कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों को ध्यान में रखकर किया गया है। मन:पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, केवली, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी और नवपूर्वी– ये प्रत्यक्षज्ञानी होते हैं। अत: अपराधी के अध्यवसायों की हानि-वृद्धि को साक्षात जानकर समान अपराध होने पर भी राग-द्वेष की मात्रा के अनुरूप न्यूनाधिक प्रायश्चित्त देते हैं।

परोक्षज्ञानी आचार्य अपराधी के भावों को पश्चात्ताप आदि बाह्य चिह्नों से जान लेते हैं जैसे– हा! मैंने गलत किया, गलत करवाया, गलत अनुमोदन किया, स्वार्थवश गलत को सही माना– इस प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए प्रकम्पित चित्त द्वारा मनोभावों को एवं राग-द्वेष की तरतमता को भलीभाँति जान लेते हैं और तदनुरूप न्यूनाधिक प्रायश्चित्त भी देते हैं। यदि राग-द्वेषात्मक अध्यवसायों की मन्दस्थिति में अपराध किया हो तो स्वल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है। इससे भिन्न जो जिन प्ररूपित वचनों में अश्रद्धा करता है, आलोचना काल में हर्षित होता है उसे उत्तरोत्तर अधिक प्रायश्चित्त दिया जाता है।[40]

सामान्य श्रमण, अपराधी की यथार्थ स्थिति और अपराध काल की परिस्थिति को नहीं जान सकता है किन्तु आचार्यादि में धृतिबल, देहबल, श्रुतबल, तपोबल, संयमबल आदि अनेक विशिष्टताएँ होती हैं जिससे उनका अनुमान ज्ञान एवं अनुभव ज्ञान स्वर्ण की कसौटी पर खरा उतरे वैसा सिद्ध होता है।

वर्तमान काल में कितने प्रायश्चित्त प्रवर्तित हैं?

व्यवहारभाष्य के उल्लेखानुसार–

दस ता ता अणुसज्जंती, जा चोछसपुव्वि पढमसंघयणं।
तेण परेणऽठविहं, जा तित्थं ताव बोधव्वं।।

चौदहपूर्वी एवं प्रथम संहननधारी मुनियों के शासन काल में दसों प्रायश्चित्त विद्यमान रहते हैं। उनका अभाव होने पर नौवाँ अनवस्थाप्य और दसवाँ पारांचिक ये दोनों अंतिम प्रायश्चित्त विच्छिन्न हो जाते हैं। इस कालखण्ड

के अन्तिम चौदह पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के समय से ही दोनों प्रायश्चित्त लुप्त हो चुके हैं। शेष प्रायश्चित्त जब तक जिनशासन है तब तक रहेंगे। इस तरह वर्तमान में आठ प्रायश्चित्त प्रवर्त्तमान हैं।[41]

प्रायश्चित्त के प्रकारान्तर

दोषों की तरतमता एवं विभिन्नता के आधार पर प्रायश्चित्त के निम्न चार भेद भी बताये गये हैं[42]–

1. **प्रतिसेवना**– निषिद्ध-अकल्प्य आचार का समाचरण करना प्रतिसेवना कहलाता है।

2. **संयोजना**– शय्यातरपिंड, राजपिंड आदि भिन्न-भिन्न अपराधजन्य प्रायश्चित्तों की संकल्पना करना संयोजना है।

3. **आरोपणा**– एक दोष से प्राप्त प्रायश्चित्त में दूसरे दोष के आसेवन से प्राप्त प्रायश्चित्त का आरोपण करना आरोपणा कहा जाता है।

4. **परिकुंचना**– बड़े दोषों को कपट पूर्वक छोटे दोष के रूप में बताना परिकुंचना प्रायश्चित्त है।

1. प्रतिसेवना प्रायश्चित्त

'प्रतिसेवना' जैन आचार विज्ञान का एक पारिभाषिक शब्द है। अभिधान-राजेन्द्रकोश में 'प्रतिसेवना' का शाब्दिक अर्थ करते हुए कहा है– 'प्रतिसेव्यते इति प्रतिसेवना, प्रीतपं सेवना प्रतिसेवना, प्रतिषिद्धस्य सेवना प्रतिसेवना'[43] प्रतिषिद्ध, निषिद्ध या अनाचारणीय आचरण करना प्रतिसेवना है तथा उसकी शुद्धि के लिए जो आलोचना-प्रतिक्रमण आदि किये जाते हैं, उसे प्रतिसेवना प्रायश्चित्त कहते हैं।

प्रतिसेवना के मुख्य दो रूप बताये गये हैं– दर्पिका और कल्पिका।[44] मूलगुण एवं उत्तरगुण की अपेक्षा से इनके भी दो-दो भेद निरूपित हैं।[45] प्रमादभाव से किया जाने वाला अपवाद सेवन दर्प होता है और वही अप्रमाद भाव से किया जाने पर कल्प-आचार हो जाता है। ज्ञान आदि की अपेक्षा से किया जाने वाला अकल्प सेवन भी कल्प है।[46]

यह प्रतिसेवना द्रव्य-भाव भेद से दो प्रकार की है– द्रव्यमयी और भावमयी। मात्र द्रव्यमयी दृष्टि से पदार्थ सेवन करना द्रव्यमयी प्रतिसेवना है और भाव से उपयोग करना वह भावमयी प्रतिसेवना है।

जीव के भाव अध्वयसाय दो प्रकार के हैं- कुशल और अकुशल अर्थात शुभ और अशुभ। जहाँ शुभ भावों से वस्तु का सेवन किया जाता है, वह कल्प प्रतिसेवना है और जहाँ अशुभ भावों से वस्तु का सेवन किया जाता है, वह दर्प प्रतिसेवना है।[47]

राग-द्वेष पूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना (निषिद्ध आचरण) दर्पिका है एवं राग-द्वेष से रहित प्रतिसेवना कल्पिका कहलाती है और यह निर्दोष है। कल्पिका में संयम की आराधना है और दर्पिका में निश्चित ही संयम की विराधना है।[48]

दर्पिका प्रतिसेवना के भेद- दर्प प्रतिसेवना दस प्रकार की होती हैं-[49]

1. **दर्प प्रतिसेवना-** अहंकारवश, आगम निषिद्ध, प्राणातिपात आदि जो दोष सेवन किये जाते हैं और जिससे संयम की विराधना होती है, उसे दर्प प्रतिसेवना कहते हैं।
2. **प्रमाद प्रतिसेवना-** मद्यपान, विषयाकांक्षा, कषाय, निद्रा, एवं विकथा- इन पाँच प्रकार के प्रमादों के कारण होने वाली संयम की विराधना प्रमाद प्रतिसेवना कही जाती हैं।
3. **अनाभोग प्रतिसेवना-** अनुपयोग या अज्ञानवश जो संयम विराधना होती है, वह अनाभोग प्रतिसेवना है।
4. **आतुर प्रतिसेवना-** क्षुधा, पिपासा आदि कष्ट से व्याकुल होकर की जाने वाली संयम विराधना आतुर प्रतिसेवना कही जाती हैं।
5. **आपत् प्रतिसेवना-** किसी तरह की आपत्ति, उपद्रव या संकटकालीन परिस्थिति के होने पर निषिद्ध का सेवन करने से होने वाली संयम विराधना 'आपत् प्रतिसेवना' कही जाती है। यह दोष निम्न चार प्रकार की आपत्तियों में लगता है-
   - **द्रव्यापत्ति-** निर्दोष आहार आदि न मिलने पर।
   - **क्षेत्रापत्ति-** अटवी, समुद्र तट आदि भयंकर स्थानों में रहने की स्थिति में।
   - **कालापत्ति-** दुर्भिक्ष आदि पड़ने पर।
   - **भावापत्ति-** शरीर के रोगग्रस्त हो जाने पर।
6. **शङ्कित प्रतिसेवना-** शुद्ध आहार आदि में किसी दोष की शंका हो जाने पर भी उसे ग्रहण कर लेना शङ्कित प्रतिसेवना कहलाती है अथवा

अभिमान से किये कार्य का आवेश पूर्वक प्रायश्चित्त करना विंतिणा प्रतिसेवना है। जैसे- प्रतिकूल संयोग होने पर अग्नि में से तिंतिण शब्द करती हुई चिनगारियाँ निकलती है, वह द्रव्य तिंतिण है और आहार आदि नहीं मिलने पर अथवा अरुचिकर पदार्थ के उपलब्ध होने पर मानसिक व्याकुलता या झुंझलाहट होना भावतिंतिण है।

7. **सहसाकार प्रतिसेवना–** आकस्मात कोई कार्य उपस्थित हो जाने पर बिना सोचे समझे अनुचित कार्य कर लेना सहसाकार प्रतिसेवना है।
8. **भय प्रतिसेवना–** राजा, मनुष्य, चोर आदि के भय से जिन दोषों का सेवन किया जाता है वह भय प्रतिसेवना है। जैसे- राजा के अभियोग से मार्ग आदि दिखा देना अथवा सिंह आदि हिंसक पशुओं के भय से वृक्षारुढ होना आदि।
9. **प्रद्वेष प्रतिसेवना–** किसी के प्रति द्वेष या ईर्ष्या से (मिथ्या आरोप लगाकर) संयम की विराधना करना प्रद्वेष प्रतिसेवना कहलाती है।
10. **विमर्श प्रतिसेवना–** नव दीक्षित शिष्य आदि की परीक्षा के लिए की गयी संयम विराधना विमर्श प्रतिसेवना कहलाती है।

कल्पिका प्रतिसेवना के भेद– परिस्थितिवश निषिद्ध का आचरण करने पर भी संयम की विराधना नहीं होती उसे 'कल्पिक प्रतिसेवना' कहते हैं। यह प्रतिसेवना कारणों के भेद से निम्न चौबीस प्रकार की कही गई हैं- दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, प्रवचन, समिति, गुप्ति, साधर्मिक-वात्सल्य, कुल, गण, संघ, आचार्य, असमर्थ, ग्लान, असन, वृद्ध, जल, अग्नि, चोर, श्वपद, भय, कान्तार, आपत्ति और व्यसन। इन 24 कारणों के उपस्थित होने पर यदि दोषों का सेवन किया जाता है तो वह कल्प प्रतिसेवना कहलाता है।[50]

इस सम्बन्ध में अभिधानराजेन्द्रकोश में कहा गया है- जो साधक किसी विशिष्ट ज्ञान-दर्शन आदि की प्राप्ति के उद्देश्य से अपवाद या निषिद्ध मार्ग का आचरण भी करता है, तब भी वह मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है। वस्तुत: कर्मबन्ध तो जीव की भावनाओं पर आधारित होता है।[51]

2. संयोजना प्रायश्चित्त

मुनि के द्वारा आहार ग्रहण करते समय घी, गुड़ आदि का मिश्रित हो जाना अथवा शय्यातरपिण्ड, राजपिण्ड आदि ग्रहण करने पर जो दोष लगता है, उसे

संयोजना दोष कहते हैं। उसकी शुद्धि हेतु किया जाने वाला प्रायश्चित्त संयोजना (संजोयणा) प्रायश्चित कहलाता है।[52]

3. आरोपणा प्रायश्चित्त

अपराधी को जिस अपराध का प्रायश्चित्त दे दिया गया है उस अपराध का पुनः पुनः सेवन करने पर उसी प्रायश्चित्त में बार-बार वृद्धि करना, आरोपणा प्रायश्चित्त कहलाता है जैसे- किसी मुनि को पाँच दिन के उपवास का प्रायश्चित्त दिया। उस प्रायश्चित्त तप को वहन करते हुए यदि मुनि के द्वारा पुनः उसी अपराध का सेवन कर लिया जाए तो उसके प्रायश्चित्त को 5 दिन, 10 दिन, 15 दिन यावत छः माह तक बढ़ाना आरोपणा प्रायश्चित्त है। इसके पाँच भेद हैं- 1. प्रस्थापिका, 2. स्थापिता, 3. कृत्स्ना, 4. अकृत्स्ना और 5. हाडहडा-किसी मुनि के द्वारा अपनी गलती का प्रायश्चित्त मांगने पर तत्काल दिया जाने वाला प्रायश्चित्त)।[53]

4. प्रतिकुंचना प्रायश्चित्त

किसी भी दोष का सेवन कर उसे अन्यथा कहना अथवा स्थूल दोष के स्थान पर अल्प दोष बताना परिकुंचना दोष कहलाता है। इस कपट वृत्ति का प्रायश्चित्त करना प्रतिकुंचना प्रायश्चित्त है। इसके चार विकल्प हैं-[54]

1. **द्रव्य प्रतिकुंचना-** सचित्त की प्रतिसेवना कर यह कहना कि मैंने अचित्त की प्रतिसेवना की है, यह द्रव्य संबंधी माया है।
2. **क्षेत्र प्रतिकुंचना-** जनपद में प्रतिसेवना कर ऐसा कहना कि मैंने मार्ग में प्रतिसेवना की है।
3. **काल प्रतिकुंचना-** सुर्भिक्ष में प्रतिसेवना करके कहे कि मैंने दुर्भिक्ष में प्रतिसेवना की है।
4. **भाव प्रतिकुंचना-** स्वस्थ अवस्था में प्रतिसेवना कर इस रूप में आलोचना करे कि मैंने ग्लान अवस्था में प्रतिसेवना की है।

प्रायश्चित्त दान योग्य उपवास आदि तपों के अन्य मानदंडों की तालिका

व्यक्ति की शारीरिक आदि योग्यताएँ एवं अभिरुचि के आधार पर जैन धर्म में आत्म विकास के दो मार्गों का प्रतिपादन है- उत्सर्ग और अपवाद। समर्थ

साधकों को उत्सर्ग मार्ग का सेवन करना चाहिए। प्रायश्चित्त दान में उत्सर्गत: उपवास और उपवास से अधिक बेला, तेला आदि तप ही दिया जाता है किन्तु इस दुषम काल में धृतिबल-संहननबल आदि का क्रमश: ह्रास होने के कारण उत्सर्ग मार्ग का अनुसरण करना शक्य नहीं है। इन्हीं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पूर्वाचार्यों ने उपवास आदि तप की परिपूर्ति के बराबर उससे अल्पतर तपों का प्रावधान भी किया है जिसके समाचरण से प्रत्येक साधक अपवाद तप का सेवन करते हुए भी उत्सर्ग तप को परिपूर्ण कर सकता है।

महानिशीथ के दूसरे अध्ययन, झीणी चर्चा तथा तात्त्विक ढाल-8 के अनुसार उपवास आदि के अन्य मानदंडों की तालिका इस प्रकार है[55]–

- 1200 गाथाओं का स्वाध्याय
  1600 नवकार मन्त्र का जाप अथवा
  2000 गाथाओं का वांचन = एक उपवास
- 45 नवकारसी = एक उपवास
  12 पुरिमड्ढ = एक उपवास
  10 अवड्ढ = एक उपवास
  6 नीवि = एक उपवास
  4 एकासन = एक उपवास
  2 आयंबिल = एक उपवास
- आगम की 8 गाथाओं का अर्थ सहित चिंतन करना = एक उपवास

  आगम की 13 गाथाओं का अर्थ सहित चिंतन करना = दो उपवास

  आगम की 20 गाथाओं का अर्थ सहित चिन्तन करना = एक बेला

  आगम की 40 गाथाओं का अर्थ सहित चिन्तन करना = एक तेला

  आगम की 60 गाथाओं का अर्थ सहित चिन्तन करना = एक चोला

आगम की 80 गाथाओं का अर्थ सहित चिन्तन करना
= एक पंचोला
आगम की 100 गाथाओं का अर्थ सहित चिन्तन करना
= छह उपवास

इसी तरह बीस-बीस गाथाओं के ध्यान को बढ़ाते जायें तो उसकी तुलना में क्रमश: एक-एक उपवास अधिक समझना चाहिए।

• पोष या माघ महीने में पछेवड़ी (चद्दर) को बिना ओढ़े आगम की 13 गाथाओं का ध्यान करें तो एक उपवास, 25 गाथाओं का दो उपवास, 50 गाथाओं का चार उपवास और 100 गाथाओं का ध्यान करें तो दस उपवास उतरते हैं।

• पोष या माघ महीने की रात्रि में केवल आठ हाथ का वस्त्र पहने और ओढ़े तो प्रायश्चित्त रूप में प्राप्त एक तेला, तेईस हाथ ओढ़े-पहने तो एक बेला, अड़तीस हाथ ओढ़े-पहने तो एक उपवास उतरता है।

• वैशाख तथा ज्येष्ठ महीने में एक प्रहर तक आतापना ली जाए तो एक तेला उतरता है।

आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में अत्यन्त असमर्थ एवं तप विमुख अपराधियों के लिए नवकारसी आदि तपों की तुलना नमस्कारमन्त्र के साथ की गई है। जो व्यक्ति किसी तरह की तपश्चर्या नहीं कर सकते हैं वे निर्धारित नमस्कार मन्त्र का जाप करके भी प्रायश्चित्त रूप में प्राप्त तपस्या की आपूर्ति कर सकते हैं।

आचार दिनकर वर्णित तालिका इस प्रकार है[56]–

• 44 बार नमस्कार मन्त्र का जाप करने से डेढ़ नवकारसी या एक अर्द्धपौरुषी का लाभ मिलता है। इससे प्रायश्चित्त के रूप में दिया गया उतना तप उतरता है।

• 83 बार नमस्कार मन्त्र का जाप करने से दो अर्द्धपौरुषी अथवा एक पौरुषी का लाभ मिलता है।

• 125 बार नमस्कार मन्त्र का जाप करने से तीन अर्द्धपौरुषी अथवा एक पुरिमड्ढ का लाभ मिलता है।

• 200 बार नमस्कार मन्त्र का जाप करने से चार अर्द्धपौरुषी, ढ़ाई पौरुषी अथवा एक पुरिमड्ढ का या दो पाद कम एक अवड्ढ का लाभ मिलता है।

• 250 बार नमस्कार मन्त्र का जाप करने से छह अर्द्ध पौरुषी, एक पाद कम तीन पौरुषी, दो पुरिमड्ढ, डेढ अपराह्न अथवा एक बियासना का लाभ मिलता है।

• 500 बार नमस्कार मन्त्र का जाप करने से सवा छह पौरुषी, चार पुरिमड्ढ, ढाई अवड्ढ, दो बियासना अथवा एक एकासन का लाभ मिलता है।

• 667 बार नमस्कार मन्त्र का जाप करने से पन्द्रह अर्द्धपौरुषी, आठ पौरुषी, साढ़े पाँच पुरिमड्ढ, साढ़े तीन अवड्ढ, तीन बियासना, डेढ़ एकासना अथवा एक नीवि का लाभ मिलता है।

• 1000 बार नमस्कार मन्त्र का जाप करने से बाईस अर्द्ध पौरुषी, बारह पौरुषी से कुछ अधिक, आठ पुरिमड्ढ, पाँच अवड्ढ, चार बियासना, दो एकासना, डेढ़ नीवि अथवा एक आयम्बिल का लाभ मिलता है।

• 2000 बार नमस्कार मन्त्र का जाप करने से पैंतालीस अर्द्धपौरुषी, चौबीस पौरुषी, सोलह पुरिमड्ढ, तीन नीवि, दो आयंबिल अथवा एक उपवास का लाभ मिलता है।

जिस प्रकार गुरुव्रत अर्थात बड़ा तप करने पर लघुव्रत का उसी में समावेश हो जाता है उसी प्रकार लघुव्रत से भी गुरुव्रत पूर्ण हो जाता है। प्रायश्चित्त एवं उपधान सम्बन्धी तपों में यह परिवर्तन अर्थात गुरुव्रत के स्थान पर लघुव्रत अशक्ति आदि होने पर ही करना चाहिए। यदि शक्ति हो तो लघुव्रत सहित गुरुव्रत करें। तप सम्बन्धी विधानों एवं अन्य कार्यों में जो तप कहा गया है, उसे वैसे ही करें। उनमें मानदंडों की तालिका का उपयोग नहीं कर सकते हैं।

आचारांगनिर्युक्ति के अनुसार उपवास के अन्य मानदंडों का कोष्ठक इस प्रकार है[57]–

• एक उत्कृष्ट आयंबिल करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।

यहाँ उत्कृष्ट आयंबिल का तात्पर्य– केवल उबले हुए चावल और गर्म किया गया पानी– ऐसे दो द्रव्यों को ग्रहण करना है।

• दो अनुत्कृष्ट आयंबिल करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।

• पैंतालीस नवकारसी करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।

• चौबीस पौरुषी करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।

• दो अवड्ढ करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।

- तीन नीवि करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।
- चार एकलठाणा करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।
- सोलह पुरिमड्ढ करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।
- चार एकासना करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।
- आठ बियासना करने पर एक उपवास बराबर तप होता है।

उपाध्याय क्षमाकल्याणजी (वि.सं. 18वीं शती) विरचित प्रायश्चित्त विधि में एक उपवास के बराबर नवकारसी आदि तप की गणना इस प्रकार की गई है–[58]

48	नवकारसी	=	एक उपवास
24	पौरुषी	=	एक उपवास
20	साढपौरुषी	=	एक उपवास
8	चौविहार युक्त पुरिमड्ढ	=	एक उपवास
12	तिविहार युक्त पुरिमड्ढ	=	एक उपवास
16	दुविहार युक्त पुरिमड्ढ	=	एक उपवास
10.	तिविहार युक्त अवड्ढ	=	एक उपवास
4	एकासना	=	एक उपवास
3	नीवि	=	एक उपवास
2	आयंबिल	=	एक उपवास

उपाध्याय क्षमाकल्याणजी महाराज ने उपवास एवं स्वाध्याय के अन्य मानदंड की दूसरी तालिका इस प्रकार दर्शायी है[59]–

- प्रतिदिन सौ गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 36 हजार का स्वाध्याय होता है।
- प्रतिदिन दो सौ गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 72 हजार का स्वाध्याय होता है।
- प्रतिदिन तीन सौ गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 1 लाख 8 हजार का स्वाध्याय होता है।
- प्रतिदिन चार सौ गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 1 लाख 44 हजार का स्वाध्याय होता है।

- प्रतिदिन पाँच सौ गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 1 लाख 80 हजार का स्वाध्याय होता है।
- प्रतिदिन छह सौ गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 2 लाख 16 हजार का स्वाध्याय होता है।
- प्रतिदिन सात सौ गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 2 लाख 52 हजार का स्वाध्याय होता है।
- प्रतिदिन आठ सौ गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 2 लाख 88 हजार का स्वाध्याय होता है।
- प्रतिदिन नौ सौ गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 3 लाख 24 हजार का स्वाध्याय होता है।
- प्रतिदिन हजार गाथा का स्वाध्याय करने पर = एक वर्ष में 3 लाख 60 हजार का स्वाध्याय होता है।
- प्रतिदिन बियासना तप करने पर = एक वर्ष में 46 उपवास परिमाण तप होता है।
- प्रतिदिन एकासना तप करने पर = एक वर्ष में 91 उपवास परिमाण तप होता है।
- पंचमी, अष्टमी एवं चतुर्दशी- इन तिथियों में एकासना तथा अन्य दिनों में बीयासना करने पर = एक वर्ष में 53 उपवास परिमाण तप होता है।
- पंचमी वर्जित अष्टमी एवं चतुर्दशी की तिथियों में एकासना तथा अन्य दिनों में बीयासना करने पर = एक वर्ष में 51 उपवास परिमाण तप होता है।
- पंचमी, अष्टमी व चतुर्दशी- इन तिथियों में नीवि करने पर = एक वर्ष में 15 उपवास परिमाण तप होता है।
- पंचमी वर्जित अष्टमी एवं चतुर्दशी की तिथियों में नीवि करने पर = एक वर्ष में 12 उपवास परिमाण तप होता है।

प्रायश्चित्त दान (तपदान) के विभिन्न प्रकार एवं उसके विविध प्रतीकाक्षर

जैन परम्परा के अनुसार ज्ञात-अज्ञात में कोई भी अपराध या दुष्कर्म हो जाए तो आचार एवं भाव विशुद्धि के ध्येय से एकासना, नीवि, आयंबिल, उपवास, बेला आदि तप करने का विधान है। इस कलिकाल में संघयण बल आदि का क्षीण होता प्रभाव एवं देश-कालगत परिस्थितियों के कारण तप दान की प्रक्रिया में कालक्रम से कई परिवर्तन आए हैं। हमें इस सम्बन्ध में जितनी जानकारी प्राप्त हो पाई है वह इस प्रकार उल्लिखित है–

- **निशीथसूत्र के उपलब्ध संस्करण के अनुसार प्रायश्चित्त दान यंत्र**

पराधीनता में या असावधानी में होने वाले अपराध आदि का प्रायश्चित्त–

क्रम	प्रायश्चित्त नाम	जघन्य तप	मध्यम तप	उत्कृष्ट तप
1.	लघुमास	चार एकाशना	पन्द्रह एकाशना	सत्ताईस एकाशना
2.	गुरुमास	चार निर्विकृतिक	पन्द्रह निर्विकृतिक	तीस निर्विकृतिक
3.	लघु चौमासी	चार आयंबिल	साठ निर्विकृतिक	एक सौ आठ उपवास
4.	गुरु चौमासी	चार उपवास	चार छट्ठ (बेला)	एक सौ बीस उपवास अथवा चार मास दीक्षा पर्याय का छेद

आतुरता से लगने वाले अपराध आदि का प्रायश्चित्त

क्रम	प्रायश्चित्त नाम	जघन्य तप	मध्यम तप	उत्कृष्ट तप
1.	लघुमास	चार आयंबिल	पन्द्रह आयंबिल	सत्ताईस आयंबिल
2.	गुरुमास	चार आयंबिल एवं पारणे में धार विगय का त्याग	पन्द्रह आयंबिल एवं पारणे में धार विगय का त्याग	तीस आयंबिल एवं पारणे में धार विगय का त्याग
3.	लघु चौमासी	चार उपवास	चार छट्ठ (बेले)	एक सौ आठ उपवास
4.	गुरु चौमासी	चार छट्ठ या चार दिन का छेद	चार अट्ठम या छह दिन का छेद	एक सौ बीस उपवास या चार मास का छेद

तीव्र आसक्ति से लगने वाले दोषों का प्रायश्चित्त

क्रम	प्रायश्चित्त नाम	जघन्य तप	मध्यम तप	उत्कृष्ट तप
1.	लघुमास	चार उपवास	पन्द्रह उपवास	सत्ताईस उपवास
2.	गुरुमास	चार चौविहार उपवास	पन्द्रह चौविहार उपवास	तीस चौविहार उपवास
3.	लघु चौमासी	चार बेले, पारणे में आयंबिल	चार तेले, पारणे में आयंबिल	एक सौ आठ उपवास, पारणे में आयंबिल
4.	गुरु चौमासी	चार तेले और पारणे में आयंबिल या 40 दिन का दीक्षा छेद	पन्द्रह तेले और पारणे में आयंबिल या 60 दिन का दीक्षा छेद	एक सौ बीस उपवास और पारणे में आयंबिल अथवा पुनः दीक्षा अथवा 120 दिन का दीक्षा छेद।

सामान्य विवक्षा से जघन्य और उत्कृष्ट दो प्रकार के प्रायश्चित्तों में सभी प्रकार के प्रायश्चित्त समाविष्ट हो जाते हैं।

• **निशीथभाष्य में विशेष विवक्षा से तीन प्रकार के प्रायश्चित्त कहे गये हैं–** 1. जघन्य 2. मध्यम और 3. उत्कृष्ट। प्रतिसेवी की वय, सहिष्णुता और देश-काल के अनुसार गीतार्थ मुनि तालिका में कहे गए प्रायश्चित्त से हीनाधिक तप आदि दे सकते हैं।

एक उपवास के समकक्ष तप

1. अड़तालीस नवकारसी = एक उपवास
2. चौबीस पोरुषी = एक उपवास
3. सोलह डेढ़ पौरुषी = एक उपवास
4. आठ पुरिमार्ध (दो पौरुषी) = एक उपवास
5. चार एकाशन = एक उपवास
6. तीन नीवी = एक उपवास
7. दो आयंबिल = एक उपवास
8. दो हजार गाथाओं का स्वाध्याय = एक उपवास

• बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार प्रायश्चित्त दान-यंत्र

अपराधों एवं अपराधियों के भिन्नत्व के कारण भाष्यकार संघदासगणि ने प्रायश्चित्त की 9 कोटियाँ प्रतिपादित की है वह स्पष्टत: निम्न प्रकार हैं–[60]

	व्यवहार	प्रायश्चित्तपरिमाण	तप
1.	गुरुक	एक मास का प्रायश्चित्त	तेले-तेले के तप द्वारा पूर्ण किया जाता है।
2.	गुरुतरक	चार मास का प्रायश्चित्त	चोले-चोले के तप द्वारा पूर्ण किया जाता है।
3.	यथागुरुक	छह मास का प्रायश्चित्त	पंचोले-पंचोले के तप द्वारा पूर्ण किया जाता है।
4.	लघुक	तीस दिन का प्रायश्चित्त	बेले-बेले के तप द्वारा पूर्ण करते हैं।
5.	लघुतरक	पच्चीस दिन का प्रायश्चित्त	उपवास के तप द्वारा पूर्ण करते हैं।
6.	यथालघुक	बीस दिन का प्रायश्चित्त	आयंबिल तप के द्वारा पूर्ण करते हैं।
7.	लघुस्वक	पन्द्रह दिन का प्रायश्चित्त	एक स्थान (एकल ठाणा) से पूर्ण करते हैं।
8.	लघुस्वतरक	दस दिन का प्रायश्चित्त	पुरिमड्ढ तप के द्वारा पूर्ण करते हैं।
9.	यथालघुस्वक	पाँच दिन का प्रायश्चित्त	नीवि तप के द्वारा पूर्ण करते हैं।

इस यन्त्र में गुरुक, गुरुतरक आदि शब्द प्रायश्चित्त दान के प्रतीकाक्षर हैं। जब दण्ड दिया जाता है अथवा प्रायश्चित्त लिखा जाता है तब सांकेतिक अक्षर ही सुनाये या लिखे जाते हैं। उसके आधार पर उनका स्पष्ट बोध करवा देते हैं या गीतार्थ मुनि आदि श्रुत बल से स्वयं भी कर लेते हैं।

वस्तुत: प्रायश्चित्त एक गोपनीय विधि-प्रक्रिया है। सर्व सामान्य में इसका खुलासा नहीं किया जा सकता, किन्हीं आवश्यक परिस्थितियों में प्रतीकाक्षरों का ही उपयोग करते हैं।

यहाँ भाष्यकार ने दान यंत्र के अन्त में यह भी निर्दिष्ट किया है कि जिसे

यथा लघुस्वक प्रायश्चित्त प्राप्त है वह शुद्ध है, प्रायश्चित्त का भागी नहीं है तथा परिहार प्रायश्चित्त प्रतिपन्न मुनि को आलोचना देने मात्र से शुद्ध किया जाता है।

- **निशीथभाष्य चूर्णि में प्रायश्चित्त दान के कुछ प्रतीकाक्षर निम्न प्रकार हैं[61]–**

चउगुरु चउलहु सुद्धो, छल्लहु चउगुरग अंतिमो।
सुद्धो छग्गुरु, चउगुरु लहुओ...।।

ङ्का, ङ्क, सु, फ्रुं, ङ्का, सु, फ्रां, ङ्का, 0।
छि (ल)...छी(गु)...।

ङ्क	=	चतुर्लघु,	ङ्का	=	चतुर्गुरु
फ्रुं	=	षड्लघु,	फ्रां	=	षड्गुरु
0	=	लघुमास,	सु	=	शुद्ध
छियाल	=	लघु,	छीयागु	=	गुरु

- **व्यवहारभाष्य टीका में प्राप्त प्रायश्चित्त दान संबंधी कुछ सांकेतिक संज्ञाएँ निम्न हैं[62]–**

नक्खत्ते भे पीला, सुक्के मासं तवं कुणसु...

नक्षत्र, शुक्ल और कृष्ण– इन तीनों के सांकेतिक पद क्रमशः मास, लघुमास और गुरुमास के सूचक हैं।

- **दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि में प्रायश्चित्तदान के सांकेतिक पद संख्यावाची अर्थ के रूप में बताये गये हैं वह तालिका निम्नांकित है[63]–**

अंक	प्रतीकाक्षर	अंक	प्रतीकाक्षर
4	ण्का	13	र्लृ 3
5	र्तृ	14	र्लृण्का
6	फ्र	15	र्लृ र्तृ
7	र्ग्रा	16	र्लृ फ्र
8	ह्न	17	र्लृ र्ग्रा
9	ॐ	18	र्लृ ॐ
10	र्लृ	19	र्लृ र्लृ
11	र्लृ 1	20	र्लृ र्लृ
12	र्लृ 2	25	र्लृ र्लृ र्तृ

- **आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा में प्रायश्चित्त दान के संकेताक्षर निम्न रूप से उपदिष्ट हैं[64]–**

यहाँ तप प्रायश्चित्त का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि लघुपणग से लेकर गुरु छह मास तक बाईस प्रकार के तप होते हैं किन्तु वर्तमान में सात प्रकार के तप ही प्रवर्त्तित हैं वे सांकेतिक अक्षरों में इस प्रकार हैं–

पणग	=	नीवि	चतुःलघु	=	आयंबिल
मासलघु	=	पुरिमड्ढ	चतुःगुरु	=	उपवास
मासगुरु	=	एकासना	षड्लघु	=	बेला
			षड्गुरु	=	तेला

उपर्युक्त सात प्रकार के तप सांकेतिक अंकों में इस प्रकार हैं–

5	0	0	00	••	000	•••
			00	••	000	•••

पणग मासलघु मासगुरु चतुःलघु चतुःगुरु षट्लघु षट्गुरु

विधिमार्गप्रपा में तप प्रायश्चित्त के रूप में कल्लाण, एग कल्लाण, पंच कल्लाण आदि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उनका स्पष्टीकरण निम्नवत है–

कल्लाण – नीवि, पुरिमड्ढ, एकासना, आयंबिल और उपवास– इन पाँचों को सम्मिलित करने पर 'कल्लाण' कहलाता है।

एग कल्लाण – नीवि आदि पंचविध तप को अनुक्रमशः एक साथ करने पर एग कल्लाण बराबर तप होता है तथा एग कल्लाण जितना तप करने पर दो उपवास का लाभ मिलता है।

पंच कल्लाण – नीवि आदि पाँचों प्रकार के तप को पाँच से गुणा करने पर पंच कल्लाण बराबर तप होता है तथा पंच कल्लाण जितना तप करने पर दस उपवास का लाभ होता है।

- **आचार्य वर्धमानसूरि कृत आचारदिनकर में विभिन्न तपों की संज्ञाएँ और उनके सांकेतिक नाम इस प्रकार हैं[65]–**

1. पुरिमड्ढ = पूर्वार्द्ध, मध्याह्न, कालातिक्रम, लघु, विलम्ब और पितृकाल।
2. एकासना = पाद, यतिस्वभाव, प्राणाधार, सुभोजन, अरोग, परम और शान्त।

3. निर्विकृति = अरस, विरस, पूत, निस्नेह, यतिकर्म, त्रिपाद, निर्मद और श्रेष्ठ।
4. आयम्बिल = अम्ल, सजल, आचाम्ल, कामघ्न, द्विपाद, धातुकृत, शात और एकान्न।
5. उपवास = अनाहार, चतुष्पाद, युक्त, निष्पाप, उत्तम, गुरु, प्रशम और धर्म।
6. छट्ठ (निरन्तर दो दिन के उपवास) = पथ्य, पर, सम, दान्त और चतुर्थाख्या।
7. अट्ठम (निरन्तर तीन दिन के उपवास) = प्रमित, सुन्दर, कृत्य, दिव्य, मित्र और सिच।
8. चोला (निरन्तर चार दिन के उपवास) = धार्य, धैर्य, बल, और काम्य।
9. पचोला (निरन्तर पाँच दिन के उपवास) = दुष्कर, निर्वृति, और मोक्ष।
10. निरन्तर छह दिन के उपवास = सेव्य, पवित्र, विमल।
11. निरन्तर सात दिन के उपवास = जीव्य, विशिष्ट, विख्यात।
12. निरन्तर आठ दिन के उपवास = प्रवृद्ध, वर्द्धमान।
13. निरन्तर नौ दिन के उपवास = नव्य, रम्य, तारक।
14. निरन्तर दस दिन के उपवास = ग्राह्य, अन्तिम।

उपरोक्त तालिकाओं एवं यंत्रों के सन्दर्भ में यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि इनमें कुछ तालिकाएँ पूर्वाचार्यों द्वारा कालक्रम में आए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए उल्लिखित की गई हैं तथा कुछ प्रायश्चित्त दान संबंधी यन्त्र जीतसामाचारी के अनुसार कहे गये हैं। वर्तमान की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में लगभग विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर वर्णित प्रायश्चित्त दान का ही अनुवर्त्तन किया जाता है।

- **निशीथ टब्बा तथा जयाचार्य कृत झीणी चरचा, तात्त्विक ढाल 7 के आधार पर प्रायश्चित्तविधि-यन्त्र निम्न है–**

प्रायश्चित्त	प्रत्याख्यान	तप	छेद
भिन्नमास	नीवि 25	उपवास 25	25
लघुमास	पुरिमड्ढ 27	उपवास 27	27
गुरुमास	एकासन 30	उपवास 30	30
लघुचौमासी	आयंबिल 4	उपवास 105	105

गुरु चौमासी	उपवास 4	उपवास 120	120
लघु छहमासी	बेला 6	उपवास 165	165
गुरु छहमासी	तेला 6	उपवास 180	180

इस अध्याय के समाहार रूप में कहा जा सकता है कि प्रायश्चित्त एक आचार मूलक विधान है। प्रत्येक भव्य जीव के लिए यह जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है जीव की द्रव्य एवं भावदशा के अनुसार उसे प्रायश्चित्त देना। जैनाचार्यों ने अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक इस विषय पर चिंतन करते हुए प्रायश्चित्त दाता, प्रायश्चित्त प्रमाण, उसकी गोपनीयता आदि का विधान किया है। ताकि प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला अधिक से अधिक शुद्ध एवं परिपूर्ण प्रायश्चित्त ग्रहण कर सके। द्वितीय अध्याय में वर्णित अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त के माध्यम से जीव स्वयोग्य श्रेयस्कर मार्ग का चयन कर सकता है एवं उस पर अग्रसर होकर आत्मा की विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 10/73*
2. *व्यवहारभाष्य, मुनि दुलहराज, गा. 53*
3. *प्रवचनसारोद्धार, 98/750*
4. *पंचाशकप्रकरण, 16/2*
5. *मूलाचार, 1033*
6. *अनगारधर्मामृत, 7/37 की टीका*
7. *व्यवहारभाष्य, गा. 57*
8. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 79*
9. *आचारदिनकर, पृ. 6*
10. *तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, 9/22*
11. *तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/22*
12. *व्यवहारभाष्य, 58*
13. *वही, 97-98*
14. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 79*
15. *आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 242*
16. *व्यवहारभाष्य, गा. 99 की टीका*

17. (क) वही, 99-102, 104-106
    (ख) विधिमार्गप्रपा, पृ. 80
18. व्यवहारभाष्य, 110-113, 117-122
19. विधिमार्गप्रपा, पृ. 80
20. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 242-243
21. व्यवहारभाष्य, 121
22. वही, 125-126, 128-133
23. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 213-214
24. व्यवहारभाष्य, 707,710
25. वही, 502
26. विधिमार्गप्रपा, पृ. 80
27. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 247
28. बृहत्कल्पभाष्य, 711
29. पंचाशक प्रकरण, 16/22
30. विधिमार्गप्रपा, पृ. 80
31. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 247-248
32. अनगारधर्मामृत, 7/56
33. पंचाशकप्रकरण, 16/23
34. वही, 16/24
35. विधिमार्गप्रपा, पृ. 80
36. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 248
37. अनगारधर्मामृत, 7/57
38. व्यवहारभाष्य, 403-404 की टीका
39. वही, 4184-92
40. वही, 514-516
41. वही, 4181
42. वही, 36 की टीका
43. अभिधानराजेन्द्रकोश, 5/361
44. वही, 6/340

45. वही, 6/345
46. वही, 6/340, निशीथचूर्णि 92
47. (क) अभिधानराजेन्द्रकोश, 5/135, 361
    (ख) व्यवहारसूत्र वृत्ति-उद्देशक पहला
48. (क) अभिधानराजेन्द्रकोश, 6/426, 370
    (ख) बृहत्कल्पभाष्य 4943
    (ग) निशीथभाष्य, 363
49. अभिधानराजेन्द्रकोश, 5/136
50. वही, 6/915, 916
51. (क) अभिधानराजेन्द्रकोश, 7/778, 2/421, 5/1621,
    (ख) व्यवहारभाष्य पीठिका, 184
    (ग) ओघनिर्युक्ति, 57
52. (क) अभिधानराजेन्द्रकोश, 5/136, 7/120, 121, 122
    (ख) स्थानांग, 4/1
53. अभिधानराजेन्द्रकोश, 2/417, 418, 419, 5/135; 136
54. वही, 5/722, 723, 5/135; 136
55. श्री भिक्षु आगम विषय कोश, भा. 2, पृ. 405
56. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 242-244
57. उद्धृत– प्रायश्चित्तविधि, उपाध्याय क्षमाकल्याण, पृ. 9
58. वही, पृ. 9
59. वही, पृ. 9
60. गुरुओ गुरुअतराओ, अहागुरुओ य होइ ववहारो।
    लहुओ लहुयतराओ, अहालहू होइ ववहारो॥
    लहुसो लहुसतराओ, अहालहूसो अ होइ ववहारो।
    एतेसिं पच्छित्तं, वुच्छामि अहाणपुव्वीए॥
    गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरागो भवे चउम्मासो।
    अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥
    तीसा य पण्णवीसा, वीसा वि य होइ लहुयपक्खम्मि।
    पन्नरस दस य पंच य, अहालहुसगम्मि सुद्धो वा॥

गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुगतरागं च होति दसमं तु।
अहगुरुग दुवालसमं, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥
छट्ठं च चउत्थं वा, आयंबिल-एगठाण-पुरिमड्ढं।
निव्वीयं दायव्वं, अहालहुसगम्मि सुद्धो वा॥
बृहत्कल्पभाष्य, 6039-6044

61. *निशीथभाष्य, 6636, 161 की चूर्णि*
62. *व्यवहारभाष्य, 4490, 4493 की टीका*
63. *दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 250, 251*
64. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 80*
65. *आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 243*

●

अध्याय-3

प्रायश्चित्त दान की उपयोगिता एवं उसके प्रभाव

जिस क्रिया से चित्त विशुद्ध होता है अथवा जो आत्मशुद्धि का प्रशस्त हेतु है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। आवश्यकचूर्णि के अनुसार असत्य आचरण का अनुस्मरण कर उसके शोधन के लिए तदनुरूप दण्ड स्वीकार करना प्रायश्चित्त है।[1]

जैनाचार्यों ने प्रायश्चित्त के दस प्रकार बतलाये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि समस्त प्रकार के पाप कर्म इन दस के आचरण से आत्म पृथक् हो जाते हैं और आत्मा निजानन्द का अनुभव करती हुई शीघ्रमेव शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर लेती है। दसविध प्रायश्चित्तों में प्रत्येक का स्वतन्त्र अस्तित्व एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस विषय को उदाहरण से स्पष्ट किया है जिससे प्रायश्चित्त की आवश्यकता स्वत: सिद्ध हो जाती है। पंचाशकप्रकरण के अनुसार शरीर में तद्भव और आगन्तुक– ऐसे दो प्रकार के व्रण होते हैं। तद्भव अर्थात शरीर से उत्पन्न गाँठ आदि और आगन्तुक अर्थात काँटा आदि लगने से होने वाला व्रण। इसमें आगन्तुक व्रण (घाव) का शल्योद्धरण किया जा सकता है किन्तु तद्भव व्रण का नहीं।

जो काँटा पतला हो, तीक्ष्ण मुखवाला न हो और केवल त्वचा से ही लगा हो उस काँटे को सुगमता से बाहर खींच लिया जाता है किन्तु उस व्रण का मर्दन नहीं किया जाता।

जो काँटा शरीर में प्रथम प्रकार के शल्य से थोड़ा अधिक लगा हो किन्तु गहरा न हो– ऐसे काँटे को थोड़ा खींचकर निकाला जाता है और उस घाव का मर्दन भी किया जाता है किन्तु उसमें कर्णमल नहीं भरा जाता।

जो काँटा पूर्वापेक्षा अधिक गहरा लगा हो तो इस तीसरे प्रकार में शल्योद्धार, व्रणमर्दन और कर्णमल पूरण– ये तीनों प्रक्रियाएँ की जाती है।

चौथे प्रकार से चुभे हुए काँटे के स्थान पर शल्य निकालने के पश्चात दर्द नहीं हो, इसके लिए थोड़ा खून निकालते हैं।

पाँचवें प्रकार से चुभे हुए काँटे का व्रण जल्दी ठीक हो जाये, इसके लिए रोगी को चलने आदि की क्रिया का निषेध करते हैं।

छठे प्रकार से चुभे हुए काँटे में चिकित्सा शास्त्र के अनुसार पथ्य और अल्प भोजन द्वारा अथवा भोजन का सर्वथा त्याग करवाकर व्रण को सुखाते हैं।

सातवें प्रकार से चुभे हुए काँटे का शल्योद्धार करने के पश्चात उस जगह का दूषित मांस, पीप आदि निकाल दिया जाता है। यदि सर्प, बिच्छू आदि के डंक मारने से घाव हुआ हो अथवा वल्मीक जैसे रोगों में उक्त चिकित्सा से घाव ठीक नहीं होता हो तो शेष अंगों की रक्षा के लिए दूषित अंग को हड्डी के साथ काट दिया जाता है। यह द्रव्यव्रण समझना चाहिए।[2]

उत्कृष्ट चारित्रधारी मुनियों के द्वारा पृथ्वीकायिक आदि जीवों की विराधना होने से जो शल्य उत्पन्न होता है अर्थात पापकर्म रूपी काँटा पैदा होता है वह भावव्रण कहलाता है। भावव्रण की चिकित्सा के लिए दस प्रायश्चित्तों का निर्देश है। इस आध्यात्मिक रहस्य को सूक्ष्मबुद्धि से ही जाना जा सकता है। भावव्रण की चिकित्सा रूप दस प्रायश्चित्तों को द्रव्यव्रण के साथ घटित किया जा सकता है। इससे प्रत्येक प्रायश्चित्त का उपयोगी अस्तित्व समझ आ जाता है। वह संक्षेप में इस प्रकार है[3]–

1. गुरु को सूचित किये बिना परस्पर वाचना, परिवर्त्तना करने पर तथा वस्त्र आदि का आदान-प्रदान करने पर जो दोष लगता है उसे गुरु को कह देने मात्र से वह शुद्ध हो जाता है। यह प्रायश्चित्त प्रथम काँटे (शल्य) के समान है और उसकी आलोचना भी प्रथम शल्योद्धार के समान ही है। जिस प्रकार प्रथम शल्य में शल्योद्धार के अतिरिक्त अन्य उपाय आवश्यक नहीं होता उसी प्रकार दोषों के निराकरण में भी आलोचना के अतिरिक्त अन्य प्रायश्चित्त करना आवश्यक नहीं है।

2. समिति, गुप्ति आदि में अचानक नियमों का अतिक्रमण या भंग होने पर उनका स्मरण कर 'मिच्छामि दुक्कडं' देने (प्रतिक्रमण) से अपराधी शुद्ध हो जाता है। यह प्रतिक्रमण रूप भाव चिकित्सा द्वितीय प्रकार के शल्योद्धार में व्रण मर्दन तुल्य है।

3. मूलगुण अथवा उत्तरगुणों के अतिक्रमण में संदेह होने पर अथवा जानबूझकर अतिक्रमण करने पर 'तदुभय' से शुद्धि हो जाती है। यहाँ आलोचना

एवं प्रतिक्रमण तीसरे प्रकार के शल्य में व्रणमर्दन और कर्णमलपूरण चिकित्सा के समान है।

4. उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार ले लिया जाए और उसके पश्चात सही जानकारी प्राप्त हो तो उस आहार का विसर्जन करने से मुनि शुद्ध हो जाता है। यह विवेक प्रायश्चित्त रूप चिकित्सा चतुर्थ शल्य के समान है। जैसे– चौथे प्रकार के शल्योद्धरण में थोड़ा रक्त निकालकर बाहर कर देते हैं वैसे ही इस प्रायश्चित्त में अशुद्ध भोजन का परित्याग कर भावव्रण को दूर किया जाता है।

5. गमनागमन, स्वप्न, नदी पार करने आदि क्रियाओं में लगे दोष कायोत्सर्ग से दूर हो जाते हैं। यह कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त रूप चिकित्सा पाँचवें शल्य के समान है। वहाँ चलने आदि की क्रिया का निषेध करते हैं वैसे ही यहाँ कायोत्सर्ग द्वारा शरीर को स्थिर रखा जाता है।

6. मूलगुण– उत्तरगुण में अतिचार लगने पर तदनुरूप तप करने से आत्मा की परिशुद्धि हो जाती है। यह तप नाम का प्रायश्चित्त पूर्वोक्त छठवें शल्य चिकित्सा के समान है। जैसे छठवें प्रकार के शल्य का उद्धरण करने के लिए परिमित आहार अथवा आहार का सर्वथा त्याग करवा दिया जाता है वैसे ही इस प्रायश्चित्त रूप चिकित्सा में नीवि आदि का रूक्ष आहार अथवा उपवास आदि करते हैं।

7. शासन विरुद्ध आचरण करने पर एवं तप योग्य प्रायश्चित्त का अतिक्रमण होने पर संयम पर्याय में पाँच दिन आदि की कमी कर देने से कृत पापों का मोचन हो जाता है। यह छेद नाम का सातवाँ प्रायश्चित्त सातवें प्रकार के शल्योद्धरण के सदृश है। जैसे– सातवें प्रकार के शल्य में शेष अंगों को सुरक्षित रखने हेतु दूषित स्थान को हड्डी-मांस आदि के साथ काटकर पृथक् कर दिया जाता है। वैसे ही इस प्रायश्चित्त रूप चिकित्सा में तप से भी भावव्रण दूर न हो तो दूषित अंग आदि के समान दीक्षा पर्याय का छेद कर देते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि के मतानुसार अपराध शुद्धि के निमित्त दीक्षा पर्याय कम करने से साधु का दूषित अध्यवसाय दूर होता है क्योंकि संयम पर्याय छेदने से उसमें संवेग, निर्वेद आदि गुण उत्पन्न होते हैं। इन गुणों के फलस्वरूप वह शुद्ध होता है।[4]

इस प्रकार आलोचना आदि सात प्रायश्चित्तों को क्रमशः बढ़ते हुए व्रण की चिकित्सा के तुल्य जानना चाहिए। व्रण दृष्टान्त के आधार पर इन सात प्रायश्चित्तों की उपादेयता निर्विवादतः सिद्ध होती है। शेष मूल, अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक- इन तीन प्रायश्चित्त योग्य अपराधों (भावव्रण) में व्रण दृष्टान्त घटित नहीं होता, क्योंकि उनमें सम्यक् चारित्र का सर्वथा अभाव होता है। जैसे कि प्रगाढ़तर अपराध होने पर संयम पर्याय का मूल से विच्छेद कर दुबारा दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त में एक निश्चित अवधि के बाद पुनः दीक्षा दी जाती है तथा पारांचिक प्रायश्चित्त में क्षेत्र और देश से व्यक्ति को पृथक् कर दिया जाता है। किन्हीं मतानुसार उसे संघ से सदा के लिए बहिष्कृत कर देते हैं। इस प्रकार अंतिम तीन प्रायश्चित्त में अल्प अवधि के लिए ही सही, चारित्र का अभाव होता है अतः चिकित्सा योग्य न होकर जीवन का पुनर्निर्माण करने योग्य है। इन प्रायश्चित्तों से पुनः निर्मल चारित्र की प्राप्ति होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रायश्चित्त की मूल्यवत्ता का दिग्दर्शन करते हुए भगवान महावीर ने कहा है-

पायच्छित्तकरणेणं पावकम्म विसोहिं जणयइ...
आयारफलं च आराहेई ।।

प्रायश्चित्त करने से जीव पाप कर्म की विशुद्धि (अर्थात पाप कर्म को चेतनसत्ता से पृथक्) करता है और निरतिचार युक्त हो जाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्गफल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचारफल (मुक्ति) की आराधना करता है। इसका सार रूप तत्त्व यह है कि प्रायश्चित्त से रत्नत्रय की सम्यक आराधना होती है और उससे नियमानुसार मोक्षपद प्राप्त होता है।[5]

निशीथभाष्य में प्रायश्चित्त की उपयोगिता का कथन करते हुए बताया गया है कि

पच्छित्तेण विसोही, पमाय बहुलस्स होइ जीवस्स
निव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा निरत्थया ।।

प्रमाद बहुल प्राणी भी प्रायश्चित्त से विशोधि प्राप्त करता है। चारित्रधारी मुनियों के चारित्र की रक्षा हेतु प्रायश्चित्त अंकुश के समान है।

सिद्धान्ततः प्रायश्चित्त के अभाव में चारित्र नहीं रहता, चारित्र के अभाव में तीर्थ (चतुर्विध संघ) नहीं रहता, तीर्थ के अभाव में मुनि निर्वाण को प्राप्त नहीं

होता और निर्वाण के अभाव में दीक्षा निरर्थक हो जाती है।[6] सुस्पष्ट है कि दीक्षा, चारित्र, तीर्थ, निर्वाण आदि प्रायश्चित्त के आधार पर ही अवस्थित हैं।

निशीथ भाष्यकार ने प्रायश्चित्त को औषधि की उपमा देते हुए कहा है कि तीर्थंकर धन्वंतरि तुल्य है, अपराधी साधु रोगी के समान है, अपराध रोग तुल्य है और प्रायश्चित्त औषधि के समान है। कहने का भाव यह है कि प्रायश्चित्त एक प्रकार की चिकित्सा है। चिकित्सा रोगी को कष्ट देने के लिए नहीं अपितु रोग निवारण के लिए की जाती है, इसी प्रकार प्रायश्चित्त अपराधों के उपशमनार्थ दिया जाता है। जैसे बाह्य उपचार से शारीरिक रोगों का उपचार संभव है वैसे ही प्रायश्चित्त आत्म रोगों को समाप्त करता है।[7]

टीकाकार संघदासगणि प्रायश्चित्त की आवश्यकता दर्शाते हुए कहते हैं कि अपराधी साधक को छोटी सी भूल की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उससे भारी नुकसान होता है। इस तथ्य की स्पष्टता में टीकाकार ने यह भी निर्देश दिया है कि मुनि को चारित्र की विशुद्धि के लिए स्वेच्छा से प्रायश्चित्त वहन करना चाहिए, राजदण्ड की तरह विवश होकर प्रायश्चित्त न करे। राजदण्ड वहन न करने पर शरीर का नाश होता है। उसी तरह प्रायश्चित्त वहन न करने पर चारित्र का विनाश होता है। छोटी सी भूल की उपेक्षा करने के कितने भयंकर परिणाम आते हैं निम्न उदाहरणों से समझा जा सकता है–

• **सरणि–** एक सारणि से सिंचाई की जाती थी, उसमें एक तृणशूक फंस गया। उसे निकाला नहीं, फिर दूसरा फंस गया। कालान्तर में धीरे-धीरे वह सरणि कचरे से भर गई। पानी का आगे बढ़ना बंद हो गया। परिणामत: खेत सूख गया।

• **शकट–** एक गाड़ी में पत्थर भरने लगे, उस समय लकड़ी का एक भाग टूट गया, उसको उपेक्षित कर दिया गया। भरते-भरते एक बड़ा पत्थर गाड़ी में डाला गया तो पूरी गाड़ी ही टूट गई।

• **वस्त्र–** साफ-सुधरे वस्त्र पर कीचड़ का एक छींटा लगा, उसे साफ नहीं किया, हर दिन छींटा लगने से एक दिन वह वस्त्र कीचड़ वर्ण वाला हो गया। इसी प्रकार छोटे-छोटे अपराधों का प्रायश्चित्त न करने से एक दिन चारित्र मलीन हो जाता है और शनै: शनै: धर्मसत्त्व अधर्म में रूपान्तरित हो जाता है।[8]

तत्त्वार्थराजवार्तिककार ने प्रायश्चित्त की अनिवार्यता को पुष्ट करने वाले सात लाभों का वर्णन इस प्रकार किया है[9]–

1. प्रायश्चित्त से प्रमाद जनित दोषों का निराकरण होता है 2. आत्मभावों की प्रसन्नता बढ़ती है 3. अपराधी या दोष प्रतिसेवी आत्मा शल्य रहित होती है 4. सामुदायिक या शासनबद्ध अव्यवस्था का निवारण होता है 5. आचार मर्यादा का पालन होता है 6. संयम परिपालन में दृढ़ता आती है 7. जिनवाणी की आराधना होती है। इस प्रकार प्रायश्चित्त अनेक सन्दर्भों में उपादेय सिद्ध होता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैन दण्ड की उपादेयता पर विमर्श करते हुए लिखा है कि प्रायश्चित्त एक शुभ भाव धारा है, शुभ भाव से अशुभकर्म का नाश होता है। इस क्रम में शुभ भाव पर बल देते हुए यह भी कहा गया है कि सामान्य रूप से किया गया शुभ भाव सम्पूर्ण कर्मों का नाश करने में समर्थ नहीं है, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप जितना शुभ भाव अपेक्षित है उसे विशिष्ट शुभ भाव कहा है। इस प्रकार के विशिष्ट शुभ भाव उत्पन्न करने के तीन कारण हैं– अप्रमत्तता, छोटे-बड़े अतिचारों का स्मरण और संसार परिभ्रमण का अत्यन्त भय।[10]

आचार्य हरिभद्रसूरि यह भी कहते हैं कि विशिष्ट शुभ भाव के द्वारा अशुभ भाव से बंधे हुए कर्मों के अनुबन्ध का विच्छेद होता है, शुभ भाव से अपूर्वकरण नामक आठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है और कर्मों की निर्जरा से उपशम श्रेणी, फिर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर जीव अन्त में अनुत्तर सुख रूप निर्वाण को प्राप्त करता है।[11]

किसी प्राचीन ग्रन्थ में इसका मूल्य रेखांकित करते हुए कहा गया है कि

जंबुदीवे जे हुंति पव्वया, ते चेव हुंति हेमस्स ।
दिज्जति सत्त खित्ते, न छुट्टए दिवसपच्छित्तं ।।
जंबुदीवे जा हुज्ज वालुआ, ताउ हुंति रयणाइ ।
दिज्जति सत्त खित्ते, न छुट्टए दिवस पच्छित्तं ।।

इस जंबूद्वीप में मेरु आदि जितने पर्वत हैं वे सभी स्वर्ण के बन जायें तथा जंबूद्वीप में जितनी रेत है वह सब रत्नमय बन जाये। फिर उतने स्वर्ण और रत्नों का सात क्षेत्रों में दान करें उससे जीव उतना शुद्ध या पाप मुक्त नहीं होता, जितना कि भावपूर्वक आलोचना करके प्रायश्चित्त वहन कर शुद्ध बनता है।

इसी क्रम में भाव आलोचना का महत्त्व दर्शाते हुए बताया गया है कि

आलोयण परिणओ, सम्मं संपट्ठिओ गुरु।
जइ अंतरावि कालं, करेइ आराहओ तहवि सगासे।।

किसी साधक ने शुद्ध आलोचना करने के लिए अपने गाँव से प्रस्थान किया हो और प्रायश्चित्त लेने के पहले ही उसकी बीच में मृत्यु हो जाए, तो भी वह आराधक कहा जाता है जबकि अशुद्ध आलोचना करने वाला विराधक बनता है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि प्रायश्चित्त जैन साधना का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसके माध्यम से साधक अपने दोषों की आलोचना करते हुए, कृत पापों से मुक्त बनता है। यदि प्रायश्चित्त की मनोवैज्ञानिक समीक्षा की जाए तो यह मन शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है। गलती करने के बाद कई बार व्यक्ति उसके पश्चाताप की अग्नि में जलता रहता है, प्रायश्चित्त के माध्यम से वह विशुद्ध हो जाता है तथा मन भी शांत बन जाता है। शांत और निराकुल मन आध्यात्मिक, बौद्धिक, शारीरिक एवं भौतिक विकास में सहायक बनता है। प्रायश्चित्त अर्थात एक प्रकार का दंड और यह अपराध नियंत्रण के लिए आवश्यक है। स्वयं में सुधार लाने का यह उत्तम प्रयोग है। हमारे शरीर में कई ऐसी ग्रंथियाँ हैं जो क्रोध, अपराध आदि का भाव उत्पन्न होने पर असंतुलित हो जाती हैं और उनके स्राव में न्यूनाधिकता आ जाती है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर एवं क्रियाकलापों पर पड़ता है। प्रायश्चित्त के द्वारा उसे संतुलित किया जा सकता है।

यदि प्रबंधन के क्षेत्र में प्रायश्चित्त की समीक्षा की जाए तो उसका विशेष प्रभाव स्वप्रबंधन, जीवन प्रबंधन, समाज प्रबंधन, अपराध प्रबंधन आदि पर हो सकता है। प्रतिषिद्ध आचरण करने पर प्रायश्चित्त दिया जाता है। ऐसा करने से किसी भी गलत परम्परा का प्रारंभ नहीं होता। दूसरे स्वयं प्रायश्चित्त हेतु उपस्थित होने से स्वजीवन से दुर्गुणों का एवं दोषों का शोधन होता है तथा स्वयं की कमियां जानने पर व्यक्ति उसे निकालने का प्रयास करता हुआ जीवन में उत्तरोत्तर प्रगति कर सफलता प्राप्त करता है। गुरु के द्वारा सामर्थ्य एवं अपराध की तरतमता के आधार पर प्रायश्चित्त दिया जाता है जिससे समूह संचालन एवं अनुशासन की कला का ज्ञान होता है। दंड का भय अपराध नियंत्रण में भी सहायक होता है। विविध प्रकार के प्रायश्चित्त होने से अपराधी को यथायोग्य दंड दिया जा सकता है। जब व्यक्ति के मन में भय स्थापित हो जाए कि अमुक

अपराध करने पर उसके अब तक का विकास शून्य हो सकता है या उसे नौकरी से बहिष्कृत (Suspend) किया जा सकता है तब व्यक्ति गलत कार्य करते हुए डरेगा, क्योंकि इन सबके द्वारा उसके स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है। इस प्रकार प्रायश्चित्त के द्वारा सामूहिक स्थान जैसे- स्कूल, कार्यालय आदि का नियंत्रण अच्छे तरीके से हो सकता है।

इस प्रकार प्रबंधन एवं नियोजन की अपेक्षा प्रायश्चित्त व्यवस्था बहु उपयोगी हो सकती है।

आधुनिक जगत की समस्याओं के संदर्भ में यदि प्रायश्चित्त की समीक्षा की जाए तो निर्विवादत: कई समस्याओं के समाधान में इसकी उपादेयता स्वत: सिद्ध है। यदि व्यक्तिगत स्तर पर चिंतन करें तो प्रायश्चित्त, मानसिक उद्विग्नता को शांत करने में और जीवनगत दुष्प्रवृत्तियों के निष्कासन में अत्यंत सहयोगी हो सकता है। समाज में बढ़ रही पदलोलुपता, भ्रष्टाचार, सत्ता शक्ति का दुरुपयोग आदि को इसके माध्यम से रोका जा सकता है, क्योंकि जब अपराधी स्वयं अपने दोषों के निराकरण हेतु तत्पर होकर अपराध की सजा के रूप में प्रायश्चित्त करेगा तब व्यवस्था प्रणाली ही ऐसी होगी कि समाज में दोषों या अपराधों का विकास ही नहीं होगा। गुरुमुख से प्रायश्चित्त आदि लेने पर भावों का शुद्धिकरण होता है एवं परिणामों की निर्मलता बढ़ती है।

शास्त्रकारों के मत में प्रायश्चित्त के लाभ

प्रायश्चित्त स्वीकार से प्रायश्चित्त कर्त्ता को अनेक लाभ होते हैं उनमें कुछ मुख्य लाभ निम्न हैं-

1. कृत दोषों का प्रायश्चित्त करने पर शुभ अध्यवसायों के कारण अनेक अन्य दोष भी नष्ट हो जाते हैं।

2. प्रायश्चित्त के उद्देश्य से गुरु के समक्ष पापों का निवेदन करने पर अभिमान टूटता है। अहं संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण है। अहंकार से मनुष्य के मन में विषय वृत्ति, सुखाभिलाषा, तृष्णा, लोभ, हिंसा आदि अनेक दूषणों की वृद्धि होती है। उसके परिणामस्वरूप अनालोचित आत्मा का संसार परिभ्रमण बढ़ता है वहीं गुरु के सामने पापों की आलोचना करने से अहं तत्त्व चूर-चूर हो जाता है।

3. गुरु द्वारा प्रायश्चित्त रूप में तप-जप आदि जो भी दंड प्राप्त होता है उससे जीवन में उतनी धर्म साधना निश्चित हो जाती है। उस तपश्चरण के

भावोल्लास से अनन्त कर्मों की निर्जरा और पुण्य बंधन भी होता है।

कई जन भव आलोचना लेने से इसलिए डरते हैं कि उसके प्रायश्चित्त के रूप में दिए गए दंड को पूर्ण करना उन्हें दुष्कर लगता है। किन्तु उन लोगों को दूसरा यह पक्ष भी सोचना चाहिए कि पाप कार्यों को प्रकाशित करने से वह क्रिया जीवन परिवर्त्तन एवं चित्त को धर्ममय प्रवृत्ति में जोड़ने में हेतुभूत बनती है।

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि आलोचना ग्रहण करने के पश्चात उसे पूर्ण करने में तद्रूप भावोल्लास जागृत नहीं हुआ तो फिर आलोचना लेने और उसे पूर्ण करने से भी क्या फायदा?

इसका समाधान यह है कि कोई भी व्यक्ति कुछ कार्य करता है तो सम्पूर्ण कार्य में न भी सही पर कुछ समय तो उस कार्य में मन का जुड़ाव होता है वैसे ही आलोचना (प्रायश्चित्त) काल में कभी-कभी तो मन उससे बंधेगा ही। जितना समय सार्थक बने उतना अच्छा है। आलोचना न लेने पर तो सारा पाप जैसा का वैसा ही बना रहेगा।

कदाच आलोचना लेने की अपेक्षा प्रायश्चित्त वहन करते समय भाव धारा और अधिक भी विशुद्ध हो जाती है इसलिए सभी अपेक्षाओं से प्रायश्चित्त करणीय है।

4. पाप कार्यों के प्रति तीव्र पश्चात्ताप होने के साथ-साथ आलोचना करने की तमन्ना और प्रयत्न में भाव वृद्धि होने से विपुल कर्मों का क्षय हो जाता है। शास्त्रों के अनुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करने के उत्कृष्ट शुभ अध्यवसायों के परिणामस्वरूप कई बार भाव शुद्धि मात्र से ही केवलज्ञान तक की प्राप्ति हो जाती है। महानिशीथसूत्र में ऐसे कई उदाहरणों का वर्णन है जिनमें आलोचना के लिए प्रवृत्त होते हुए, गुरु समक्ष उसे प्रकट करते हुए अथवा गृहीत आलोचना को पूर्ण करते-करते साधकों ने सर्वथा कर्म क्षय कर लिया।

इस प्रकार जीवनचर्या में लगे दोषों का प्रायश्चित्त करने पर

- पाप कार्य से बंधे हुए एवं अन्य कर्मों का क्षय होता है।
- संसार चक्र का मूलभूत कारण अहं तत्त्व विसर्जित होता है।
- धर्माराधना में प्रवेश होता है।
- शुभ भावों की वृद्धि होती है।

इसी तरह के अनेक लाभ होते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में ध्यातव्य है कि बड़ा प्रायश्चित्त आने पर डरना नहीं चाहिए, क्योंकि कदाच् उस प्रायश्चित्त को पूर्ण न कर पायें तो भी वह जीव विराधक नहीं कहलाता, कारण कि उस प्रायश्चित्त कर्त्ता के भाव गृहीत दण्ड को पूर्ण करने के ही रहे हैं। इसके विपरीत यदि साधक आलोचना ग्रहण ही नहीं करे तो वह महाविराधक बन जाता है तथा उन पापशल्यों के कुसंस्कारों से युक्त परलोक में चला जाए तो वह अनंत काल तक संसार परिभ्रमण करता रहता है। लक्ष्मणा साध्वी ने कपटपूर्वक आलोचना लेकर 800 कोडाकोडी सागरोपम काल तक संसार की अभिवृद्धि की। इस प्रकार पापों की पूर्ण आलोचना करने वाला साधक ही सच्चा आराधक कहलाता है।

प्रायश्चित्त आवश्यक क्यों?

कई लोगों के अन्तर्मन में यह प्रश्न उभरता है कि व्यक्ति के द्वारा कोई बड़ा अपराध हो जाये तो उसे सजा देना और लेना आवश्यक है किन्तु सामान्य भूलों या अनुचित कार्यों के लिए दण्ड व्यवहार की पद्धति जरूरी नहीं है। इंसान होने के कारण छोटी-बड़ी गलतियाँ होती रहती है। उसे गुरु के समक्ष कहना हंसी-मजाक होगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि घाव छोटा हो या बड़ा, वह दुखदायी ही होता है अत: गल्ती कैसी भी हो उसे दूर करना, उसके लिए पश्चात्ताप करना जरूरी है। अनेक बार उपेक्षित छोटा सा पाप भी भयंकर दुष्फल का कारण बन जाता है।

छोटे-छोटे पाप कार्यों से मिलने वाली भयंकर कर्म सजा में अन्तर्निहित कुछ कारण निम्न हैं–

मनुष्य भव की गणना जीव की उत्कृष्ट पर्याय रूप में होती है। उच्च पद पर आसीन व्यक्ति का छोटा सा गुन्हा भी व्यावहारिक जीवन में बड़ी सजा का कारण माना जाता है जैसे कि न्यायाधीश थोड़ी भी रिश्वत ले तो उसे पदच्युत कर दिया जाता है। वैसे ही प्रज्ञा सम्पन्न मानव यदि गुनाह करे तो वह उसके अधिक पतन का कारण बनता है।

बाहर में भले ही कोई क्रिया सूक्ष्म परिलक्षित होती हो परंतु उसके भीतर में रहे हुए प्रबल कषाय भाव उसे स्थूल पाप में परिवर्तित कर देते हैं जैसे कि अंधेरे में रस्सी को सांप समझकर उसे लकड़ी से मारने का प्रयत्न किया, वहाँ

प्रत्यक्ष में यद्यपि किसी जीव का नाश नहीं हुआ परंतु भीतर में उत्पन्न सांप मारने के भावों ने सांप को मारने जितने ही कर्मों का बंधन कर लिया। अतः आंतरिक मलिनता एवं भावों की उग्रता ही छोटे पाप को भी बड़े दोष रूप बना देती है। इसके विपरीत आंतरिक परिणामों की निर्मलता हो और बाह्य रूप से कोई भयंकर घटना भी घट जाए तो वह विशेष कर्म बंध का कारण नहीं बनती। जैसे कि कोई मजदूर घर का मलबा ऊपर से फेंक रहा हो और अनजाने में किसी राह चलते व्यक्ति के उसमें से कोई पत्थर लग जाए और उसकी मृत्यु भी हो जाए तो भी उस मजदूर के उतने प्रगाढ़ कर्मों का बंधन नहीं होता और न लोक व्यवहार में उसे वैसी कठोर सजा दी जाती है।

यदि किया गया छोटा-सा अकरणीय कार्य या पाप वृत्ति करने के पश्चात् उसके प्रति मन में पश्चात्ताप और हीन भाव उत्पन्न न हो या वह अकरणीय न लगे तो छोटा-सा कार्य भी महान कर्म बंध का हेतु बन जाता है जैसे कि छोटा सा कर्ज न चुकाने पर ब्याज के कारण वह एक दिन बड़ी रकम का रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के तौर पर यदि कोई बच्चा घर में चोरी करता है और माता-पिता के द्वारा डांटने समझाने पर अपनी गलती मान ले तो माता-पिता भी उसे माफ कर देते हैं। परंतु यदि वही लड़का अपनी गलती न मानकर माता-पिता के समक्ष उदंडता दिखाए, सवाल-जवाब करें तो माता-पिता को पुत्र के बुरे भविष्य का अंदेशा हो जाता है और कई बार माता-पिता के द्वारा त्याग दिया जाता है। वैसे ही ज्ञानी भगवन्तों के अनुसार छोटे-छोटे पापकार्य भी बड़े पाप कार्यों में निमित्तभूत बन जाते हैं। कदाच छोटी गल्तियाँ अकरणीय रूप भी लगे, उसके प्रति संताप या पश्चात्ताप भी उत्पन्न हो जाये उसके बावजूद भी अभिमान या मान भंग के भय से गुरु के सम्मुख उनका प्रगटीकरण न करें, प्रायश्चित्त स्वीकार न करें तो वह मान और पाप की गांठ वैसी ही रह जाती है, वह पाप भाव शल्य के रूप में प्रगाढ़ होकर भव-भवान्तर में पाप प्रवृत्ति को बढ़ाता है। जैसे कि कहते हैं 'एक झूंठ सौ झूंठ बुलवाता है' वैसे ही एक पाप सौ पाप करवाता है। चुभा हुआ छोटा सा कांटा न निकालने पर भयंकर पीड़ा का कारण बन जाता है वैसे ही पाप से अधिक मान कषाय को महत्त्व देने पर वह कांटे से कई गुणा अधिक आत्म अशान्ति का हेतु बनता है। इसलिए छोटी सी गल्ती का भी प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रायश्चित्त विधियों के गवेषणात्मक रहस्य

आलोचना गुरुमुख से ही क्यों?

जैन परम्परा में प्रायश्चित्त या आलोचना गुरुमुख से लेने का विधान है। यहाँ कुछ लोगों के मन में शंका हो सकती है कि आलोचना गुरुमुख से ही क्यों ली जाए?

• गुरु मुख से आलोचना लेने पर किए गए पाप गुरु एवं शिष्य के बीच ही रहते हैं। अन्य किसी को उसके बारे में ज्ञात नहीं होता, क्योंकि आलोचना एकांत में ली जाती है।

• गुरु अनुभवी एवं गीतार्थ होने के कारण शिष्य की मुख मुद्रा एवं हाव-भावों के द्वारा उसके पश्चात्ताप की तरतमता को जानकर यथायोग्य प्रायश्चित्त दे सकते हैं।

• यदि कोई पाप छिपाने के भाव हो या किसी दोष को उजागर करने में भय हो तो भी गुरु की वात्सल्य दृष्टि, सौम्य मुखमंडल आदि से प्रभावित होकर उसकी आलोचना शुद्ध एवं पूर्ण हो सकती है।

• आलोचना करते समय शुभ भावों के उत्पन्न होने से अनेक पाप कर्मों की निर्जरा उसी समय हो जाती है।

• गुरु शिष्य के सम्बन्धों में प्रगाढ़ता आती है तथा गुरु के निष्पक्ष भाव से शिष्य में गुरु के प्रति आदर भाव बढ़ता है।

• लिखित आलोचना किसी अन्य के हाथ लग सकती है अथवा सभी के सम्मुख आलोचना करने से अन्य लोगों के मन में अपराधी साधु के प्रति जुगुप्सा भाव उत्पन्न हो सकते हैं।

आलोचना विधिपूर्वक ही क्यों?

आलोचना विधिपूर्वक लेने के निम्न कारण हैं–

• सर्वप्रथम तो विधि पूर्वक कोई भी कार्य करने से उसमें मनोभूमिका अच्छे से तैयार हो जाती है तथा वह क्रिया व्यवस्थित रूप से सम्पन्न होती है।

• इससे मन के परिणाम शांत एवं निर्मल बनते हैं तथा आलोचना अच्छी प्रकार से ग्रहण की जा सकती है।

आलोचना एकांत में क्यों लेनी चाहिए?

• एकांत में निर्भीकता पूर्वक समस्त पापों की आलोचना की जा सकती है।

• अन्य लोगों के सम्मुख आलोचना लेने से उनके मन में साधु धर्म के प्रति हीनभाव उत्पन्न हो सकते हैं और उससे जिन धर्म एवं साधु धर्म की हीलना हो सकती है।

• आलोचनाग्राही के मन में यदि लज्जा, भय आदि उत्पन्न हो जाये तो वह पूर्ण आलोचना नहीं कर पाएगा और अधूरी आलोचना का कोई महत्त्व भी नहीं है अत: एकांत में आलोचना का विधान है।

वर्तमान में आलोचना के प्रति उपेक्षा क्यों?

आजकल आलोचना के प्रति लापरवाही बरतने के कुछ कारण निम्न हो सकते हैं जैसे कि सच बताने पर गुरु मेरे बारे में क्या सोचेंगे, मेरी Prestige down हो सकती है, सहवर्ती मुनि मुझे हीन दृष्टि से देखेंगे, शिष्य या छोटे साधुजन मुझे सम्मान नहीं देंगे, समाज में मेरी छवि बिगड़ जाएगी। इस क्रिया के प्रति उपेक्षा होने में पाप का भय, जिनवाणी के प्रति श्रद्धा, आत्म जागृति आदि का अभाव होना भी कारण हो सकते हैं।

प्रायश्चित्त दान से संबंधित कुछ शास्त्रीय नियम

- जीतकल्प के अनुसार यदि आचार्य को छेद प्रायश्चित्त आता हो, तो भी उसे तप योग्य प्रायश्चित्त ही देना चाहिए।
- अधिकृत आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष और प्रतिसेवना को (जिस रूप में दोष का आचरण किया गया हो, उसको) ध्यान में रखकर अधिक या कम प्रायश्चित्त देते हैं।
- शास्त्र में प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में विचार करने की चार अपेक्षाएँ हैं– 1. आवृत्ति 2. प्रमाद 3. दर्प और 4. कल्प।

द्रव्य की अपेक्षा– जहाँ आहार आदि की सुलभता हो, वहाँ अधिक प्रायश्चित्त दिया जाता है और जहाँ आहार आदि दुर्लभ हो, वहाँ परिस्थिति के आधार पर कम या अधिक प्रायश्चित्त देते हैं।

क्षेत्र की अपेक्षा– क्षेत्र स्निग्ध हो तो अधिक प्रायश्चित्त दिया जाता है किन्तु निर्जल एवं रूक्ष क्षेत्र में अल्प प्रायश्चित्त देते हैं।

काल की अपेक्षा– वर्षा और शीतकाल में जघन्यत: निरन्तर तीन उपवास, मध्यमत: निरन्तर चार उपवास एवं उत्कृष्टत: निरन्तर पाँच उपवास देने का विधान है। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में जघन्य से पुरिमड्ढ, मध्यम से आयम्बिल एवं उत्कृष्ट से निरन्तर दो उपवास का प्रायश्चित्त दिया जाता है।

भाव की अपेक्षा– निरोगी व्यक्ति को निश्चित रूप से अधिक एवं उत्कृष्ट तप का प्रायश्चित्त देते हैं और ग्लान व्यक्ति को काल का अतिक्रमण करके अल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है।

पुरुष प्रतिसेवना की अपेक्षा– व्यक्ति गीतार्थ और अगीतार्थ, क्षमावान और अक्षमावान, ऋजु और मायावी, सज्जन और दुष्ट, परिणामी और अपरिणामी आदि अनेक प्रकार की प्रकृति के होते हैं अत: उनकी प्रकृति के अनुसार जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट प्रायश्चित्त देते हैं।

- जो व्यक्ति शक्ति, धैर्य, कल्पस्थ एवं सर्वगुणों से युक्त हों, उसे अधिक तप रूप प्रायश्चित्त देने का विधान है तथा हीन गुण वाले को कम प्रायश्चित्त देने का नियम है।
- जो चारित्र पालित हो, अज्ञातार्थ हो, असहिष्णु हो, उनको विभाजन के अनुसार नीवि से लेकर निरन्तर तीन उपवास तप का प्रायश्चित्त देते हैं। जो दर्प से युक्त हो, उसे सामान्य से कुछ अधिक प्रायश्चित्त दिया जाता है तथा जो दोषों का बार-बार सेवन करता हो, उसे अहंकारी व्यक्ति के समान अधिक प्रायश्चित्त देते हैं।
- आलोचना के काल तथा कष्ट को सहन करने की क्षमता जानकर कम-अधिक या मध्यम प्रायश्चित्त देते हैं।
- आगम-व्यवहारी मुनि अपराधी की प्रतिसेवना को अतिशायी ज्ञान से जानकर जितने प्रायश्चित्त से उसकी विशोधि होती है, उतना प्रायश्चित्त देते हैं। श्रुतव्यवहारी गुरु उपदेश के आधार पर यथोचित्त प्रायश्चित्त देते हैं। कोई मासिक प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना कर ऋजुता से आलोचना करता है तो उसे स्वस्थान (मासिक) प्रायश्चित्त दिया जाता है।[12]

इस प्रकार प्रायश्चित्त मोक्षोपलब्धि का अभिन्न कारण है तथा जिससे मोक्ष रूपी परम सुख हासिल किया जा सकता है उससे अन्य क्या नहीं पाया जा सकता?

आज के दुषमकाल में जहाँ मानसिक एवं भावनात्मक स्तर न्यून होता जा रहा है। दोहरापन एवं अपराधवृत्तियाँ बढ़ती जा रही है। लोगों में कर्तव्यों के प्रति लापरवाही और मर्यादा उल्लंघन की सीमाएँ पार हो रही है। ऐसी स्थिति में प्रायश्चित्त जैसा विधान लौकिक एवं लोकोत्तर प्रगति तथा व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक विशुद्धि का मुख्य सोपान हो सकता है।

सन्दर्भ-सूची

1. आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 251
2. पंचाशकप्रकरण, 16/8-13
3. वही, 16/16-18
4. वही, 16/19
5. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/17
6. निशीथभाष्य, 6677-6679
7. वही, 6507
8. व्यवहारभाष्य, 555 की टीका
9. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/22
10. पंचाशकप्रकरण, 16/29-33
11. वही, 16/34-35
12. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 246-247

●

अध्याय-4

आलोचना क्या, क्यों और कब?

आलोचना जैन साहित्य का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका गृहस्थ एवं मुनि जीवन में अनन्य स्थान है। अपने दोषों एवं गलतियों का निरीक्षण तथा गुरुजनों के समक्ष उनकी अभिव्यक्ति करने का आलोचना उत्तम मार्ग है। जैनाचार्यों ने भिन्न-भिन्न संदर्भों में आलोचना के विभिन्न स्वरूप एवं प्रकार बताए हैं जिनके आचरण से साधक उच्च अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

आलोचना का अर्थ एवं स्वरूप विमर्श

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ– आलोचना शब्द में दो पद हैं आ + लोचना। 'आ' उपसर्ग वाचक है और लोच् शब्द धात्वर्थक है। 'आ' उपसर्ग दो अर्थों में प्रयुक्त होता है– मर्यादा एवं चारों ओर। पूर्वाचार्यों ने आलोचना शब्द के दोनों अर्थ ग्रहण किये हैं।

- प्रवचनसारोद्धार (द्वार 98 की टीका), व्यवहारसूत्र (उद्देशक 10 की टीका), पंचकल्पचूर्णि, (सिद्धसेनगणि कृत), तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति (1/15) आदि टीका मूलक साहित्य में आ' पद को मर्यादा अर्थ में ग्रहण किया गया है तथा संस्कृत भाषा में 'लोच्' धातु देखना, तलाश करना, प्रकट करना आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। तदनुसार आलोचना शब्द की कुछ व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं–
- प्रवचनसारोद्धार की टीका अनुसार

आङ् मर्य्यादायाम् लोच दर्शने, चुरादित्वाणिच् लोचनं आलोचनं।
प्रकटीकरणम् आलोचना, गुरो पुरतः वचसा प्रकाशनम्।।

'आ' उपसर्ग मर्यादा अर्थ में, 'लोच्' धातु देखने अर्थ में और चुरादिगण का 'निच्' प्रत्यय जुड़कर आलोचन शब्द बना है। गुरु के सामने दोषों को प्रकाशित करना आलोचना कहलाता है।

यहाँ मर्यादा अर्थ का सांकेतिक भाव यह है कि आलोचक स्वयं के द्वारा किये गये दुष्कृत्यों को ही देखे, अन्यकृत दोषों पर नजर नहीं डाले। अपनी

त्रुटियों का निरीक्षण करना ही यथार्थ आलोचना है।

- पंचकल्पचूर्णि के अनुसार–

''आ मर्य्यादायां लोचृदर्शने आलोचना नाम आलोचना प्रकटना ऋजुभावनेति''

निश्छल हृदय से दोषों को प्रकाशित करना आलोचना है।

- तत्त्वार्थवृत्ति के उल्लेखानुसार–

''आङ् मर्यादायाम् आलोचनं दर्शनं परिच्छेदो मर्यादया यः स आलोचनं''

इस प्रकार आलोचना के उक्त अर्थ मर्यादा के संदर्भ में हैं।

द्वितीय अर्थ के आधार पर विचार किया जाए तो 'आसमन्तात् लोचना' अर्थात अपने दोषों को चारों ओर से देखना आलोचना है।

- भगवतीसूत्र (शतक 19/3) की टीका में इसकी निम्न व्युत्पत्ति दी गई है– **''आ अभिविधिना सकल दोषाणां लोचना गुरु पुरतः प्रकाशना आलोचना।''**

आत्म प्रदेशों के साथ एकमेक हुए छोटे-बड़े प्रत्येक दोषों को देखकर उन्हें गुरु के समक्ष निवेदन करना आलोचना है।

- आलोचना का व्यापक अर्थ है प्रायश्चित्त के माध्यम से आत्मा का शुद्धिकरण करना अथवा आत्मा पर आवरण के रूप में रहे हुए मलीन संस्कारों को सब तरफ से देखना आलोचना है अथवा मन-वचन-काया रूप अशुभ योगों से जो-जो अकरणीय किया हो, उनको शुद्ध भावपूर्वक 'लोचना' अर्थात प्रकट रूप में गुरु सम्मुख अनुज्ञापित करना आलोचना है। इस तरह आलोचना के उक्त अर्थ अभिविधि के सन्दर्भ में हैं।

- सामान्य परिभाषा के अनुसार अपने समस्त दोषों को गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से कह देना आलोचना कहलाता है। जैनाचार्यों ने आलोचना के इसी अर्थ को भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया है।

- आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार–

आलोयणं अकिच्चे, अभिविहिणा दंसणंति लिंगेहिं ।
वइमादिएहिं सम्मं, गुरुणो आलोयणा णेया ।।

अर्थात गुरु के समक्ष अपने दुष्कृत्यों को बिना छिपाये विशुद्ध भावयुक्त पूर्णतया वाणी आदि से प्रकाशित करना आलोचना है।[1]

• उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका के अनुसार- **''आलोयणमरिहंति वा मज्जा लोयणा गुरुसगासे ।''**

गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना आलोचना है।[2]

• दशवैकालिकचूर्णि में दोषों को प्रकट करने अथवा आत्मा की विशुद्धि करने को आलोचना कहा गया है- **''आलोयणं ति वा पगासकरणं ति वा अक्खणं विसोहिं ति वा।''**

चूर्णिकार ने आलोचना का वैशिष्ट्य दिखलाते हुए यह भी कहा है कि अवश्य करणीय भिक्षाचर्या आदि कार्यों में अपराध नहीं होने पर भी उनकी आलोचना करनी चाहिए, अन्यथा अनालोचित रहने पर उन क्रियाओं का अविनय होता है।[3]

• आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीय टीका में कहा गया है कि प्रयोजनवश उपाश्रय से सौ हाथ अधिक बहिर्गमन आदि करने पर उनमें लगे दोषों को गुरु अभिमुख कहना आलोचना है।[4]

• नियमसार में आलोचना का आध्यात्मिक स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि अपने परिणामों को समभाव में स्थितकर स्वयं के द्वारा स्वयं को देखना आलोचना है।[5]

• सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक एवं अनगारधर्मामृत के उल्लेखानुसार-

''गुरवे प्रमाद निवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनम्''

गुरु के समक्ष दश दोषों को टालकर अपने प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है।[6]

• धवला टीकाकार के अनुसार आलोचनादाता गुरु श्रुत रहस्य के ज्ञाता, वीतरागमार्गी एवं रत्नत्रय पालन में मेरू समान सुस्थिर होने चाहिए और इन गुणों से युक्त सद्गुरु के समक्ष दोषों को प्रकट करना यथार्थ आलोचना है।[7]

• भगवती आराधना में आलोचना का निश्चय और व्यवहारमूलक स्वरूप बतलाते हुए कहा है- **''स्वकृतापराधगूपनत्यजनम् आलोचना''**

अपने द्वारा किये गये अपराधों या दोषों को छिपाने का प्रयत्न न करके उसका त्याग करना निश्चय आलोचना है तथा **''कृतातिचारजुगुप्सा पुरः सरं वचनमालोचनेति''** चारित्र धर्म का आचरण करते समय लगने वाले अतिचारों की पश्चात्ताप पूर्वक निन्दा करना व्यवहार आलोचना है।[8]

इन परिभाषाओं का मूल आशय यह है कि इस जीवन में जानबूझकर या प्रमादवश अपराध या गलतियाँ हुई हो तो उनको गुरु के सामने निश्छल भाव से कह देना चाहिए तथा उन दुष्कर्मों से परिमुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे व्यावहारिक और आध्यात्मिक उभय पक्षीय जीवन विकासोन्मुख एवं परिपूर्ण बनता है।

आलोचना के एकार्थक शब्द

जैन टीका साहित्य ओघनिर्युक्ति[9] एवं उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका[10] आदि में आलोचना शब्द के निम्न पर्याय बतलाये गये हैं–

आलोयणा वियडणा सोही सब्भावदायणा चेव ।
निंदण गरिह विउट्टण, सल्लुद्धरणंति एगट्ठा ।।
आलोचनं विकटनं प्रकाशमाख्यानं प्रादुष्करणमित्यनर्थान्तरम् ।''

अर्थात आलोचना, विकटना, शोधि, सद्भावदर्शन, निन्दा, गर्हा, विकुट्टन, शल्योद्धरण, प्रकाशन, आख्यान और प्रादुष्करण– इन समानार्थी शब्दों के द्वारा आलोचना अर्थ को भलीभाँति समझा जा सकता है।

आलोचना के मुख्य भेद

श्वेताम्बर साहित्य में आलोचना योग्य स्थानों की अपेक्षा इसके तीन प्रकार बतलाये गये हैं जिन्हें मुख्य भेद के अन्तर्गत न रखकर अलग से वर्णित करेंगे। यहाँ दिगम्बर साहित्य में प्रतिपादित आलोचना के प्रकार निम्नलिखित हैं–

भगवती आराधना में आलोचना के दो प्रकार बतलाये गये हैं– 1. ओघ आलोचना और 2. पदविभागी आलोचना। इन्हें सामान्य आलोचना और विशेष आलोचना भी कह सकते हैं।

ओघ आलोचना– जिसने अनेक अपराध किये हो अथवा जिसके सर्व व्रतों का खंडन हुआ हो उस मुनि के द्वारा सामान्य रीति से यह निवेदन करना कि– 'मैं पुनः मुनि धर्म स्वीकार करने की इच्छा करता हूँ तथा रत्नत्रय की अपेक्षा आपके मुनि संघ में सबसे कनिष्ठ हूँ' यह ओघ आलोचना है।

पदविभागी आलोचना– भूत, वर्तमान एवं अतीत काल में, जिस देश में, जिस अध्यवसाय में जो कुछ दोष हुआ हो, आचार्य के समक्ष उन दोषों को क्रमपूर्वक कहना, पदविभागी आलोचना है।[11]

आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में आलोचना के सात प्रकार कहे हैं। तदनुसार वह आलोचना दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ- इस तरह सात प्रकार की है। इनमें दैवसिक आदि पाँच भेद काल से सम्बन्धित हैं और दो भेद आवश्यक क्रिया सम्बन्धी हैं।[12]

नियमसार में आलोचना के चार प्रकारों की चर्चा की गई है। उनके नाम ये हैं- आलोचन, आलुंच्छन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि।[13]

1. आलोचना शब्द का अर्थ पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं।
2. आलुंच्छन - कर्म रूपी वृक्ष के मूल जड़ को छेदने में समर्थ समभाव रूप स्वाधीन आत्म परिणाम आलुंच्छन कहलाता है
3. अविकृतिकरण - माध्यस्थ भावना में लीन चेतना का परिणाम अविकृतिकरण कहलाता है।
4. भावशुद्धि - क्रोधादि कषायों से रहित परिणाम भाव शुद्धि रूप कहा जाता है।

आलोचना किन स्थितियों में?

सामान्यतया आलोचना करने योग्य अनेक स्थान हैं, जिनकी चर्चा प्रायश्चित्त के दस प्रकारों के अन्तर्गत प्रथम आलोचना प्रायश्चित्त में कर चुके हैं यद्यपि निशीथभाष्य में आलोचना के मुख्य तीन प्रकार बतलाये हैं-[14]

1. विहार आलोचना-शक्ति होने पर भी तप-उपधान, विहार आदि में उद्यम न करने की आलोचना करना।
2. उपसम्पदा आलोचना- विशेष प्रयोजन से आगम ग्रन्थों का अध्ययन आदि संकल्पित कार्य की समाप्ति तक के लिए स्वगच्छ या समुदाय का त्याग कर अन्य गच्छ के आचार्यादि का आश्रय स्वीकार करना उपसम्पदा कहलाता है। अतः उपसम्पदा वाहक मुनि के द्वारा की जाने वाली आलोचना उपसम्पदा आलोचना है।
3. अपराध आलोचना-व्रत आदि में लगने वाले दोषों की विशुद्धि के लिए की जाने वाली आलोचना अपराध आलोचना है।

आलोचना मुख्य रूप से उक्त तीन स्थितियों में ही की जाती है इनके अतिरिक्त आलोचना के अन्य स्थान नहीं हैं। विहार आलोचना आदि का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1. विहार आलोचना– निशीथभाष्य के अनुसार विहार आलोचना के दो प्रकार हैं– ओघ और विभाग।[15]

इस विषयक सामान्य रूप से संक्षिप्त आलोचना करना ओघ विहार आलोचना है। विहार सम्बन्धी क्रम पूर्वक विस्तृत आलोचना करना विभाग आलोचना है।

2. उपसम्पदा आलोचना– उपसम्पदार्थ उपस्थित हुआ मुनि विहार आलोचना की तरह पहले मूलगुणों के अतिचारों की, फिर उत्तरगुणों के अतिचारों की आलोचना करे। तत्पश्चात उपसम्पद्यमान मुनि अन्य गच्छवासी साधुओं को वंदन पूर्वक निवेदन करे कि आपने मेरी आलोचना सुनी, अब आप मेरी सारणा-वारणा करें। तब वे मुनिजन भी कहते हैं कि– आप भी हमारी सारणा वारणा करियेगा।

इस वर्णन से बोध होता है कि उपसम्पदा इच्छुक मुनि जिस गच्छाचार्य की निश्रा में उपसम्पदा ग्रहण करना चाहता है, उसके द्वारा सर्वप्रथम आलोचना की जाती है उसके बाद ही आचार्य उसे अपने समुदाय में सम्मिलित करते हैं।

3. अपराध आलोचना– यह आलोचना भी पूर्ववत ओघ और पद विभाग से दो प्रकार की है। इसमें ओघ आलोचना एक दिन की और विभाग आलोचना एक दिन से लेकर अनेक दिनों की हो सकती है।

आलोचना किसके समक्ष करें?

व्यवहारसूत्र के अनुसार जहाँ तक सम्भव हो, निम्न क्रम से आलोचना करनी चाहिए, व्युत्क्रम से करने पर व्यवहारभाष्य के मत में चतुर्लघु और अगीतार्थ के पास आलोचना करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।[16]

आलोचना इच्छुक सर्वप्रथम अपने आचार्य या उपाध्याय के पास आलोचना करे। यदि किसी कारण से आचार्य-उपाध्याय का योग सम्भव न हो अर्थात वे रुग्ण हों या दूर हों एवं स्वयं की आयु अल्प हो तो बहुश्रुत गीतार्थ साम्भोगिक (समान सामाचारी वाले) साधु के समक्ष आलोचना करे। यदि बहुश्रुती साम्भोगिक साधु का योग न मिले तो उसके अभाव में बहुश्रुत-गीतार्थ अन्य साम्भोगिक (असमान सामाचारी वाले) साधु के समक्ष आलोचना करे। यदि आचार सम्पन्न असाम्भोगिक साधु भी न मिले तो बहुश्रुत आदि गुणों से युक्त समानलिंग वाले मुनि के पास आलोचना करे। यहाँ समानलिंग कहने का

आशय यह है कि उसका आचार कैसा भी क्यों न हो, उसके पास भी आलोचना की जा सकती है।

यदि समानलिंगी का योग न मिले तो पश्चात्कृत श्रमणोपासक (जो संयम पर्याय को छोड़कर श्रावक धर्म का पालन कर रहा है) के पास आलोचना करे। उक्त श्रमणोपासक के अभाव में सम्यक् भावित चैत्य देखे तो वहाँ आलोचना करे। उसके अभाव में गांव या नगर के बाहर पूर्व या उत्तर की ओर अभिमुख हो मस्तक पर करबद्ध अंजलि रखकर इस प्रकार बोले- "मैंने इतने अपराध किये हैं, इतनी बार अपराध किये हैं" ऐसा उच्चारणकर अर्हत् और सिद्धों की साक्षी से आलोचना करे। दुबारा उन दोषों का सेवन न करने के लिए संकल्पित होकर यथायोग्य तपः कर्म प्रायश्चित्त स्वीकार करे।[17]

संक्षेप में कहें तो आचार्य, उपाध्याय, बहुश्रुत साधर्मिक साधु, बहुश्रुत अन्य सांभोगिक साधु, बहुश्रुत समानलिंगी साधु, संयम त्यक्त श्रमणोपासक, सम्यक् भावित चैत्य, अरिहन्त एवं सिद्ध- इस प्रकार क्रमशः एक के अभाव में दूसरे के पास आलोचना करनी चाहिए। यहाँ 'सम्यक् भावित चैत्य' इस पद में चैत्य का अर्थ-आचार्य मधुकरमुनि ने सम्यग्दृष्टि या समझदार व्यक्ति किया है तदनुसार सम्यक्त्व भावित देवता के पास आलोचना करे।[18]

व्यवहारभाष्य में आलोचना करने के सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी प्रस्तुत किया गया है कि- कदाच आलोचित मुनि के द्वारा परित्यक्त दोष का पुनर्सेवन हो जाये तो वह अपने गच्छ के आचार्य के पास तथा उनके अभाव में क्रमशः उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणावच्छेदक के पास आलोचना करे।

अपने गच्छ में इन पाँचों के न होने पर अन्य सांभोगिक गच्छ में जाकर पूर्वोक्त क्रम से आलोचना करे।[19]

ओघनिर्युक्ति टीका के अनुसार उत्सर्गतः आलोचना आचार्य के पास ही करनी चाहिए। आचार्य का योग न हो तो गीतार्थ मुनि की खोज कर उनके पास आलोचना करे। गीतार्थ आदि के अभाव में सिद्धों की साक्षी से आलोचना करनी चाहिए।[20]

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि जिनशासन में आचार्य सर्वश्रेष्ठ होते हैं तथा किसी भी स्थिति में आलोचना अपरिहार्य रूप से करनी चाहिए। रोग आदि की स्थिति में भी गुरु महाराज का योग नहीं मिले तो सिद्ध आदि की

साक्षी से अलोचना करने पर विशुद्धि हो जाती है। जैसे कि चेटक महाराजा और कोणिक के संग्राम में जर्जरित हुए वरुण श्रावक ने गुरु के अभाव में सिद्ध आदि की साक्षी से आलोचना ली और उसी समय आयु पूर्णकर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से एकावतारी होकर मोक्ष जायेगा। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इस तरह की शुद्धि करने से क्या होता है? इसके जवाब में जैनाचार्य कहते हैं कि जैसे मजदूर अनाज, लकड़ी, लोहा आदि के भार को माथे या पीठ पर से उतारने के बाद स्वयं को अत्यन्त हलका महसूस करता है इसी तरह आत्मा पर लगे हुये पाप रूपी बोझ भी आलोचना द्वारा दूर होने से आत्मा एकदम हलकी हो जाती है।

आलोचना के प्रारम्भिक कृत्य

जैन धर्म की श्वेताम्बर टीकाओं में यह उल्लेख आता है कि आलोचक जिसके समक्ष आलोचना करना चाहता है सर्वप्रथम उन्हें वन्दन करें। उसके बाद यदि पार्श्वस्थ साधु या दीक्षा त्यक्त श्रावक आदि वन्दन करवाने की इच्छा न रखते हों तो उनके लिए आसन बिछाएं और सामान्य प्रणाम करके फिर आलोचना करे। यदि उत्प्रव्रजित वन्दन करवाने की इच्छा रखें तो उसे कुछ अवधि के लिए सामायिकव्रत और रजोहरण आदि लिंग देकर उसके हेतु आसन बिछाएं, फिर कृतिकर्म वन्दन करे। वन्दन की अनिच्छा प्रकट करने पर वचन और काया से प्रणाम मात्र कर आलोचना करनी चाहिए।

इसी तरह सम्यक्त्वी देवता के समीप आलोचना करे। देवता व्रतधारी न होने से उसमें सामायिक का आरोपण और लिंग समर्पण नहीं किया जाता।[21] वर्तमान काल में प्राय: आचार्य, गीतार्थ मुनि या वरिष्ठ मुनि के समीप ही आलोचना करते हैं।

साधु-साध्वी की पारस्परिक आलोचना-विधि

बृहत्कल्पभाष्य के निर्देशानुसार मुनियों की आलोचना के दो प्रकार हैं– एक स्वपक्षीय और दूसरा परपक्षीय। मुनि के द्वारा आचार्य के समीप आलोचना करना स्वपक्षीय आलोचना है। यह आलोचना निर्जन प्रदेश में की जानी चाहिए, ऐसा भाष्यकार का अभिमत है। इसमें आलोचक आचार्य का आसन स्थापित कर बद्धांजलि पूर्वक उत्कुटुक आसन में बैठता है।

साध्वी के द्वारा आचार्य के समीप आलोचना करना, परपक्षीय आलोचना है। यह आलोचना निर्जन प्रदेश में न होकर जहाँ लोग दिखाई देते हों, वैसे एकान्त स्थान में की जाती है। इस आलोचना में साध्वी आचार्य का आसन स्थापित नहीं करती और स्वयं खड़ी होकर दोषों का प्रकाशन करती है।[22]

यहाँ उल्लेखनीय है कि स्वपक्षगत आलोचना चतुष्कर्णा और परपक्षगत आलोचना षट्कर्णा एवं अष्टकर्णा होती है।

आचार्य अथवा प्रवर्त्तिनी के दो कान तथा आलोचक मुनि या साध्वी के दो कान- ऐसे चार कान तक सुनाई दे सकें, उस विधि से की जाने वाली आलोचना चतुष्कर्णा कहलाती है, इसी भाँति षट्कर्णा, अष्टकर्णा के बारे में भी समझना चाहिए।

चतुष्कर्णा- आचार्य और आलोचक मुनि अथवा प्रवर्त्तिनी और आलोचक साध्वी की आलोचना चतुष्कर्णा होती है। इस वर्ग में अन्य मुनि या साध्वी की जरूरत नहीं रहती। अकेली साध्वी आचार्य के पास तो नहीं, परन्तु प्रवर्त्तिनी के समीप नि:सन्देह आलोचना कर सकती है।

षट्कर्णा- एक वृद्ध आचार्य के पास एक साध्वी आलोचना करती है तब एक आचार्य, एक प्रवर्त्तिनी और एक आलोचक साध्वी ऐसे तीन के छह कान होने से षट्कर्णा आलोचना होती है।

अष्टकर्णा- जब एक साध्वी युवा गीतार्थ या आचार्य के पास दोष विकटन करती है तब एक आचार्य और एक साधु, एक प्रवर्त्तिनी और एक आलोचक साध्वी- ऐसे आठ कान सुनने वाले होने से अष्टकर्णा आलोचना होती है।

बृहत्कल्पभाष्य में आलोचक साध्वी जब परपक्ष में आलोचना करती है तब आलोचना काल में उसकी सहवर्त्तिनी के लिए 'भिक्षुणी' शब्द का उल्लेख है जबकि ओघनिर्युक्ति टीका में 'प्रवर्त्तिनी' शब्द का निर्देश किया गया है।[23]

उत्सर्गत: यदि प्रवर्त्तिनी की निश्रा प्राप्त हो तो उसी की उपस्थिति रहनी चाहिए, क्योंकि अन्य सहवर्त्ती मुनि या साध्वी के लिए भी विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक बतलाया गया है। इसका आशय है कि आलोचना काल में सामान्य मुनि या साध्वी मर्यादापूर्ति के रूप में उपस्थित नहीं रह सकते हैं।

दशकर्णा- व्यवहारभाष्य के अनुसार आलोचना काल में तीन, चार अथवा पाँच व्यक्ति भी हो सकते हैं। इसमें पाँच विकल्प हैं-

1. स्थविरा (प्रवर्त्तिनी या गीतार्था), स्थविर (आचार्य) के पास = तीन
2. स्थविरा (प्रवर्त्तिनी या गीतार्था), तरुण मुनि के पास = तीन
3. तरुण साध्वी (प्रवर्त्तिनी या गीतार्था), स्थविर (आचार्य) के पास = तीन
4. तरुण साध्वी (प्रवर्त्तिनी या गीतार्था), तरुण मुनि के पास = चार
5. समान वय वाली साध्वी साधु के पास = पाँच

अंतिम विकल्प में आलोचिका एवं आलोचना दाता के समान वय वाले दो सहायक तथा एक योग्य क्षुल्लक या क्षुल्लिका भी पास में रहें।[24]

आलोचना करने की आवश्यकता क्यों?

आचार्य हरिभद्रसूरि रचित संबोधप्रकरण में आलोचना की उपयोगिता को दर्शाते हुए कहा गया है कि

लज्जाइगारवेणं, बहुस्सु अमएण वा वि दुच्चरियं।
जे न कहेइ गुरुणं, न हु सो आराहगो भणिओ ।।28।।

जो व्यक्ति लज्जा, स्थूल शरीर, तप अरुचि या श्रुतमद आदि कारणों से अपने दुष्कर्मों को गुरु के समक्ष प्रकट नहीं करता, वह सफल आराधक नहीं हो सकता है।[25]

जिस अध्यवसाय से जो पाप किये हों अथवा अनाभोग आदि से दुष्कर्म हुए हों उन सब को उसी रूप में गीतार्थ गुरु के सामने प्रकाशित किया जाए तो पाप के प्रति तिरस्कार भाव पैदा होता है, पाप कार्य के संस्कार टूटते हैं और पुन: पाप कर्म न करने के भाव दृढ़ बनते हैं।

योग्य गुरु के समीप आलोचना करने से संवेग और सत्त्वगुण की वृद्धि होती है तथा गुरु कृपा प्राप्त करने से पाप के निमित्तों को निष्फल करने की शक्ति प्रगटती है। आलोचना करने से पापाचार से मलिन हुई आत्मा शुद्ध होती है। इसलिए सर्व साधकों को योग्य गुरु के पास अवश्यमेव भव आलोचना या वार्षिक आलोचना करनी चाहिए।

पूर्वकृत पापों की आलोचना किये बिना सम्यक् पुरुषार्थ जारी रखने पर भी साधना की इमारत लंबे समय तक टिक नहीं सकती। जैसे पैर में लगे हुए शूल को दूर नहीं किया जाये तब तक मुसाफिर पदयात्रा के लिए कितनी भी मेहनत करे पाँवों की गति में वेग नहीं ला सकता वैसे ही पाप रूपी काँटे को जब तक दूर नहीं किया जाये तब तक साधना की सीढ़ियों को तीव्रता से पार नहीं किया

जा सकता। इसलिए मोक्ष इच्छुक साधक को पाप रूपी शल्य दूरकर शीघ्र आत्मा की शुद्धि करनी चाहिए।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'विंशतिविंशिका' में यहाँ तक कहा है कि

न य तं सत्थं व विसं व, दुप्पउत्तु व्व कुणइ वेयालो।
जं तं व दुप्पउत्तं, सत्तुव्व पमाइओ कुद्धो ।।15/14।।
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तिमट्ठ कालम्मि।
दुल्लहबोहियत्तं, अणं तसंसारियत्तं च ।।15/15।।
अप्पंपि भावसल्लं, अणुद्धियं रायवणिय तणएहिं।
जायं कडुय विवागं, किं पुणा बहुआइं पावाइं ।।

अविधि से प्रयोग किया गया तीक्ष्ण शस्त्र, मृत्युकारक जहर, दुःसाधित वेताल, दुष्प्रयुक्त यंत्र अथवा तिरस्कार प्राप्त क्रोधाविष्ट सर्प या शत्रु किसी प्राणी का जितना अहित नहीं करता, उतना अहित अनुद्धरित भावशल्य (पाप) करता है।[26]

यदि मृत्युकाल में भी सद्गुरु के समक्ष दोष प्रकाशन नहीं किया जाये तो संसार में अनंतकाल तक परिभ्रमण करना पड़ता है और बोधि की प्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती है। इस कारण मुमुक्षु आत्माओं को गुरु के समीप पापों का आख्यान करना ही चाहिए।

राजपुत्र आर्द्रकुमार और वणिक पुत्र इलायची कुमार ने भाव शल्य की आलोचना नहीं ली तो उन्हें उससे भी कड़वा विपाक भोगना पड़ा तो फिर बहुत पापकर्म करने वाली आत्मा भाव शल्य को दूर नहीं करे तो उसकी क्या दशा हो सकती है? पूर्व भव में आर्द्रकुमार और इलायची पुत्र की आत्मा ने चारित्र स्वीकार किया था। किन्तु कुछ दिनों पश्चात अपनी दीक्षित पत्नी साध्वी की ओर सराग दृष्टि से देखा और उस पाप की शुद्धि के लिए आलोचना नहीं ली। इससे आर्द्र कुमार को धर्म की प्राप्ति नहीं हुई और अनार्य देश में जन्म लेना पड़ा तथा इलायची पुत्र को नटकुल की प्राप्ति आदि कड़वे फल भोगने पड़े थे। इस कारण आत्म कल्याण के अभिलाषी प्रत्येक भव्यात्मा को भाव शल्य दूर करने के लिये कटिबद्ध होना चाहिये। इसलिए कहा है कि

निट्ठवि अपाप पंका, सम्मं आलोइअ गुरु सगासे।
पत्ता अंणत सत्ता, सासय सुक्खं अणाबाहं ।।1।।

गीतार्थ गुरु के पास पापकर्मों की सम्यग् प्रकार से आलोचना करके एवं भाव शल्य से रहित बनकर अनंत जीवात्माओं ने अव्याबाध शाश्वत सुख प्राप्त किया है।

यहाँ यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है कि पाप क्रिया करने से जिस तरह के संक्लेश उत्पन्न होते हैं उससे अशुभ कर्मों का बंध होता है, किन्तु इन्हीं पाप क्रियाओं की गुरु समक्ष आलोचना करते वक्त जो पश्चात्ताप होता है उससे अशुभ कर्मों का बंधन टूटता भी है। अस्तु, आलोचना के माध्यम से पाप से छूटने की भावना रूप संवेग तीव्र होता है और उस संवेग से वचन विरुद्ध प्रवृत्ति के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रवर्द्धमान संवेग के कारण जीव में सत्त्व पैदा होता है। इस सत्त्व के प्रभाव से ही आलोचक आत्मा भविष्य में पापकर्म न करने का प्रत्याख्यान भी कर सकती है।

यदि इहभव कृत आलोचना संपूर्णत: शुद्ध विधि से की जाये तो उन पापों के प्रति उत्पन्न हुआ तिरस्कार भाव जन्म जन्मांतर कृत पापों को भी समूल रूप से नष्ट कर सकता है। महापुरुषों ने कहा भी है कि एक पाप के प्रति उत्पन्न तीव्र जुगुप्सा दुनियाँ के सर्व पापों के प्रति तीव्र जुगुप्सा पैदा करवाकर उसी भव में दृढ़प्रहारी, मृगावती जैसी महान आत्माओं की तरह मोक्ष पहुँचा सकती है।

आलोचना करने से पूर्व मानसिक भूमिका कैसी हो?

सर्वप्रथम आलोचना करने वाली आत्मा को आलोचना अनुष्ठान के प्रति अत्यन्त बहुमान होना चाहिए। उसके हृदय में यह विचार पैदा होना चाहिए कि इस संसार में भटकते हुए मुझे उत्तम क्रिया करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। हे परमात्मन्! मैं धन्य हूँ, यदि इस धर्मानुष्ठान से मैं अनभिज्ञ रहता तो मुझ जैसी पापात्मा कैसे निर्मल बनती? ऐसे उत्तम विचारों से मन को तैयार करना चाहिए और मानस पटल पर किसी भी प्रकार का अशुभ भाव ठहर न जाये उसका ख्याल रखना चाहिए, क्योंकि आलोचना करते समय लज्जा, भय, माया, वक्रता आदि किसी प्रकार का अशुभ भाव रह जाये तो आलोचना करने के उपरान्त भी आलोचना से शुद्धि नहीं हो सकती, इसलिए निर्भीक होकर एवं लज्जा को दूरकर सरल भावों से आलोचना करनी चाहिए।

यदि कोई रोगी, डॉक्टर के सामने भय या लज्जा रखते हुए रोग संबंधी योग्य हकीकत न कहे तो वह रोगी की उचित चिकित्सा नहीं कर सकता। इसलिए डॉक्टर के सामने सब कुछ बताना आवश्यक है उसी प्रकार मन-वचन-

काया से जो-जो पापकर्म हुए हों उन्हें यथावत गुरु के सामने कहना चाहिए, तभी गुरु योग्य प्रायश्चित्त देकर आत्मा की शुद्धि कर सकते हैं।

आलोचना करने से पहले आलोचक को सूक्ष्म बुद्धि से यह विचार भी करना चाहिए कि

- पाप करते वक्त मानसिक भाव क्या थे?
- कषायों की मात्रा कितनी थी?
- पाप इच्छापूर्वक हुआ अथवा सहसात्कार अथवा अनाभोग से हुआ?
- संयोगों के अधीन होकर पापकर्म किया अथवा पाप के संयोगों को मैंने ही उपस्थित किया?
- किसी के आग्रह या परवशता से पाप किया अथवा स्वेच्छा से पाप प्रवृत्ति की?
- किसी के निमित्त पाप किया अथवा स्वयं के स्वार्थ के लिए अथवा अपनी इच्छा के पोषण के लिए पापकर्म किया?

आलोचना की सामान्य विधि

इस भव में अभिज्ञता-अनभिज्ञता में किये गये पापों से मुक्त होने के लिए आलोचना करना आवश्यक है। जिस अध्यवसाय से जैसा पापकर्म किया हो उसे यथावत गीतार्थ गुरु के समक्ष प्रकट करने से तथा सद्गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त का वहन करने से पापों की शुद्धि होती है। यह आलोचना विधि व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य श्राद्धजीतकल्प, पंचाशकप्रकरण, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि ग्रन्थों में वर्णित है। पंचाशकप्रकरण में आलोचना विधि पाँच द्वारों के आधार पर कही गई है तथा विधिमार्गप्रपा में इस विषयक छह द्वारों का उल्लेख है।

पंचाशक प्रकरण के अनुसार पाँच द्वारों का सामान्य स्वरूप यह है-

1. योग्य- आलोचना करने वाला योग्य होना चाहिए।
2. योग्य के समीप- जिस गुरु के सन्मुख आलोचना की जाये, वह भी योग्य होना चाहिए।
3. क्रम- आसेवना अथवा आलोचना के क्रम से आलोचना करनी चाहिए।
4. सम्यक् -अहंकार, निर्दयता आदि पूर्वक अकृत्य करते हुए स्वयं के जैसे अध्यवसाय उत्पन्न हुए उन्हें छिपाये बिना स्पष्ट बताना चाहिए।

5. द्रव्यादि की शुद्धि– द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की शुद्धि पूर्वक आलोचना करनी चाहिए।

इन द्वारों का विस्तृत निरूपण निम्न प्रकार है–

1. आलोचक में अपेक्षित गुण

इस जन्म में किये गये दुष्कृत्यों से मुक्त होने जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता है। जैसे राज्य संचालन के लिए इन्द्रियों की पूर्णता, बुद्धि की तीक्ष्णता, शरीर क्षमता आदि कई गुणों का होना आवश्यक है वैसे ही आलोचनकर्त्ता में जातिसम्पन्नता-संविज्ञता आदि अनेक गुण होना जरूरी है।

स्थानांगसूत्र,[27] व्यवहारभाष्य[28] आदि के अनुसार आलोचक निम्न दस गुणों से युक्त होना चाहिए।

आलोएंतो एत्तो, दसहि गुणेहिं तु होति उववेतो।
जाति-कुल-विणय-नाणे,दंसण-चरणेहि संपण्णो।।
खंते-दंते अमायी य, अपच्छतावी य होंति बोधव्वे।

1. जाति सम्पन्न 2. कुल सम्पन्न 3. विनय सम्पन्न 4. ज्ञान सम्पन्न 5. दर्शन सम्पन्न 6. चारित्र सम्पन्न 7. क्षान्त 8. दान्त 9. अमायावी 10. अपश्चात्तापी।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि आलोचक में इतने गुणों की अन्वेषणा क्यों? इसका समाधान करते हुए टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि

- जाति सम्पन्न मुनि या सामान्य साधक प्राय: अकृत्य नहीं करता। यदि अकृत्य हो जाए तो सम्यक् आलोचना कर लेता है।
- कुल सम्पन्न साधक प्रायश्चित्त का सम्यक् निर्वाह करता है।
- विनय सम्पन्न सभी विनय प्रतिपत्तियों का निर्वाह करता है।
- ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति श्रुत के अनुसार सम्यक् आलोचना करता है। वह जान लेता है कि अमुक श्रुत से दिये गये प्रायश्चित्त द्वारा मेरी शुद्धि अवश्य होगी।
- दर्शन सम्पन्न प्रायश्चित्त शुद्धि में विश्वास करता है।
- चारित्र सम्पन्न व्यक्ति अतिचार सेवन नहीं करता। वह चारित्रगत स्खलनाओं की सावधानी पूर्वक बार-बार आलोचना करता है।

• क्षमावान मुनि गुरु के कठोर संभाषण को भी सहज रूप से स्वीकार करता है।

• दान्त मुनि प्रायश्चित्त तप का अच्छी रीति से वहन करता है।

• अमायावी साधक बिना कुछ छिपाए आलोचना स्वीकार करता है।

• अपश्चात्तापी साधक आलोचना करके पश्चात्ताप नहीं करता, अपितु वह मानता है कि मैं भाग्यशाली हूँ जो प्रायश्चित्त स्वीकार कर विशुद्ध हो गया।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने आलोचक में निम्नलिखित 11 गुणों का होना आवश्यक माना है[29]–

संविग्गो उ अमाई, मइमं कप्पट्ठिओ अणासंसी
पण्णवणिज्जो सद्धो, आणाइत्तो दुकडतावी ।।12।।
तव्विहि समुस्सुगो खलु, अभिग्गहा सेवणादि लिंगजुत्तो ।
आलोयणापयाणे, जोग्गो भणितो जिणिंदेहिं ।।13।।

तीर्थंकर महापुरुषों ने 1. संविग्न, 2. माया रहित, 3. विद्वान, 4. कल्पस्थित, 5. अनाशंसी, 6. प्रज्ञापनीय, 7. श्रद्धालु, 8. आज्ञावान, 9. दुष्कृततापी, 10. आलोचना विधि समुत्सुक और 11. अभिग्रह आसेवना आदि लक्षणों से युक्त साधक को आलोचना के योग्य कहा है।

1. संविग्न– संसार की अनर्थता-निर्गुणता आदि का विचार करने से जिसके मन में निरन्तर यह भाव रहता हो कि 'किसी भी तरह से इस संसार से मुक्त होना है, मुझसे कोई प्रवृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए जो मेरी भव भ्रमणा को बढ़ाये, मुझे कर्मभार से हल्का होना है' उसे संविग्न (संसारभीरु) कहते हैं। इस तरह संसारभीरु आत्मा ही आलोचना करने की अधिकारी है जिसे संसार परिभ्रमण का भय न हो वह आलोचना क्यों करेगा?

2. अमायी– जिस व्यक्ति में माया नाम का दूषण हो, वह स्वभाव से अच्छा न होने पर भी स्वयं को योग्य दिखाने की इच्छा रखता है। ऐसे मायावी पुरुष ने जिस स्थिति में पाप किया हो, उसकी यथायोग्य आलोचना नहीं कर सकता। इसलिए आलोचक मायावी नहीं होना चाहिए।

3. बुद्धिशाली– आत्मा ने जो पाप जिस विधि से किये हों, उस पाप को विवेकी और बुद्धिमान आत्मा ही समझ सकती है। बुद्धि विहीन आत्मा पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म का सूक्ष्म विभाग नहीं कर सकती, इसलिए बहुश: यथार्थ रूप

से जिसे पाप कहा जाता है उस अधर्म स्थान को धर्म मान लेते हैं और वास्तविक धर्मानुष्ठान की उपेक्षा भी कर देते हैं। इसलिए आलोचक को देव-गुरु की कृपा प्राप्त कर स्वयं की बुद्धि को सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। कदाचित क्षयोपशम के अभाव में तद्योग्य सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न न हो तो सद्गुरु के वचनों के प्रति श्रद्धा रखते हुए तद्ज्ञापित धर्म-अधर्म को समझने का प्रयास करना चाहिए।

4. कल्पस्थिति– कल्प=मर्यादा, स्थित=स्थिर अर्थात मर्यादा में रहा हुआ। आलोचक आत्मा मुनि जीवन, श्रावक जीवन या सम्यग्दर्शन की मर्यादा से युक्त होनी चाहिए, क्योंकि मर्यादित स्वभावी आत्मा ही पाप के प्रति तिरस्कार भाव वाली होकर सद्आचरण द्वारा पापकृत्यों से निवृत्त भी हो सकती है।

5. आनाशंसी-आशंसा अर्थात फल की इच्छा। आलोचना अनुष्ठान करने के प्रतिफल में मुझे इस जन्म में यश, प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो तथा परलोक में इस धर्म के द्वारा देवलोक आदि की सुन्दर सामग्री प्राप्त हो– इस प्रकार की आशंसा रखना निदान शल्य है और उससे अतिचार की प्राप्ति होती है। इसलिए आलोचना करते वक्त मेरे पाप कर्मों का नाश हो, इसके अतिरिक्त कोई इच्छा नहीं रखनी चाहिए।

6. प्रज्ञापनीय– जिसे आसानी से समझाया जा सके उसे प्रज्ञापनीय कहते हैं। यदि प्रज्ञापनीयता नाम का गुण न हो तो भूल होने पर भी व्यक्ति उसे न स्वीकार कर सकता है और न ही उसमें सुधार ला सकता है। इस वजह से उसकी आलोचना भी निरर्थक होती है, जबकि प्रज्ञापनीय दोष ज्ञापक का आभार मानता है, उसके प्रति प्रमुदित होता है तथा गलती को सुधारने हेतु प्रयत्न भी शुरू कर देता है।

7. आज्ञावर्ती– जिसे पाप से छूटने की तीव्र तमन्ना हो उन सभी आत्माओं को एक योग्य गुरु स्वीकार करना चाहिए, जिनके समक्ष स्वयं की सर्व हकीकतों को कह सके और गुरु भी उन समस्त संयोगों का विचार कर उसे आत्महित का मार्ग बता सके। आलोचक को ऐसे गुरु की आज्ञा में रत रहना चाहिए। क्योंकि योग्य गुर्वाज्ञानुसार जीवन जीने से प्राय: कोई अकार्य नहीं होता और सत्कार्य की प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। इसलिए आलोचक आत्मा को आप्त पुरुषों का आज्ञावर्ती भी होना चाहिए।

8. श्रद्धालु– प्रायश्चित्त क्रिया करने से ही मेरे पापों का नाश होगा, ऐसी श्रद्धावान आत्मा ही प्रायश्चित्त के लिए उत्साहित हो सकती है और प्रायश्चित्त

के रूप में गुरु प्रदत्त तप आदि अनुष्ठान भी कर सकती है इसलिए आलोचक में श्रद्धा गुण अत्यन्त जरूरी है।

9. दुष्कृततापी– आलोचक स्वयं द्वारा किये गये अकार्यों का पश्चात्ताप करने वाला होना चाहिए। अतिचार सेवन रूप दुष्कृत्य से तपने वाला दुष्कृततापी कहलाता है। ऐसी आत्मा ही समुचित रूप से अतिचारों की आलोचना कर सकती है। संसारी आत्माओं से किसी तरह का दुष्कृत न हो, यह शक्य नहीं, इसलिए पाप सेवन का पश्चात्ताप होना जरूरी है। आलोचना करते हुए जो-जो पाप याद आयें उनके प्रति तुरन्त ही आलोचक अनुताप युक्त बन जाता है। पाप के प्रति किया गया पश्चात्ताप इस तरह के दुष्कृत्यों को रोकने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

10. आलोचना विधि में उत्सुक– विधिपूर्वक आलोचना करने की इच्छुक आत्मा ही आलोचना की अविधि का त्याग कर सकती है। शास्त्रों में आलोचना ग्रहण हेतु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव संबंधी अनेक विधियाँ कही गई हैं। आलोचक इस विधि मार्ग को जानकर तदनुरूप आलोचना करने की इच्छा वाला होना चाहिए।

11. अभिग्रह इच्छुक– आलोचक ने जिन-जिन पाप कार्यों की आलोचना की है वे पापकर्म बार-बार न हों, तदर्थ यदि आलोचक में शक्ति हो तो जिन पापों का सेवन किया है तद्संबंधी अवश्य नियम करे तथा शक्ति न हो तो अन्य शक्तिशाली व्यक्तियों के नियम करने में सहयोगी बने, नियम करने वाले की अनुमोदना करे और स्वयं में उस प्रकार की शक्ति प्रगट हो वैसी भावना भायें।

श्राद्धजीतकल्प[30] एवं विधिमार्गप्रपा[31] में आलोचक के लिए निम्न दस गुणों का होना अनिवार्य कहा गया है–

जाइ-कुल-विणय-उवसम, इंदियजय-नाण-दंसणसमग्गो।
अण्णणुतावी अमाई, चरणजुया लोयगा भणिया।।22।।

1. जातिसम्पन्न 2. कुलसम्पन्न 3. विनयसम्पन्न 4. उपशमसम्पन्न 5. इन्द्रियजयी 6. ज्ञान सम्पन्न 7. दर्शनसम्पन्न 8. अपश्चात्तापी 9. अमायावी और 10. चारित्रसम्पन्न– इन दस गुणों से युक्त साधक आलोचना योग्य है।

आचारदिनकर के अनुसार आलोचक में निम्नांकित योग्यताएँ होनी चाहिए–

संवेगवान् गुणांकाक्षी, तत्त्वज्ञः सरलाशयः।
गुरु भक्तो निरालस्य स्तपः क्षमशरीरकः।।1।।
चेतनावान्स्मरन्सर्वं, निजाजीर्णं शुभाशुभम्।
जितेन्द्रियः क्षमायुक्तः, सर्वप्रकटयन्कृतम्।।2।।
निर्लज्जः पाप कथने, स्वप्रशंसा विवर्जितः।
सुकृतस्य परं गोप्ता, दुष्कृतस्य प्रकाशकः।।3।।
पाप भीरूः पुण्यधन, लाभाय विहितादरः।
सदयो दृढ़सम्यक्त्वः, परोपेक्षाविवर्जितः।।4।।
एवं विधो यतिः साध्वी, श्रावकः श्राविकापि च।
आलोचना विधानाय, योग्यो भवति निश्चितम्।।5।।

संवेगवान हो, गुणाकांक्षी हो, तत्त्वज्ञ हो, सरल हो, गुरु भक्त हो, आलस्य रहित हो, तप करने में सामर्थ्यवान् हो, बुद्धिमान हो, स्मृतिवान् हो, अपने शुभ-अशुभ कार्यों का प्रकाशन करने वाला हो, जितेन्द्रिय हो, क्षमावान हो, सब कुछ प्रकट करने की क्षमता वाला हो, पाप में निर्लज्ज हो, अपनी प्रशंसा का त्यागी हो, दूसरों पर किए गए उपकारों को गुप्त करने वाला हो, अपने दुष्कृत का ज्ञापक हो, पापभीरु हो, पुण्यरूपी धन के प्रति आदरभाव रखने वाला हो, दयावान हो, दृढ़सम्यक्त्वी हो, पर की उपेक्षा का वर्जन करने वाला हो– इन सभी गुणों से युक्त साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाएँ निश्चित रूप से आलोचना करने के योग्य होते हैं।[32]

2. आलोचना सुनने अथवा प्रायश्चित्त देने योग्य गुरु कैसे हों?

यदि शरीर में कोई भयंकर रोग उत्पन्न हो जाये तो सामान्य वैद्य के पास न जाकर निष्णात वैद्य के समीप जाते हैं। यदि सामान्य वैद्य के समक्ष अपनी तकलीफें बताएँ और कदाच अज्ञानता के कारण विपरीत औषधियाँ दे दी जाए तो स्वयं के लिए हानिकारक भी बन सकती है, परन्तु कुशल वैद्य हो तो ज्ञान और अनुभव के आधार पर ऐसी औषधियाँ देता है कि जिससे रोग जड़ मूल से समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा का भाव आरोग्य प्राप्त करने के लिए पाप रूपी रोगों को दूरकर आत्मा को शुद्ध बनाना चाहिए। आत्म आरोग्य प्राप्ति की औषधि आलोचना और प्रायश्चित्त है तथा सुवैद्य के समान योग्य गुरु के सामने आलोचना करने से अवश्य शुद्धि होती है।

सद्गुरु शास्त्रवचन के आधार से प्रायश्चित्त रूप औषध प्रदान करते हैं। इस प्रायश्चित्त का सेवन यदि पथ्य के पालनपूर्वक हो यानी रोगवर्धक निमित्तों के परित्यागपूर्वक हो तथा प्रायश्चित्त रूप में दिया गया तप-जप-स्वाध्याय आदि प्रतिपक्ष भावनापूर्वक किये जायें तो जिस प्रकार सुवैद्य की औषधि से रोग का कारण ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार पापों के संस्कार जड़ से नष्ट हो जाते हैं।

सामान्यतया कोई व्यक्ति वैद्यक शास्त्र के अभ्यास से वैद्य बनता है वैसे ही चारित्र के परिपालन से जीव परमात्मा बनता है। किन्तु वैद्य संबंधी शास्त्रों का अध्ययन करने मात्र से सभी वैद्य निष्णात वैद्य नहीं बनते, उसके लिए विशिष्ट अभ्यास, अनुभव, कुशलता आदि आवश्यक है। उसी भाँति चारित्र धर्म के सेवन से भावसाधु तो अनेक हो सकते हैं, परन्तु अन्य जीवों के भाव रोगों को मिटा सके, वैसे गुरु तो कोई विशिष्ट गुण सम्पन्न आत्मा ही बन सकती है।

जिनके समीप आलोचना करके भाव आरोग्य की प्राप्ति हो सके ऐसे आलोचना दाताओं की चर्चा पूर्वाचार्यों ने अनेक स्थानों पर की है। स्थानांगसूत्र के अनुसार आलोचना देने योग्य गुरु में निम्न 10 गुण होने चाहिए।[33]

1. आचारवान– आलोचनादाता ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य– इन पांच आचारों से युक्त हो।

2. आधारवान– आलोचक द्वारा आलोचित या आलोच्यमान समस्त अतिचारों को जानने वाला एवं उसे अवधारण करने में समर्थ हो।

3. व्यवहारवान– आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत– इन पाँच व्यवहारों का ज्ञाता तथा इनके आधार पर प्रायश्चित्त देने में कुशल हो।

4. अपव्रीड़क– आलोचक लज्जामुक्त हो, निःसंकोच अपने दोषों को बता सके, उसमें मधुर वचनों से वैसा साहस उत्पन्न करने वाला हो।

5. प्रकुर्वी– प्रकटकृत अतिचारों का सम्यक् प्रायश्चित्त देकर आलोचक की विशोधि करने वाला हो।

6. अपरिस्रावी– आलोचक के आलोचित दोषों को दूसरों के सामने प्रकट नहीं करने वाला हो।

7. निर्यापक– आलोचना करने वाला बड़े प्रायश्चित्त का भी निर्वहन कर सके, ऐसा सहयोग देने वाला हो।

8. अपायदर्शी– सम्यक् आलोचना तथा प्राप्त प्रायश्चित्त का सम्यक् वहन न करने से उत्पन्न दोषों को बताने वाला हो।

9. प्रियधर्मा– धर्म से प्रेम रखने वाला हो।

10. दृढ़धर्मा– आपत्तिकाल में भी स्थिर चित्तवाला हो।

व्यवहारभाष्य में संघदासगणि ने आलोचना दाता गुरु के 8 लक्षण बतलाये हैं जो स्थानांगसूत्र के अंतिम दो भेदों को छोड़कर शेष 8 समान ही हैं। स्पष्टता के लिए मूल पाठ यह है[34]–

आलोयणारिहो खलु.....
अट्ठहिं चेव गुणेहिं, इमेहिं जुत्तो उ नायव्वो,
आयारवं आधारवं, ववहारोव्वीलए पकुव्वी य।
निज्जवगऽवायदंसी, अपरिस्सावी य बोधव्वो।।

व्यवहारभाष्य के अनुसार आलोचना दाता गुरु में निम्नोक्त योग्यताएँ भी आवश्यक हैं [35] –

गीतत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गंभीरा।
चिर दिक्खिया य वुड्ढा, जतीण आलोयणा जोग्गा।।

- **गीतार्थ–** सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ में निष्णात हो।
- **कृतकरण–** आलोचना में सहायक रह चुका हो।
- **प्रौढ़–** बिना हिचकिचाहट के प्रायश्चित्त देने में समर्थ हो।
- **परिणामी–** वह अपरिणामी और अतिपरिणामिक न हो।
- **गंभीर–** आलोचक के महान दोषों को सुनकर भी उसे पचाने में समर्थ हो।
- **चिरदीक्षित–** तीन वर्ष से अधिक दीक्षा पर्यायवाला हो।
- **वृद्ध–** श्रुत, पर्याय और वय से स्थविर हो।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशकप्रकरण में आलोचना योग्य गुरु के 11 लक्षण बतलाये हैं उनमें आठ गुण स्थानांगसूत्र के समान ही हैं शेष तीन गुण निम्नोक्त हैं [36]–

9. परहितोद्यत– परोपकार में तत्पर हो।

10. सूक्ष्म भावकुशलमति– शास्त्रों के सूक्ष्म भावों को जानने में कुशल एवं तीक्ष्ण बुद्धिवाला हो।

11. भावानुमानवान– दूसरों के चैतसिक भावों को अनुमान से जानकर उन्हें योग्य प्रायश्चित्त देने में समर्थ हो। उक्त गुणों से युक्त गीतार्थ आदि मुनि आलोचना देने योग्य होते हैं।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने स्थानांगसूत्र में वर्णित 8 गुणों को ही आलोचना के लिए अनिवार्य माना है।[37]

आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार प्रायश्चित्त के अनुज्ञापक गुरु निम्नोक्त गुणों से सम्पन्न होने चाहिए–

संपूर्णश्रुतपाठज्ञो, गीतार्थः पूर्णयोगकृत्।
व्याख्याता सर्वशास्त्राणां, षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः ।।1।।
शान्तो जितेन्द्रियो धीमान्, धीरो रोगादिवर्जितः।
अनिन्दकः क्षमाधारी, ध्याता जितपरिश्रमः ।।2।।
तत्त्वार्थविद्धारणावान्, नृपरङ्गसमाशयः।
वारंवारं श्रुतं दृष्ट्वा, विवक्षुर्वचनं शुभम् ।।3।।
अनालस्यः सदाचारः, क्रियावान्कपटोज्झितः।
हास्यभीतिजुगुप्साभिः, शोकेन च विवर्जितः ।।4।।
प्रमाणं कृतपापस्य, जानन्श्रुतमतिक्रमैः।
इत्यादिगुणसंयुक्तः, प्रायश्चित्ते गुरुः स्मृतः ।।5।।

सकल शास्त्रों का अध्ययन किया हुआ हो, गीतार्थ हो, सम्पूर्ण योग किए हुए हो, सर्व शास्त्रों का व्याख्याता हो, छत्तीस गुणों से युक्त हो, शान्त हो, जितेन्द्रिय हो, बुद्धिमान हो, धीर हो, आरोग्यवान हो, अनिन्दक हो, क्षमाशील हो, ध्याता हो, जित परिश्रमी हो, तत्त्व के अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझकर धारण करने वाला हो, समदृष्टि युक्त हो, सदैव श्रुत के आधार पर शुभ वचन बोलने वाला हो, अप्रमत्त हो, सदाचारी हो, क्रियावान हो, निष्कपट हो, हास्य-भय-जुगुप्सा एवं शोक से रहित हो, किये गये पापों के परिणाम को मति एवं श्रुतज्ञान के द्वारा जानने वाला हो– इन गुणों से युक्त गुरु ही प्रायश्चित्त दान के योग्य होते हैं।[38]

उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर आचार्यों ने आलोचना योग्य गुरु में जिन गुणों का होना आवश्यक माना है, उनमें लगभग समानता है। दिगम्बर ग्रन्थों में इस संबंधी वर्णन पढ़ने में नहीं आया है।

3. आलोचना किस क्रम से करें?

पंचाशकप्रकरण आदि के अनुसार आलोचना दो क्रम से की जाती है– आसेवना क्रम और विकट क्रम। जिस क्रम से दोषों का सेवन किया हो उसी क्रम

से दोषों को कहना आसेवना क्रम कहलाता है। पहले छोटे दोष वाले अतिचारों को कहना, फिर स्थूल दोषरूप अतिचारों को कहना अर्थात पंचक आदि प्रायश्चित्त के क्रम से ज्यों-ज्यों प्रायश्चित्त की वृद्धि हो त्यों-त्यों दोषों को कहना विकट आलोचना क्रम कहलाता है। जैसे- सबसे छोटे अतिचार में 'पंचक' प्रायश्चित्त आता है, उससे बड़े अतिचार में 'दशक' और उससे बड़े अतिचार में 'पंचदशक' प्रायश्चित्त आता है इस क्रम से दोषों को प्रकट करना विकट आलोचना क्रम कहलाता है।[39]

सामान्य रूप से आलोचना निम्न क्रम पूर्वक करें[40]- मुनिधर्म की अपेक्षा से सबसे पहले प्रथम महाव्रत संबंधी आलोचना करनी चाहिए. उसमें भी प्रथम पृथ्वीकाय संबंधी आलोचना करें। जैसे-

पृथ्वीकाय- मार्ग में चलते समय अस्थण्डिल भूमि को स्थण्डिल भूमि में, स्थण्डिल से अस्थण्डिल भूमि में, काली मिट्टी से नीली मिट्टी में, नीली मिट्टी से काली मिट्टी में संक्रमण करते हुए पैरों का प्रमार्जन न किया हो, सचित्त धूल से संसक्त हाथ या पात्र से आहार ग्रहण किया हो- इस प्रकार चिंतन करते हुए पृथ्वीकाय विराधना की आलोचना करें।

अप्काय- सचित्त जल से गीले या स्निग्ध हाथ आदि से भिक्षा ली हो, मार्गस्थ नदी आदि को अयतना से पार किया हो।

तेउकाय- अग्नि पर रखा हुआ या अग्नि संस्पर्शित आहार ग्रहण किया हो, विद्युत प्रकाशमान वसति में रहे हों आदि।

वायुकाय- शरीर, भक्त-पान आदि पर पंखे से हवा की हो, गर्मी से पीड़ित हो वायु के सम्मुख आसन लगाया हो आदि।

वनस्पतिकाय- बीज आदि का संघट्टा हुआ हो या तदयुक्त वस्तु ग्रहण की हो।

त्रसकाय- पाँच इन्द्रियों की वृद्धि क्रम से आलोचना करें। जैसे- बेइन्द्रिय यावत पंचेन्द्रिय प्राणी का संघट्टन-परितापन-उद्रावण आदि किया हो।

दूसरे महाव्रत में क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य या भय से झूठ बोला हो।

तीसरे महाव्रत में अदत्त वस्तु उठायी या ग्रहण की हो। चौथे महाव्रत में स्त्री या पुरुष का संघट्टन हुआ हो, पूर्व भोगों का अनुस्मरण किया हो, स्त्रियों के अवयवों का अवलोकन किया हो इत्यादि।

पाँचवें महाव्रत में अतिरिक्त उपधि का ग्रहण या उपभोग किया हो, उपकरणों में आसक्ति रखी हो इत्यादि।

छठे व्रत में आहार लिप्त पात्र आदि अथवा औषधि आदि रात्रि में रखे हों, तो उसकी आलोचना करें।

उत्तर गुण विषयक आलोचना के सम्बन्ध में- समिति और गुप्ति के विपरीत आचरण किया हो, शारीरिक एवं आभ्यन्तर शक्ति होने पर भी तप-सेवा-स्वाध्याय आदि में उद्यम न किया हो, शक्ति को छुपाया हो तो उन सबकी आलोचना करें।

श्रावक धर्म की अपेक्षा से सम्यक्तवव्रत, बारहव्रत, पंचाचार सम्बन्धी अतिचारों एवं अठारह पापस्थानक आदि की आलोचना करनी चाहिए।

4. आलोचना का भाव प्रकाशन किस प्रकार हो?

आलोचना किस विधि से सम्यक् हो सकती है? इस सम्बन्ध में आगम मर्यादा के अनुसार विचार करना चाहिए। आचार्य हरिभद्रसूरि ने आलोचना की सम्यक् विधि का क्रम बतलाते हुए कहा है कि आकुट्टिका, दर्प, प्रमाद, कल्प और आकस्मिक प्रयोजन के अनुक्रम से आलोचना करनी चाहिए।

1. आकुट्टिका– संकल्प पूर्वक पाप किया हो तो उससे व्रत निरपेक्ष के परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं इसलिए सर्वप्रथम संकल्पित पापों को प्रकट करें।

2. दर्प– कषायों की अधीनता से पाप किया हो तो दूसरे क्रम में तज्जनित पापों का प्रकाशन करें।

3. प्रमाद– फिर तीसरे क्रम में मद्य, विषय, कषायादि पंचविध प्रमाद से पाप किया हो तो उसका निवेदन करें।

4. कल्प– अशिव, उपद्रव, दुष्काल आदि विशेष परिस्थितियों में दूषित आहार लिया हो तो वह आलोचनीय नहीं होता, क्योंकि उस समय अपवाद का स्थान होने से वह कल्प रूप है। यद्यपि गुरु के सामने बताना चाहिए कि कल्प से अमुक प्रकार के दोषों का सेवन किया, जिससे गुरु उस स्थिति में हुई अयतना आदि का प्रायश्चित्त दे सकें तथा ऐसे स्थानों की आलोचना करने से आपवादिक स्थान के प्रति जुगुप्सा जीवंत रहती है।

5. आकस्मिक प्रयोजन– आकस्मिक प्रयोजन उपस्थित होने पर जैसे- अग्नि, उपद्रव, बाढ़, भूकम्प आदि स्थितियों में कार्य-अकार्य का विचार किये

बिना अथवा अयतना से भूल हुई हो उसे आकस्मिक प्रयोजन कहते हैं।

इस प्रकार जो अपराध जिस प्रयोजन से हुआ हो वह सब आलोचना दाता के समक्ष प्रकट करने से आलोचना सम्यक् हो सकती है, अत: आत्मशुद्धि के इच्छुक साधकों को उक्त रीति से अपराधों का निवेदन करना चाहिए।[41]

5. आलोचना योग्य प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव

व्यवहारभाष्य के उल्लेखानुसार आलोचना देते समय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों को देखकर तथा दिशा का निर्धारण कर आलोचना देनी चाहिए। इन पाँचों के दो-दो प्रकार हैं– प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त द्रव्य आदि के सद्भाव में आलोचना करनी चाहिए, अप्रशस्त में नहीं।[42]

यहाँ प्रश्न होता है कि आलोचना काल में द्रव्य आदि शुद्धि का प्रयोजन क्या है? इसका मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि आलोचना लेते समय यदि आस-पास का स्थान सुन्दर हो, वातावरण शान्त हो तो वह मन को शुभ भाव की ओर प्रवृत्त करने में सहायक होते हैं। शुभ पदार्थ शुभ भाव में निमित्त होने से प्रशस्त द्रव्य आदि में की गई आलोचना शुभ भाव की वृद्धि करती है इसलिए यथाशक्य अशोक आदि वृक्ष के नीचे अथवा मनोहर उपवन में आलोचना करनी चाहिए।

1. द्रव्य शुद्धि– जिस प्रकार आलोचना लेते-देते समय बाह्य दृष्टि से सुन्दर वातावरण, इर्द-गिर्द उत्तम द्रव्य आदि का होना जरूरी है उसी प्रकार आलोचना के मुख्य दो अंग हैं– आलोचना गृहीता एवं आलोचना दाता– यह द्रव्य भी विशेष शुद्ध होने चाहिए। आलोचक पूर्वोक्त जाति सम्पन्नादि एवं संविज्ञादि गुणों से युक्त होना चाहिए। कदाचित आलोचक में आवश्यक सभी गुण न हों तो कम से कम पाप मुक्ति रूप संवेग भाव और आलोचना की शुद्धिभूत निष्कपट भाव– ये दो गुण तो होने ही चाहिये। आलोचना दाता गुरु भी उत्तम होने चाहिए। यदि पूर्वकथित योग्य गुरु की प्राप्ति तत्काल आस-पास के क्षेत्र में न हो तो शास्त्रों में कहा गया है कि उत्कृष्टत: क्षेत्र की दृष्टि से 700 योजन तक और काल की दृष्टि से बारह वर्ष तक गीतार्थ गुरु की खोज करें अथवा प्रतीक्षा करें। यदि अभिप्सित गुरु की प्राप्ति हो जाये तो उन्हीं के सान्निध्य में आलोचना करे और प्राप्ति न हो तो संविज्ञ पाक्षिक आदि पूर्व वर्णित क्रम से आलोचना करें।[43]

यहाँ प्रश्न उठता है कि सद्गुरु प्राप्ति की खोज करते-करते आयुष्य बीच में ही पूर्ण हो जाये तो पाप शुद्धि किस प्रकार हो? इसके समाधान में शास्त्रकारों ने अत्यन्त मार्मिक बात कही है कि

आलोयण परिणओ, सम्मं संपट्ठिओ गुरु सगासे ।
जइ अंतरावि कालं, करेई आराहओ तहवि ।।

शुद्ध आलोचना करने के लिए प्रस्थित हुआ साधक प्रायश्चित्त ग्रहण करने से पूर्व ही कालधर्म को प्राप्त हो जाये तो भी वह आराधक कहलाता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से आलोचना के भाव रखने वाला भी आलोचक ही कहलाता है। सामान्य रूप से चंपक वृक्ष, शाली वृक्ष जैसे उत्तम वृक्ष और रमणीय उपवन में आलोचना करना द्रव्य शुद्धि है।

क्षेत्र शुद्धि– आलोचना लेने के लिए स्थान भी योग्य होना चाहिए। जैसे– इक्षुवन, शालीवन आदि शुद्ध क्षेत्र हैं वैसे ही निर्मल परमाणुओं से पावन जिनालय, तीर्थस्थान या महापुरुषों की साधना स्थली तथा धर्मानुकूल उपाश्रय आदि स्थानों पर आलोचना करना क्षेत्रशुद्धि है।

काल शुद्धि– आलोचना के लिए दिन आदि भी शुद्ध होने चाहिए, क्योंकि प्रत्येक कार्य पर शुभ काल का प्रभाव पड़ता है। इसीलिए शुभ कार्य में मुहूर्त्त की अपेक्षा रखी जाती है। आलोचना भी अत्यन्त शुभ कार्य है। व्यवहारभाष्य के अनुसार आलोचना हेतु द्वितीया, तृतीया आदि प्रशस्त तिथियाँ, प्रशस्त करण और प्रशस्त मुहूर्त्त योग्य है। विधिमार्गप्रपा और आचारदिनकर के निर्देशानुसार दग्धा तिथियाँ, अमावस्या, अष्टमी, नवमी, षष्ठी, चतुर्थी और द्वादशी को छोड़कर शेष तिथियों में, चित्रा, अनुराधा, रेवती, मृगशिरा, हस्त, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद, पुष्य, रोहिणी, स्वाति, अभिजित्, पुनर्वसु, अश्विनी, धनिष्ठा, श्रवण और शतभिषा– इन नक्षत्रों में शनि और मंगलवार को छोड़कर शेष वारों में तथा आलोचना दाता गुरु और आलोचक शिष्य के चन्द्रबल में आलोचना करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त क्षय तिथि, उग्र नक्षत्र और उग्र वार में आलोचना नहीं करनी चाहिए।[44]

मोक्षार्थी जीवों को आत्म शुद्धि के लिए प्रतिदिन आलोचना करनी चाहिए। यदि नित्य संभव न हो तो पक्ष में एक बार, उसके अभाव में चार महीने में एक बार अथवा वर्ष में एक बार तो अवश्य आलोचना करनी चाहिए।

भावयुक्त दैवसिक आदि प्रतिक्रमण करने वालों की सामान्य आलोचना हो जाती है। तदुपरान्त जब साधक विशेष धर्म की आराधना हेतु तत्पर बने, उस समय पूर्वकृत दुष्कृत्यों का सूक्ष्म निरीक्षण कर पुनः आलोचना करनी चाहिए।

सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति या अनशन जैसी उत्तम क्रियाएँ आत्मा में विशेष शुभ भावों की जनक हैं इसलिए उक्त क्रियाओं को प्रारम्भ करने से पहले अवश्य आलोचना करनी चाहिए। क्योंकि अशुभ संस्कारों के क्षय से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं और उसमें ही शुभ संस्कार बनते हैं। आत्मा में जब तक अशुभ संस्कार जमे रहते हैं तब तक चाहे जितनी मात्रा में शुभ क्रिया करें वह थोड़े शुभ भाव उत्पन्न तो कर सकती हैं परन्तु उत्पन्न शुभ भावों को स्थायित्व प्रदान कर शुभ संस्कार के योग्य नहीं बना सकती।

एक अच्छा जिनालय बनाने का इच्छुक व्यक्ति उसका पाया खोदते समय सर्वप्रथम यह निरीक्षण करता है कि यहाँ शल्य है कि नहीं? क्योंकि शल्ययुक्त प्रासाद दीर्घावधि तक टिक नहीं सकता। कदाच टिक जाये तो निवासियों को सुख नहीं दे सकता। इसलिए जिनालय का निर्माण करवाने वाला सबसे पहले भूमि के अन्दर से हड्डियाँ, अशुभ वस्तुएँ आदि दूर करवाता है वैसे ही उत्तम क्रिया का प्रारंभ करने से पहले पाप रूप शल्य को दूर कर देना चाहिए। उसके बाद शुभ अनुष्ठान का प्रारंभ करना चाहिए।

निमित्त शुद्धि– किसी भी शुभकार्य को करते हुए अच्छे शकुन आदि देखने चाहिए। उस समय अंगस्फुरण कैसा हो रहा है यह विशेष ध्यान देना चाहिए। निमित्त कैसे हैं? चित्त का उत्साह किस प्रकार का है? आदि देखकर अच्छे शकुन, शुभ अंगस्फुरण, शुभनाड़ी गमन और वर्द्धित उत्साह के समय आलोचना करनी चाहिए। इससे आलोचना अनुष्ठान में अवश्य सफलता मिलती है। शास्त्रों में वर्णन आता है कि लक्ष्मणा साध्वी ने आलोचना करने के लिए जब प्रस्थान किया उसी क्षण पाँव में कांटा चुभ गया। उसके उपरान्त भी वह आलोचना दाता गुरु के समीप पहुंची, परन्तु अशुद्ध निमित्त की उपेक्षा करने से पापों की पूर्ण शुद्धि नहीं कर सकी। इसलिए आलोचक को निमित्त शुद्धि के प्रति भी सावधान रहना चाहिए।

भाव शुद्धि– शास्त्र वर्णित विधि के अनुसार पाप की शुद्धि करने का भाव उत्पन्न होना यही आत्मा को शुद्ध बनाता है। आलोचना करने से पूर्व यह

भाव होना चाहिए कि मुझे परमात्मा की आज्ञानुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धिपूर्वक आलोचना करनी है। इसी के साथ पापाचरणों से निरन्तर छूटने का भाव हो तथा उसके योग्य गुरु की खोज का प्रयास जारी हो तो वह पुरुषार्थ ही पाप की शुद्धि करता है।

विगत कुछ वर्षों से आलोचना की परम्परा डायरी के आधार पर प्रवर्तित है। इस विधि के अनुसार आलोचक अपने दोषों को लिखकर देता है और गुरु उसे पढ़कर प्रायश्चित्त लिख देते हैं। मौखिक आलोचना की परम्परा शनैः शनैः कम होती जा रही है। आगमकारों के आशय से लिखित आलोचना भी मंगल वेला में प्रारम्भ करनी चाहिए।

सार रूप में कहा जा सकता है कि आलोचना-विधि के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह सब विधिपूर्वक करना चाहिए, क्योंकि विधि रहित आलोचना से विशुद्धि नहीं होती। पंचाशकप्रकरण में बताया गया है कि यदि कुवैद्य रोग की चिकित्सा करे अथवा किसी विद्या को अविधि से साधित किया जाये तो वह निष्फल होती है। कदाचित वह चिकित्सा या साधना सफल भी हो सकती है किन्तु विधि रहित आलोचना से कभी भी शुद्धि नहीं होती, क्योंकि अविधिपूर्वक आलोचना करने पर जिनाज्ञा का भंग होता है। जिनाज्ञा का विधिवत पालन न करने पर चित्त अत्यधिक संक्लेश अर्थात मलिनता को प्राप्त होता है। संक्लेश से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।[45]

प्रशस्त दिशा– श्वेताम्बर आचार्यों के अनुसार आलोचक को पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख और चरंती दिशा के अभिमुख होकर आलोचना करनी चाहिए। चरंती दिशा का अभिप्राय है कि जिस दिशा में तीर्थंकर, केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, नवपूर्वी अथवा युगप्रधान आचार्य विचरण करते हैं।[46]

दिगम्बर परम्परा के भगवतीआराधना विजयोदया टीका में भी आलोचना हेतु पूर्वोक्त दिशाओं का निर्देश है।[47]

आलोचना की प्रायोगिक विधि

- आलोचक शुभ तिथि, नक्षत्र, वार एवं लग्न के दिन आलोचना करें। विधिमार्गप्रपा[48] के अनुसार उस दिन आलोचक सर्वप्रथम जिनालय में चैत्यवंदन करें। फिर सर्व साधुओं को वन्दन कर आयंबिल तप का प्रत्याख्यान करें। यदि

आलोचना करने वाला गृहस्थ हो तो वह सर्व चैत्यों में बृहत्स्नात्र विधि से महापूजा करें, साधर्मिक वात्सल्य करें, संघपूजा करें एवं साधुओं को वस्त्र, अन्न आदि एवं ज्ञान के उपकरण प्रदान करें।

• तत्पश्चात शुभ लग्न के आने पर प्रायश्चित्तकर्त्ता गुरु की प्रदक्षिणा करें। फिर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करके चार स्तुतियों से मध्यम देववन्दन करें। तदनन्तर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

• तदनन्तर एक खमासमण देकर कहे– **''इच्छाकारेण संदिसह भगवन सोधि मुहपत्ति पडिलेहुं'**– हे भगवन! आत्मशुद्धि निमित्त मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन करने की अनुमति दीजिए। गुरु कहे– **'पडिलेहेह'** तब शिष्य मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त वंदन करे। तदनन्तर प्रायश्चित्तग्राही एक खमासमण देकर कहे– **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन! सोधि संदिसाहुं?'**– हे भगवान्! आप इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिए कि मैं आलोचना (आत्मशुद्धि की आराधना प्रारम्भ) करूँ? गुरु कहे **'संदिसावेह'** – आत्मशुद्धि की आराधना प्रारम्भ कर सकते हो।

• उसके बाद पुन: आलोचनाग्राही एक खमासमण देकर कहे– **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सोधि करस्युं'**– आपकी इच्छा एवं अनुमति पूर्वक आलोचना अथवा आत्मशुद्धि की आराधना प्रारम्भ कर रहा हूँ। तब गुरु कहे– **'करेह'**– आलोचना करो।

• तदनन्तर आलोचनाग्राही **'प्रायश्चित्त शुद्धि निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ'** ऐसा कह अन्नत्थसूत्र बोलकर चार लोगस्ससूत्र का चिन्तन करें। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। फिर गुरु के सामने अर्धावनत मुद्रा में तीन बार नमस्कारमन्त्र पढ़कर निम्न तीन गाथाएँ तीन-तीन बार बोलें–

वंदित्तु वद्धमाणं, गोयमसामि च जम्बुनामं च।
आलोअणा विहाणं, वुत्थामि जहाणुपुव्वीए।।1।।
आलोयणा दायव्वा, कस्सवि केणावि कत्थ काले वा।
के अ अदाणे दोसा, हुंति गुणा के अदाणे वा।।2।।
जे मे जाणंति जिणा, अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु।
तेहं आलोएमि, उवट्ठिओ सव्वकालंपि।।3।।

तदनन्तर आलोचनाग्राही पुनः एक खमासमण देकर कहे– **'इच्छकार भगवन्! पसायकरी सोधि अतिचार आलोऊं'** गुरु कहें– **'आलोएह।'**

• उसके बाद आलोचक एक खमासमण देकर घुटनों के बल बैठ जाये। फिर दोनों हाथ जोड़ते हुए एवं मुखवस्त्रिका को मुख के आगे स्थापित कर गुरु साक्षी से एक सौ चौबीस अतिचारों की धीरे-धीरे आलोचना करे। जो भी दुष्कृत किए हैं तथा उनमें से जो भी याद हैं उन सभी को मंद और मधुर स्वर से कहें।

गुरु भी समभाव पूर्वक सुनकर हृदय में धारण करें तथा आलोचक द्वारा किए गए दुष्कृतों एवं परिस्थिति के अनुसार तद्योग्य तप आदि दसविध प्रायश्चित्तों को करने का आदेश दें।

आलोचना न करने के दुष्परिणाम

आपराधिक वृत्तियों के दुष्परिणामों से बचने का एक सशक्त माध्यम है आलोचना। शास्त्रीय मतानुसार आलोचना करने से संसार परिभ्रमण का अन्त होता है तथा अनालोचित पाप से संसार का सृजन होता है।

आचार्य वर्धमानसूरि ने आलोचना न करने के दुष्परिणामों के सम्बन्ध में कहा है कि यदि अपराधी व्यक्ति लज्जावश, प्रतिष्ठा, प्रमाद या गर्ववश, अनादर या मूढ़तावश पापों की आलोचना नहीं करता है तो वह दोष की खान बन जाता है। पाप की आलोचना किए बिना ही कदाच उसकी मृत्यु हो जाए, तो उस पाप के योग के कारण उसको भवान्तर में दुर्बुद्धि की प्राप्ति होती है। दुर्बुद्धि के कारण वह जीव पुनः प्रचुर मात्रा में पाप करता है। उन पापों से वह सदैव दारिद्र्य एवं दुःख प्राप्त करता है। भव-भवान्तर में अंधकारपूर्ण नरकगति एवं पशुत्वरूप तिर्यंचगति को प्राप्त करता है तथा अनार्य भूमि में उत्पन्न होता है, रोगयुक्त खण्डित अंगवाला होता है, प्रचुर मात्रा में पाप कार्य करने वाला होता है। उन पापों के दुष्प्रभाव से कुदेव, कुगुरु एवं कुधर्म के आश्रित हो जाता है। फिर पश्चात्ताप करने पर भी वह बोधिबीज को प्राप्त नहीं कर पाता है तथा निगोद आदि योनियों में उत्पन्न होकर कष्टमय जीवन व्यतीत करता है।[49]

आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट आलोचना का समय

सामान्यतया द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भावशुद्धि के दिन आलोचना का प्ररूपण करना चाहिए। यद्यपि पंचाशकप्रकरण[50] एवं आचारदिनकर[51] के अनुसार पूर्णिमा या अमावस्या के पाक्षिक दिन में, चार महीने में या एक वर्ष में, गीतार्थ

गुरु के प्राप्त होने पर, तीर्थ में, तप के प्रारम्भ में, किसी महोत्सव के आरम्भ या अंत में– इनमें से किसी भी काल में आलोचना कर सकते हैं।

श्राद्धजीतकल्प के अनुसार जघन्य से पक्ष, चार मास एवं एक वर्ष पश्चात तथा उत्कृष्ट से बारह वर्ष पश्चात निश्चित आलोचना करनी चाहिए। सामान्य आलोचना तो रात्रिक-दैवसिक प्रतिक्रमण में प्रतिदिन हो जाती है। पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण विशेष आलोचना की अपेक्षा से है। पूर्व मुनियों ने अतिचार न लगा हो तो भी पाक्षिकादि में आलोचना की है अत: पाक्षिक आदि में आलोचना करना जिनाज्ञा है। जिस प्रकार जल का घड़ा प्रतिदिन साफ करने पर भी उसमें थोड़ी गन्दगी रह जाती है अथवा घर को प्रतिदिन साफ करने पर भी उसमें थोड़ी धूल रह जाती है उसी प्रकार नित्य प्रति आलोचना करने के उपरान्त भी विस्मरण और प्रमाद के कारण किंचित दोषों का रह जाना सम्भव है, अत: उपर्युक्त कारणों से पाक्षिक आदि पर्वों में अवश्य आलोचना करनी चाहिए।

विधिपूर्वक सम्यक् आलोचना के सुपरिणाम

आलोचना कैसी करनी चाहिए? सम्यक आलोचना का स्वरूप क्या है? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का यथातथ्य स्वरूप बतलाते हुए निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी कहते हैं कि

जह बाल जंपंतो, कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्को ।।

जैसे एक बालक अपने कार्य-अकार्य को सरलता से बता देता है वैसे ही साधक को माया और अहंकार से मुक्त होकर आलोचना करनी चाहिए। निश्छल हृदय से की गई आलोचना ही सम्यक् आलोचना कहलाती है।[52]

उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यक् आलोचना के सुफल की चर्चा करते हुए कहा गया है कि **"आलोयणाएणं मायानियाणमिच्छादंसण सल्लाणं....पुव्वबद्धं च णं णिज्जरेइ ।"**

आलोचना से जीव अनन्त संसार को बढ़ाने वाले एवं मोक्ष मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले माया, निदान और मिथ्यादर्शन शल्य को निकाल फेंकता है तथा ऋजुभाव को प्राप्त होता है। वह अमायावी होता है इसलिए स्त्रीवेद और नपुंसकवेद कर्म का बन्ध नहीं करता और यदि वे पहले बंधे हुए हों तो उनका क्षय कर देता है।[53]

आलोचना काल में स्वयं के दोषों की निन्दा होती है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार स्वनिन्दा से जीव पश्चात्ताप को प्राप्त होता है। उसके द्वारा विरक्त होता हुआ साधक मोहनीय कर्म को क्षीण कर देता है।[54]

आलोचना गुरु साक्षी पूर्वक होती है। जैन परिभाषा में गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना गर्हा कहलाता है। प्रतिक्रमण या आलोचना के पाठ में **'पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि'** इतना पद एक साथ आता है। इसका आशय यह है कि निन्दा और गर्हा आलोचना के ही मुख्य अंग हैं, इन अंगों से आलोचना सम्यक् एवं परिपूर्ण बनती है। विशेष रूप से स्वदोषों के बारे में चिन्तन करना निन्दा है तथा अतिचारों को गुरु के समक्ष प्रकट करना गर्हा है।

आलोचना के तात्त्विक फल निरूपण में भगवान महावीर की अंतिम वाणी कहती है– गर्हा से जीव अनादर को प्राप्त होता है। अनादर प्राप्त जीव अप्रशस्त प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियों को अंगीकार करता है। साथ ही ज्ञानावरणादि कर्मों की परिणतियों को क्षीण करता है।[55]

ओघनिर्युक्तिकार ने आलोचना का मनोवैज्ञानिक फल निर्देशित करते हुए कहा है–

उद्धरिय सव्वसल्लो, आलोइय निंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अतिरेग लहुओ, ओहरिय भरोव्व भारवहो ।।806।।

जैसे भारवाहक भार को नीचे उतारकर हल्केपन का अनुभव करता है वैसे ही गुरु के समक्ष आलोचना और निन्दा कर लेने पर साधक अत्यधिक हल्केपन का अनुभव करता है।[56]

व्यवहारभाष्य के अनुसार आलोचना (शोधि) से आठ गुण प्रकट होते हैं [57]–

लहुआल्हादीजणणं, अप्परनियत्ति अज्जवं सोही ।
दुक्कर करणं विणओ, निस्सल्लत्तं व सोधिगुणा ।।317।।

1. **लाघवता–** जैसे बोझा उठाने वाला सामान को नीचे उतारकर हल्केपन का अनुभव करता है वैसे ही आलोचक कर्म रूपी भार से मुक्त होने के कारण भारहीन की भाँति हल्कापन महसूस करता है।

2. **आल्हाद उत्पत्ति–** आलोचना द्वारा अतिचार जन्य ताप का शमन होने से प्रमोद-आनन्द उत्पन्न होता है।

3. **आत्मपर निवृत्ति–** आलोचना करने से आलोचक के स्वयं के दोष तो समाप्त होते ही हैं किन्तु उसे देखकर दूसरे भव्य जीव भी आलोचनार्थ तत्पर बनते हैं। इससे अन्य प्राणियों के दोष भी मिटते हैं।

4. **आर्जव–** अपने दोषों को प्रकट करने से माया-कपट का नाश और ऋजुता का विकास होता है।

5. **शोधि–** दोष रूप मल का अपनयन होने से आत्मा की शुद्धि होती है।

6. **दुष्करकरण–** आलोचना अतिदुष्कर कार्य है। इसी कारण मासक्षमण जैसे कठोर तप की अपेक्षा भी 'प्रायश्चित्त' नाम का आभ्यन्तर तप दुष्कर कहा गया है। बाह्य तप के लिए आवश्यक शारीरिक वीर्य और तद्सहायक अंतरंग वीर्य प्रकट करना सुलभ है, परन्तु प्रायश्चित्त करने के लिए आत्मिक वीर्य का उल्लास प्रगट करना अत्यन्त दुष्कर हैं। निशीथचूर्णि में कहा गया है कि– **"तं न दुक्करं जं पडिसेविज्जइ, तं दुक्करं जं सम्मं आलोईज्जइ त्ति।"**

7. **विनय–** चारित्र विनय की सम्यक् आराधना होती है।

8. **निःशल्यता–** छल, कपट, माया आदि शल्यों का उद्धरण होता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में आलोचना का माहात्म्य संदर्शित करते हुए बतलाया गया है कि जिस प्रकार विरेचन से शरीर मल की शुद्धि किये बिना खायी गयी औषधि निरर्थक है उसी प्रकार आलोचना के बिना दुष्कर तपस्याएँ भी इष्टफल नहीं दे सकतीं।

इसी क्रम में प्रायश्चित्त का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है कि यदि साधक आलोचना करके भी गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं करता है तो वह बिना सँवारे धान्य की तरह महाफलदायक नहीं हो सकता। आलोचना युक्त चित्त से किया गया प्रायश्चित्त मांजे हुए दर्पण की तरह निखरकर चमक जाता है।[58]

इस वर्णन से अवबोध होता है कि आलोचना आत्मशुद्धि का अभिन्न अंग है। आलोचना एवं प्रायश्चित्त से बाह्याभ्यन्तर तत्त्वों को निर्मल एवं स्वर्ण की भाँति निर्दोष किया जा सकता है।

आचारदिनकर के अनुसार प्रायश्चित्त करने से सर्व पापों का शमन और सर्व दोषों का निवारण होता है। पुण्य एवं धर्म की वृद्धि होती है, जीव का दोष रूपी शल्य (काँटा) निकल जाता है, निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है, पुण्य का

संचय और विघ्नों का नाश होता है, कीर्ति फैलती है तथा स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है।[59]

आलोचना के दोष

आलोचना करते समय निम्नोक्त दस प्रकार के दोषों की संभावनाएँ स्वीकारी गई हैं –

आकंपइत्ता अणुमाणइत्ता, जं दिट्ठं बायरं च सुहुमं वा।
छण्णं सद्दाउलगं, बहुजण अव्वत्त तस्सेवी।।

1. आकम्पित 2. अनुमानित 3. दृष्ट 4. बादर 5. सूक्ष्म 6. छन्न 7. शब्दाकुलित 8. बहुजन 9. अव्यक्त और 10. तत्सेवी।[60]

आलोचना के दस दोषों की प्रतिपादक यह गाथा निशीथभाष्य चूर्णि में मिलती है और सामान्य पाठ भेद के साथ दिगम्बर के मूलाचार शीलगुणाधिकार में एवं भगवतीआराधना में मूल गाथा के रूप में निबद्ध तथा अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पाई जाती है। दोषों के अर्थ में कहीं-कहीं मतान्तर है, जिसका स्पष्टीकरण श्वेताम्बर व्याख्या (i) में और दिगम्बर व्याख्या (ii) में इस प्रकार है–

1. आकम्प्य दोष– (i) आलोचनार्ह का वैयावृत्य आदि करके उनका अनुग्रह प्राप्तकर आलोचना करना अथवा गुरु को उपकरण आदि प्रदान करने से वे मुझे लघु प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा विचार कर उपकरण दान के बाद आलोचना करना आकम्प्य दोष है। (ii) कांपते हुए आलोचना करना, जिससे गुरु अल्प प्रायश्चित्त दे।

2. अनुमान्य दोष– (i) 'ये आचार्य मृदुदंड देंगे'– ऐसा सोचकर उनके पास आलोचना करना अथवा 'मैं दुर्बल हूँ, अत: मुझे कम प्रायश्चित्त दें' ऐसा अनुनय कर आलोचना करना अनुमान्य दोष है। (ii) शारीरिक शक्ति का अनुमान लगाकर तदनुसार दोषों का प्रकाशन करना, जिससे गुरु अधिक प्रायश्चित्त न दें।

3. यदृष्ट दोष– (i) गुरु आदि के द्वारा जो दोष देख लिया गया है उसी की आलोचना करना, अन्य अदृष्ट दोषों का कथन नहीं करना यदृष्ट दोष है। (ii) दूसरों के द्वारा अदृष्ट दोषों को छिपाकर दृष्ट दोष की ही आलोचना करना।

4. बादर दोष– केवल स्थूल या बड़े दोषों की आलोचना करना बादर दोष है।

5. सूक्ष्म दोष– (i) केवल छोटे दोषों की आलोचना करना सूक्ष्म दोष है। (ii) स्थूल दोष कहने से प्रायश्चित्त मिलेगा, अत: अधिक प्रायश्चित्त के भय से छोटे-छोटे दोषों का प्रकाशन करना।

6. छन्न दोष– मंद शब्दों में आलोचना करना, जिससे आचार्य स्पष्ट रूप में सुन न सकें वह छन्न दोष है।

7. शब्दाकुल दोष– (i) जोर-जोर से बोलकर आलोचना करना, जिसे अगीतार्थ मुनि भी सुन सके, वह शब्दाकुल दोष है। (ii) पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के समय कोलाहलपूर्ण वातावरण में दोषों को प्रकट करना।

8. बहुजन दोष– (i) एक आचार्य के समीप आलोचना कर शंकाशील मन से उसी दोष की दूसरे गीतार्थ के पास आलोचना करना, बहुजन दोष है। (ii) बहुत आचार्यों या सामान्य लोगों के एकत्रित होने पर आलोचना करना।

9. अव्यक्त दोष– (i) अगीतार्थ के सान्निध्य में आलोचना करना अव्यक्त दोष है। (ii) अव्यक्त रूप से दोषों को स्वीकार करना, अव्यक्त दोष है।

10. तत्सेवी दोष– (i) आलोचनार्ह स्वयं जिन दोषों का सेवन कर चुके हैं या करते हैं उनके समीप उन दोषों का ही प्रकटीकरण करना ताकि अल्प प्रायश्चित्त मिले अथवा मेरा दोष इसके समान है इसे जो प्रायश्चित्त प्राप्त हुआ है, वही मेरे लिए भी उपयुक्त है, ऐसा सोचकर अपने दोषों का संवरण करना, तत्सेवी दोष है। (ii) आलोचना दाता गुरु जो स्वयं अपने समान ही दोषों से युक्त हैं उनके समक्ष आलोचना करना, जिससे वह बड़ा प्रायश्चित्त न दें।

उपर्युक्त दोषों के प्रस्तुतीकरण का आशय है कि आलोचक इन दोषों से बचते हुए आलोचना करे। इससे युक्त होने पर कृत आलोचना आधी-अधूरी और पुनर्बन्ध का हेतु बनती है।

ओघनिर्युक्ति के अनुसार आलोचना काल में सम्भाव्य निम्न दोषों का भी वर्जन करना चाहिए।

नृत्य – अंगों को नचाते हुए आलोचना करना।

बल – शरीर को मोड़ते हुए आलोचना करना।

चल – अंगों को चालित करते हुए आलोचना करना।

भाषा – गृहस्थ की भाषा में या असंयत रूप से आलोचना करना।

मूक – मूक स्वर से 'गुणमुण' करते हुए आलोचना करना।
ढड्डर – उच्च स्वर से आलोचना करना।[61]

आलोचना के पश्चात प्रायश्चित्त वहन कैसे करें?

अपने दोषों को गुरु के समक्ष निवेदित करने मात्र से पाप शुद्धि नहीं हो जाती, आलोचक के भावों का निरीक्षण कर गुरु योग्य प्रायश्चित्त देते हैं तथा पाप विमुक्ति के लिए निश्चित संख्या में तप-जप-स्वाध्याय आदि का निर्देश करते हैं उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है। जिसके द्वारा प्राय: चित्तशुद्धि होती है उसका नाम प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त, चित्तशुद्धि का कारण अवश्य है किन्तु किस विधियुक्त किया गया प्रायश्चित्त चित्तशुद्धि का हेतु बनता है यह विचारणीय है।

शरीर में रोग होता है तब सबसे पहले उसके कारणों का शोधन करते हैं। कारण पकड़ में आने के बाद ही उससे विरुद्ध कारणों का आसेवन प्रारम्भ करते हैं जिससे रोग धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार प्रायश्चित्तकर्त्ता को सर्वप्रथम यह विचार कर लेना चाहिए कि किन कारणों से पाप हुआ? किन निमित्तों के अधीन होकर पाप कर्म किये? कितने कषायों से युक्त पाप सेवन किया? कषायों की मात्रा कितनी थी? इत्यादि।

जैसे समुद्र सैर करने का मन हुआ, लोन ऊपर खेलने-कूदने की इच्छा हुई अथवा अभक्ष्य पदार्थों का सेवन किया, यह सभी पाप के मूल कारण हैं। यदि पाप से बचना हो, तो गुरु प्रदत्त तप-जप या स्वाध्याय करते समय भी तथागत प्रणिधान करना चाहिए कि इस तपस्या आदि से मेरी आत्मा के ऊपर ऐसा परिणाम पैदा हो, जिसके प्रभाव से मुझे प्रत्येक जीवों के प्रति प्रेमभाव, करुणाभाव हो।

कुछ जन गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त वहन भी करते हैं, किंतु वह सम्मूर्च्छिम जैसा ही होता है। गुरु ने कहा है इसलिए कर लेना चाहिए, ऐसा सोचकर कर लेते हैं, परन्तु आलोचना करते समय जिस भाव से पाप किया है उससे विरुद्ध भाव उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करने का भाव बहुत कम देखा जाता है।

ठंडी हवा आदि से हुई सर्दी जैसे गरम वातावरण के बिना मिट नहीं सकती वैसे ही क्रोध पूर्वक बांधा गया कर्म क्षमा भाव के बिना नष्ट नहीं हो सकता। पाप करते वक्त क्रोध की मात्रा जितनी तीव्र होती है उतनी या उससे अधिक क्षमाभाव से ही क्रोध सर्जित बंध का नाश होता है।

मान, माया और लोभ से बांधा हुआ कर्म नम्रता-सरलता और संतोष आदि भाव के बिना नष्ट नहीं हो सकता। तीव्र राग से सर्जित कर्म उन-उन वस्तुओं के प्रति तीव्र वैराग्य रखने पर ही नष्ट होता है।

आशय है कि जिस भाव से पाप कर्म किया हो, उससे विरुद्ध भावों को उत्पन्न कर प्रायश्चित्त वहन किया जाये तो इस भव में किये गये पाप तो विनष्ट होते ही हैं परन्तु पाप विरुद्ध उत्पन्न हुआ तीव्र भाव भव-भवान्तर की पापधारा को भी नष्ट कर सकता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि पाप विरुद्ध परिणाम से ही पापकर्म का नाश हो जाता है तब वैसा परिणाम ही करना चाहिए, फिर तप-जप या स्वाध्याय की आवश्यकता क्यों?

यह कहना सही है कि तप-जप या स्वाध्याय की अपेक्षा पाप विरुद्ध भावों को ही उत्पन्न करने का पुरुषार्थ करना चाहिए, परन्तु परिस्थिति यह है कि प्राय: शुभाशुभ भाव निमित्त से ही प्रगट होते हैं। पाप विरुद्ध शुभभावों का प्रबल कारण स्वाध्याय है। यदि चिंतन-मनन और उपयोग पूर्वक शास्त्र का स्वाध्याय किया जाये तो शास्त्र के एक-एक पद में मोह रूपी जहर को उतारने की शक्ति है।

एक आत्मार्थी मुनि ने चिलातीपुत्र को तीन शब्द मात्र दिये– उपशम, विवेक और संवर। चिलाती ने इन तीन पदों का यथार्थ स्वाध्याय किया, तत्फलस्वरूप उसने सद्गति प्राप्त की। माषतुष मुनि को गुरु ने दो शब्द ही दिये 'मा तुष्' 'मा रुष्'– इन दो शब्दों का मर्म पूर्वक स्वाध्याय करने से उसने सर्व कर्मों को क्षीणकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

जैसे स्वाध्याय क्षमा आदि शुभ भाव का कारण है वैसे ही अनशन आदि तप इन्द्रियनिग्रह का कारण है। इन्द्रिय और मन के अनियन्त्रण से बंधे हुए कर्म तप रूप प्रायश्चित्त से ही नष्ट होते हैं।

उत्तम पुरुषों के नाम स्मरण का जाप महापुरुषों के गुणों के प्रति बहुमान का भाव प्रगट करता है। उससे रुचिपूर्वक किये गये पापों को नष्ट कर सकते हैं।

आलोचना करने के फायदे और न करने के नुकसान

शास्त्रीय उदाहरणों के सन्दर्भ में मोक्ष साधना का अर्थ है– आत्मसत्ता पर अनादिकाल से आवृत्त कुसंस्कारों को दूर करना।

कुसंस्कारों के निर्मूलन का श्रेष्ठ उपाय आलोचना है। आलोचना आदि रूप मोक्षमार्ग की साधना मनुष्य भव में ही शक्य है इसलिए शास्त्रकारों ने मनुष्य भव को दुर्लभ कहा है। यदि सम्यक् आलोचना की जाये तो अनेकशः प्रकार के पाप, अपना दुष्फल दिये बिना ही निर्जरित हो जाते हैं। हम जिस पाप की जुगुप्सा करें, वह तो नष्ट होता ही है परन्तु एक पाप के प्रति की गई जुगुप्सा यदि पराकाष्ठा पर पहुँच जाये तो अनेक भवों के पापकर्म को नष्ट करते हुए आत्मिक सुख प्रदान कर सकती है।

अतिमुक्त मुनि को स्मृति पटल पर लाया जाए तो पूर्वोक्त कथन का स्पष्टीकरण तुरन्त हो सकता है कि उन्होंने खेल-खेल में छोटी सी भूल की तीव्र पश्चात्ताप पूर्वक आलोचना की। परिणामस्वरूप अनादिबद्ध पापों से शीघ्र मुक्त हो उसी समय केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

जैसे अतिमुक्त मुनि सामान्य पाप का प्रायश्चित्त करते-करते भव-भवान्तर के दुःख से मुक्त हो गये उसी तरह स्त्रीहत्या, गर्भहत्या, गौहत्या, ब्रह्महत्या जैसे अत्यन्त घृणास्पद पाप कार्य करने वाले दृढ़प्रहरी ने इन सर्व पापों की गुरु समक्ष आलोचना की। उसके पश्चात प्रायश्चित्त रूप में संयमी जीवन स्वीकार कर कठोर अभिग्रह लिया कि जब कभी मुझे स्वकृत पाप याद आयेंगे उस दिन आहार-पानी ग्रहण नहीं करूँगा। इस तरह चारित्र का उत्कृष्ट पालन करते हुए केवलज्ञान पाकर मोक्ष चले गये।

जैसे दृढ़प्रहरी का जीव अनेक हत्याएँ करने के उपरान्त भी शुद्ध आलोचना करने से मोक्ष गया वैसे ही अर्जुनमाली के जीव ने भी उस भव में छह महीनों तक प्रतिदिन छह पुरुष और एक स्त्री ऐसे कुल सात-सात मनुष्य की हत्याएँ की थी। परन्तु भगवान महावीर की वाणी सुन कर संयम जीवन स्वीकार किया तथा शुभ परिणाम से सर्व पापों की आलोचना पूर्वक अनेक उपसर्गादि सहन किये। तत्फलरूप उसी भव में अनन्तसुख के भोक्ता बन गये। जिस प्रकार कई हत्यारे आलोचना द्वारा पाप से मुक्त हुए उसी प्रकार राग आदि के अधीन हुई आत्माएँ भी आलोचना करके उसी भव में मोक्ष गईं।

पुष्पचूल और पुष्पचूला दोनों भाई-बहिन ने परस्पर विवाह किया तथा रागाधीन होकर अनैतिक-वैषयिक पापकृत्य किये। एकदा पुष्पचूला वैराग्य वासित हो गुरु समक्ष कृत पापों के आलोचना की अनुमति चाही। गुरु ने शास्त्र

मर्यादा के अनुसार पाप की आलोचना करने का प्ररूपण किया तब पुष्पचूला ने सर्वजनों के समक्ष सम्यक आलोचना की एवं निरतिचार चारित्र का पालन कर उसी भव में मोक्ष गई।

साध्वी मृगावती ने छोटी सी भूल की आलोचना करते-करते अर्धरात्रि में केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया।

हनुमान की माता अंजना सती ने पूर्वभव में ईर्ष्यावश होकर 22 प्रहर तक प्रभु की मूर्ति छिपायी थी, उस दुष्कृत्य की उसने आलोचना नहीं की। इसी कारण अंजना के भव में बाईस वर्ष तक पति विरह सहन करना पड़ा।

श्रीपाल राजा ने पूर्वभव में कुतूहलवश मुनि को पानी में डुबोया, कोढ़ी कहा, उन्हें किन्तु उसकी आलोचना नहीं की। तद्फलरूप इस भव में कोढ़ रोग से ग्रसित हुए और उन्हें समुद्र में गिरना पड़ा।

जैसे आलोचना नहीं करने वाला व्यक्ति कुकर्मों के कटुक फल भोगता है वैसे ही दुष्कृत्यों की आलोचना करते हुए माया आदि दोष रह जायें तो भी संसार परिभ्रमण बढ़ जाता है।

शास्त्रों में वर्णन आता है कि लक्ष्मणा नाम की एक राजकुमारी चँवरी में विधवा हो गई। उसने चारित्र धर्म अंगीकार कर लिया। एकदा उद्यान में कायोत्सर्ग करते हुए चकवा-चकवी की संभोग क्रिया देखकर लक्ष्मणा साध्वी ने विचार किया—परमात्मा ने संभोग की आज्ञा क्यों नहीं दी? भगवान् अवेदी है, वेदयुक्त जीव की वेदना कैसे जान सकते हैं? ऐसे विचार आने पर पश्चात्ताप भी हुआ। तुरन्त आलोचनार्थ वहाँ से प्रस्थान किया। आलोचना करते समय किंचित माया का सेवन करते हुए 'मैंने ऐसा विचार किया' यह वाक्य न कहकर प्रतिरूप में पूछा कि 'किसी को अमुक प्रकार का विचार आये तो उसका प्रायश्चित्त क्या?' इस तरह प्रायश्चित्त जानने के बाद उसने 50 वर्ष तक घोर तपश्चर्या की। तदुपरान्त उसकी पाप शुद्धि नहीं हुई और वह अब भी संसार में परिभ्रमण कर रही है।

लक्ष्मणा साध्वी को याद करके यह निश्चित्त कर लेना चाहिए कि माया पूर्वक आलोचना करने वाला अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है अतः माया, कपट या अन्य किसी भी निदान आदि के भाव रहित आलोचना की जानी चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

1. पंचाशकप्रकरण, 15/2
2. उत्तराध्ययन-शान्त्याचार्य टीका, पृ. 608
3. दशवैकालिकचूर्णि, भा. 1, पृ. 25
4. आवश्यकहारिभद्रीयटीका, पृ. 764
5. नियमसार, 109
6. (क) सर्वार्थसिद्धि, 9/22/440/7
   (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/22/2/620
   (ग) अनगारधर्मामृत, 7/38
7. धवलाटीका, पु. 13, पृ. 60
8. भगवतीआराधना-विजयोदयाटीका, 6/32/2, 10/49/9
9. ओघनिर्युक्ति, 791
10. उत्तराध्ययन-शान्त्याचार्य टीका, पृ. 608
11. भगवतीआराधना, गा. 533-535
12. मूलाचार, 619
13. नियमसार, 108-112
14. निशीथभाष्य, 6310 की चूर्णि
15. वही, 6314-16
16. व्यवहारभाष्य, 965
17. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 1/33
18. व्यवहारभाष्य, 975-976
19. वही, 965
20. ओघनिर्युक्ति, 790 की टीका, पृ. 225
21. व्यवहारभाष्य, 970-71
22. बृहत्कल्पभाष्य, 392-397
23. ओघनिर्युक्ति, 790 की टीका, पृ. 225
24. व्यवहारभाष्य, 2367, 2369-72
25. सम्बोधप्रकरण, आलोचना अधिकार, 28
26. विंशतिविंशिका, 15/14,15

27. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/71
28. व्यवहारभाष्य, 521-522 की टीका
29. पंचाशकप्रकरण, 15/12-13
30. श्राद्धजीतकल्प, गा. 17
31. विधिमार्गप्रपा, पृ. 94
32. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 240
33. स्थानांगसूत्र, 10/72
34. व्यवहारभाष्य, 519-520
35. वही, 2378
36. पंचाशकप्रकरण, 15/14-15
37. विधिमार्गप्रपा, पृ. 93
38. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 240
39. पंचाशकप्रकरण, 15/16-17
40. व्यवहारभाष्य, 240-244
41. पंचाशकप्रकरण, 15/18
42. व्यवहारभाष्य, 305-310, 313-314
43. पंचाशकप्रकरण, 15/41
44. (क) विधिमार्गप्रपा, पृ. 93
    (ख) आचारदिनकर, पृ. 241
45. पंचाशक प्रकरण, 15/5-7
46. व्यवहारभाष्य, 314
47. भगवतीआराधना-विजयोदया टीका, 386
48. (क) विधिमार्गप्रपा, पृ. 93
    (ख) आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 241
    (ग) प्रायश्चित्त विधि, उपाध्याय क्षमाकल्याण
49. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 240-241
50. पंचाशकप्रकरण, 15/9-10
51. आचारदिनकर, पृ. 249
52. ओघनिर्युक्ति, 801

53. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/6
54. वही, 29/7
55. (क) वही, 29/8
    (ख) विशेषावश्यकभाष्य, 3575
56. ओघनिर्युक्ति, 806
57. व्यवहारभाष्य, 317
58. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/22/2/921/13
59. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 241
60. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 10/70
61. ओघनिर्युक्ति, 516,517

●

अध्याय-5

आलोचना एवं प्रायश्चित्त विधि का ऐतिहासिक अनुशीलन

जैन संस्कृति आचार एवं विचार प्रधान है। यहाँ शुभाशुभ आचरण को जितना महत्त्व दिया गया है उतना सद्-असद् विचारों के प्रति भी आकृष्ट किया गया है। व्यक्ति असत्य आचरण से ही अशुभ कर्म नहीं बाँधता, अपितु असत चिन्तन द्वारा भी घने कर्मों का बंध करता है। मनोविज्ञान के तहत देखा जाए तो विचारों के अनुरूप कर्म होते हैं। यदि वैचारिक पक्ष सम्यक् है तो क्रियात्मक पक्ष कभी गलत नहीं हो सकता। अत: वैचारिक धरातल सही होना आवश्यक है।

आलोचना वैचारिक जगत को ऊँचा उठाती है और प्रायश्चित्त आचार पक्ष को निर्मल करता है। इस तरह आलोचना एवं प्रायश्चित्त मानव मात्र के विकासीय जीवन के अभिन्न अंग हैं।

यह निर्विवाद है कि इन उभयात्मक साधना का उपदेश अरिहंत परमात्मा ने दिया है, किन्तु यह वर्णन कहाँ-किस रूप में उपलब्ध है? इस सम्बन्ध में विचार करते हैं तो जहाँ तक आप्त प्रणीत आगमों का प्रश्न है वहाँ कुछ आगमों में अति सामान्य तो कहीं भेद-प्रभेद आदि की चर्चा प्राप्त होती है। यदि गहराई से अवलोकन करें तो साधना का यह पक्ष प्राय: आगमों में पाया गया है। स्पष्ट रूप से स्थानांगसूत्र में आलोचना सम्बन्धी कई विषयों पर प्रकाश डाला गया है। तदनुसार उसमें मायावी व्यक्ति तीन कारणों से आलोचना करता है और तीन कारणों से आलोचना नहीं करता है। इसी प्रकार प्रस्तुत आगम में प्रायश्चित्त के छह, आठ एवं दस प्रकार, आलोचना दाता की आठ एवं दस योग्यताएँ, आलोचक की योग्यताएँ, आलोचना काल में संभावित दस दोष आदि का भी विवरण है।[1]

समवायांगसूत्र में बत्तीस योग संग्रह के अन्तर्गत पहला योग आलोचना को बतलाया है।[2]

भगवतीसूत्र में दसविध प्रायश्चित्त आदि का सामान्य वर्णन है।[3] ज्ञाताधर्मकथा[4], अंतकृत्दशा[5], प्रश्नव्याकरण[6], विपाकसूत्र[7] आदि में 'णहाए कयबलिकम्मे कयकोउय-मंगल पायच्छित्ते' अर्थात स्नान, बलिकर्म और कौतुक मंगल रूप प्रायश्चित्त कर.....' इस रूप में प्रायश्चित्त शब्द का उल्लेख है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में अशुभसूचक उत्पात, प्रकृति विकार, दु:स्वप्न, अपशकुन, क्रूरग्रहों के प्रकोप, अमंगल सूचक अंगस्फुरण आदि के फल को नष्ट करने हेतु प्रायश्चित्त का उपदेश दिया गया है।

इस प्रकार ग्यारह अंग आगमों में उभयात्मक साधना का सामान्य वर्णन ही प्राप्त होता है। बारह उपांग सूत्रों में यह चर्चा स्पष्टत: नहींवत है।

जहाँ तक आगमिक संख्याओं में छेद सूत्रों का सवाल है वहाँ निश्चित्त रूप से यह कहा जा सकता है कि व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ, महानिशीथ, जीतकल्प, पंचकल्प—ये छहों छेद आगम मुख्यत: प्रायश्चित्त अधिकार से ही सम्बन्धित हैं। इनमें प्रमुख रूप से यही विषय वर्णित किया गया है। निशीथसूत्र तो पूर्णत: प्रायश्चित्त ग्रन्थ ही है। इसमें सम्भावित हर तरह के दोषों का प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

इस तरह आगम परम्परा में छेदसूत्र उभयात्मक साधना का समुचित प्रतिपादन करते हैं।

इसके अनन्तर दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र आदि में भिक्षा आलोचना, स्थण्डिल आलोचना, आलोचना के लाभ, प्रायश्चित्त का महत्त्व आदि कुछ तथ्यभूत बिन्दुओं को उजागर किया गया है। इस भाँति आगमों में प्रायश्चित्त का वर्णन काल क्रम के अनुसार विस्तार से प्राप्त होता है।

जहाँ तक आगमिक टीकाओं का प्रश्न है वहाँ व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, निशीथसूत्र की टीकाओं आदि में आलोचक कौन, आलोचना के गुण, आलोचना न करने के दोष, प्रायश्चित्त योग्य स्थान, प्रायश्चित्त के अधिकारी कौन? ऐसे अनेक विषयों का शास्त्रीय विधि से प्रतिपादन किया गया है। इनके अतिरिक्त ओघनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकटीका, उत्तराध्ययनटीका आदि में भी इस विषयक पर्याप्त विवेचन उपलब्ध है।

इस वर्णन के आधार पर सुस्पष्ट होता है कि आगमिक टीकाओं के रचनाकाल तक आलोचना एवं प्रायश्चित्त का अपेक्षित स्वरूप जन सामान्य के

सामने उपस्थित हो चुका था। यद्यपि छेद सूत्रों को पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार आचार्य, गीतार्थ या सुविहित सामाचारी पालक मुनियों को ही है। तथापि स्मृति ह्रास के काल में टीका साहित्य का लिखा जाना एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। वर्तमान में मूलागमों के समानान्तर ही आगमिक टीकाओं को प्राथमिकता दी गई है।

जहाँ तक आगमेतर साहित्य का प्रश्न है वहाँ उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र में केवल प्रायश्चित्त के प्रकारों का ही नाम निर्देश है। किन्तु आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचाशकप्रकरण एवं विंशतिविंशिका में इस विषय के पृथक्-पृथक् प्रकरण भी प्राप्त होते हैं। जिनमें आलोचना और प्रायश्चित्त सन्दर्भित आवश्यक विषयों पर सम्यक् विवेचन है। कुछ तत्त्वों की परिपुष्टि हेतु मतान्तरों का उल्लेख भी किया गया है।

तदनन्तर 12वीं शती के परवर्तीकाल में धर्मघोषसूरिकृत यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, आचार्य जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा, वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर आदि में जीतव्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त विधियाँ कही गई है। वर्तमान में तीर्थंकर, चौदहपूर्वी, आगमधर आदि के अभाव में पाँच व्यवहारों में से प्रारम्भ के चार व्यवहार लुप्त हो चुके हैं, केवल जीतव्यवहार ही प्रवर्त्तित है। इस दृष्टि से उक्त ग्रन्थों का अमूल्य स्थान है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर आदि अपनी-अपनी सामाचारी से प्रतिबद्ध ग्रन्थ हैं अत: इनमें परम्परा प्रचलित प्रायश्चित्त विधि दर्शायी गयी है। फिर भी ये ग्रन्थ समग्र परम्पराओं के लिए उपयोगी एवं अनुसरणीय हैं, क्योंकि इन आचार्यों ने यह विवरण स्वतन्त्र रूप से न लिखकर पूर्वरचित लघुजीतकल्प, जीतकल्प, यतिजीतकल्प, आलोचनाकल्प आदि के आधार पर प्रस्तुत किया है। पूर्व ग्रन्थों के अनुसार उनकी सामाचारी में किसे कौनसा जीत प्रायश्चित्त दिया जा सकता है वही उपदर्शित किया है। इन्हें गीतार्थ आचार्य के रूप में भी माना जा सकता है और इस बात की पुष्टि उनके जीवन चरित्र से स्पष्ट हो जाती है। तो आशय यह है कि विधिमार्गप्रपा आदि रचनाएँ प्रायश्चित्त दान के सम्बन्ध में सर्वोत्तम स्थान रखती हैं, इसीलिए इन ग्रन्थों के आधार पर प्रायश्चित्त विधि कहेंगे।

इसके अनन्तर क्षमाकल्याण उपाध्याय विरचित आलोचना विधि,

आलोचना संग्रह आदि कई ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, किन्तु प्रायश्चित्त-दान के सन्दर्भ में सर्वाङ्गीण नहीं हैं।

जहाँ तक दिगम्बर साहित्य का सवाल है वहाँ भगवतीआराधना, धवलाटीका, अनगारधर्मामृत, मूलाचार, नियमसार, सर्वार्थसिद्धि आदि में आलोचना-प्रायश्चित्त का यथोचित वर्णन किया गया है। इसी के साथ छेदपिण्ड, छेदशास्त्र, प्रायश्चित्तसंग्रह आदि कुछ ग्रन्थ भी मौजूद हैं जिनमें प्रचलित परम्परानुसार प्रायश्चित्त-दान लिखा गया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैन धर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्रायश्चित्त सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ-रचनाएँ हैं। प्रायश्चित्त दान की परम्परा आज भी दोनों जगह प्रवर्तित हैं, किन्तु परिवर्तित परिस्थितियों एवं घटती शारीरिक क्षमता आदि की दृष्टि से इसके विषय वर्णन एवं प्रायश्चित्त दान में शास्त्र सम्मत अन्तर देखा जाता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *(क) स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/3/338-343*
   (ख) वही, 6/19, 8/20, 10/73
   (ग) वही, 8/18, 10/72
   (घ) वही, 10/71
   (ङ) वही, 10/70
2. *समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 32/209*
3. *भगवतीसूत्र, अंगसुत्ताणि, 25/7/556*
4. *ज्ञाताधर्मकथासूत्र, अंगसुत्ताणि, 1/14/64*
5. *अंतकृतदशासूत्र, अंगसुत्ताणि, 3/36*
6. *प्रश्नव्याकरणसूत्र, अंगसुत्ताणि, 2/13*
7. *विपाकसूत्र, अंगसुत्ताणि, 1/2/64*

●

अध्याय-6

जैन एवं इतर साहित्य में प्रतिपादित प्रायश्चित्त विधियाँ एवं तुलनात्मक अध्ययन

जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में प्रायश्चित्तदान विधि से सम्बन्धित अनेकों रचनाएँ विद्यमान हैं। आगम वांगमय में व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, निशीथसूत्र, महानिशीथसूत्र, जीतकल्प आदि एवं तद्विषयक निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीकाएँ प्रमुख हैं तथा आगमेतर साहित्य में यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, आलोचना विधान, प्रायश्चित्तसंग्रह, पंचाशकप्रकरण, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि ग्रन्थों का विशिष्ट स्थान है।

प्राचीन युग में धृति-संहनन की सबलता के कारण निशीथ आदि सूत्रों में वर्णित प्रायश्चित्त ही दिया जाता था, क्योंकि उस समय केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी, आगम व्यवहारी एवं श्रुतव्यवहारी मौजूद थे। इसी के साथ धारणाव्यवहार और आज्ञाव्यवहार भी उपस्थित था। धीरे-धीरे कालदोष के प्रभाव से पाँच व्यवहारों में से प्रारम्भ के चार व्यवहारों का प्रवर्त्तन करने वाले गीतार्थ मुनियों का अभाव हो गया, अतः वह व्यवहार धर्म भी विच्छिन्न हो गया। वर्तमान में जीतव्यवहार ही रह गया है। जो व्यवहार एक बार, दो बार या अनेक बार प्रवृत्त होता है वह जीतकल्प व्यवहार कहलाता है अथवा जो व्यवहार बहुश्रुतों के द्वारा अनेक बार प्रवर्तित हुआ और किसी अन्य बहुश्रुत के द्वारा जिसका प्रतिषेध नहीं किया गया, वह वृत्तानुवृत्त व्यवहार प्रमाणीकृत होने से जीत व्यवहार कहलाता है। इस समय जीत व्यवहार प्रवर्त्तमान होने से उसके अभिरूप ही प्रायश्चित्त-विधि कहेंगे। यद्यपि परवर्ती अनेक ग्रन्थों में जीतव्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त कहा गया है किन्तु प्रस्तुत अध्याय में आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा एवं आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के अनुसार प्रायश्चित्त विधि वर्णित करेंगे। क्योंकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में प्रचलित विधि-विधान प्रायः

विधिमार्गप्रपागत सामाचारी के अनुसार किये जाते हैं तथा श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की तपागच्छ आदि अन्य परम्पराएँ आचारदिनकर में कही गई सामाचारी को प्रमुखता देती हैं। ऐसे दोनों ही ग्रन्थ खरतरगच्छ के आचार्यों द्वारा विरचित हैं।

जैन श्वेताम्बर की स्थानकवासी, तेरापंथी आदि परम्पराओं में प्रायश्चित्त दान का स्वरूप क्या है? तत्सम्बन्धी स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है। सम्भवत: जीतकल्पसूत्र, जीतकल्पभाष्य, जीतकल्पचूर्णि के अनुसार यह परम्परा प्रचलित होगी।

यहाँ मुख्य रूप से यह ध्यान देने योग्य है कि जीतव्यवहार के अनुसार जो प्रायश्चित्त-विधि उपदर्शित की जा रही है वह सामान्य साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविकाओं में पापभीरुता के गुण को विकसित करने तथा अनावश्यक दोषों से बचने हेतु कही जायेगी। इसके पीछे कई गूढ़ प्रयोजन भी रहे हुए हैं, इसलिए प्रायश्चित्त विधि पढ़कर कोई भी अपने आप प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं करें अन्यथा महापाप का भागी हो सकता है, क्योंकि प्रायश्चित्त दान का अधिकार सुविहित आचार्यों एवं गीतार्थ मुनियों को ही होता है। वे अपराधी के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भूलों को भी भलीभाँति जानकर एवं उसकी पात्रता का निर्णय कर अल्पाधिक प्रायश्चित्त देते हैं। चूँकि प्रायश्चित्तदान से पूर्व कई बिन्दूओं पर विचार करना होता है जैसे कि एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा ज्ञात में हुई है या अज्ञात में, सूक्ष्म रूप से हुई है या बादर रूप से, परिस्थिति विशेष में हुई है या अनावश्यक, अपराधी तन्दुरुस्त है या कृशकायी, पापभीरु है या लोकभीरु इत्यादि? इस तरह का समग्र ज्ञान एवं अनुभव हासिल करने के पश्चात ही प्रायश्चित्त दिया जाता है। अपराधी की मनोवृत्ति के अनुसार कभी दोष अल्प होता है किन्तु प्रायश्चित्त अधिक दिया जाता है, कभी अपराध बड़ा होता है किन्तु दण्ड अल्प दिया जाता है। यह निर्णय योग्यता प्राप्त आचार्य ही कर सकते हैं इसलिए किसी भी स्थिति में गृहस्थ प्रायश्चित्त लेने-देने का अधिकारी नहीं हो सकता।

विधिमार्गप्रपा के अनुसार प्रायश्चित्त विधि

खरतरगच्छ की आचारनिष्ठ मुनि परम्परा में आचार्य जिनप्रभसूरि ने यह रचना वि.सं. 1363 में की लिखी थी। यह ग्रन्थ 3575 श्लोक परिमाण है। 'विधिमार्ग' खरतरगच्छ का ही पूर्व नाम है। इस ग्रन्थ में लगभग 41 विधि-विधानों का निरूपण किया गया है। यह रचना मूलत: खरतरगच्छ की सामाचारी

से प्रतिबद्ध है यद्यपि इसमें अन्य सामाचारियों एवं परम्पराओं का भी यथायोग्य सूचन किया गया है।

इसमें 'जीतव्यवहार' के अनुसार दर्शायी गयी प्रायश्चित्त विधि इस प्रकार है–

गृहस्थ (देशविरति) सम्बन्धी प्रायश्चित्त

सर्वप्रथम गृहस्थ व्रती के द्वारा संभावित दोषों की शुद्धि करने के लिए जो प्रायश्चित्त (दण्ड) दिया जाता है उसका वर्णन कर रहे हैं–

1. सम्यक्त्वव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

इओ देसविरइपायच्छित्तसंगहो भण्णइ–देसओ संकाइसु अट्ठसु आं.। सव्वओ उ.। देवस्य वासकुंपिया-धूवायण-थुक्किकयऊसासअंचललग्गणे, पडिमापाडणे, सइ नियमे देवगुरुअवंदणे पु.। अविहिणा पडिमाउज्जालणे ए.। देवदव्वस्स असणाइआहार-दम्म-वत्थाइणो, गुरुदव्वस्स वत्थाइणो साहारणधणस्स य भोगे जावइयं दव्वं भुत्तं तावइयं तस्स अन्नस्स वा देवस्स गुरुणो य देयं। तवो य–देव-गुरुदव्वे जहन्ने भुत्ते आं.। मज्झिमे उ.। उक्किट्ठे एगकल्लाणं। एयं दुगमवि देयं। गुरुआसणमाइणो पायाइणा घट्टणे नि.। अंधयारमाइम्मि गुरुणो हत्थपायाइलग्गणे जहन्न-मज्झिम-उक्किट्ठे पु.,ए.,आं.। अट्ठवियस्स ठवणायरियस्स पायप्फंसे नि.। ठवियस्स पु.। पाडणे उभयं। ठवणायरियनासणे पव्वइयाणं आसणमुहपोत्तियाइ उवभोगे नि.। पाणासणभोगेसु ए., आं.। वासकुंपियाए पडिमाअप्फालणे 1, धोवत्तियं विणा देवच्चणे 2, पमाएण भूमिपाडणे 3। पुत्थय-पट्टिया-टिप्पणमाइणो वयणोत्थनिट्ठीवणालवप्फंसे 1, चरणघट्टणनिट्ठीवणपट्टियाअक्खरमज्जणेसु 2, भूमिपाडणे 3। अणुट्ठवियठवणायरियस्स चालणे 1, भूमिपाडणे 2, पणासणे 3। एवं जहन्न-मज्झिम-उक्किट्ठआसायणासु पु., ए., आं. अप्पडिलेहियठव-णायरियपुरओ अणुट्ठाणकरणे पु., सज्झायसयं वा। अवयारणगाइबायरमिच्छत्तकरणे पंचकल्लाणं उ. 10। जवमालियानासणे ए.। केसिं चि ठवणायरिए गमिए जवमालियानिग्गमणे य एगकल्लाणं, सज्झायपंचसहस्सं वा। कन्नाहलग्गहणे संडाइविवाहे आं.। धिउल्लियाइकरणे पु.।

पडिमादाहे भंगे, पलीवणाइसु पमायओ वावि।
तह पुत्थ-पट्टियाईणहिणवकारावणे सुद्धी।।

पुत्थयमाईण कक्खाकरणे दुग्गंधहत्थग्गहणे पायलग्गणे आं.। देवहरे निक्कारणं सयणे आं. 2। देवजगईए हत्थपायपक्खालणे उ. 2। विकहाकरणे आं., पु.। झगडयं जुज्झंण्हाणए वा करेइ उ. 2, पु. 2। घरलेक्खयं पुत्तपुत्तियासंबंधं च करेइ उ. 3, पु. 3। हत्थरुंडिं हासं चच्छरिं देवट्ठाणे परोप्परं पुरिसाणं करिंताणं उ. 3, पु. 3। इत्थीहिं सह उ. 6, पु. 6। *(विधिमार्गप्रपा, पृ. 89-90)*

• सम्यक्त्वव्रत में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपबृंहण आदि आठ प्रकार के अतिचार (दोष) लगते हैं। यह अतिचार आंशिक रूप से लगने पर **आयम्बिल** तथा सर्वथा से लगने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिन प्रतिमा की पूजा करते समय अगरबत्ती, धूपदानी, थूंक, श्वासोश्वास या वस्त्र का आँचल उससे स्पर्शित हो जाये अथवा प्रतिमा हाथ से गिर जाये तो **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• यदि नगर में जिनालय है, गुरु भगवन्त भी विराजमान हैं और शारीरिक सामर्थ्य भी है फिर भी नियम के अनुसार एक या तीन बार अरिहंत परमात्मा एवं गुरु को वन्दन न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• अविधि से जिनप्रतिमा का प्रक्षाल करने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• देवद्रव्य का उपयोग अशन आदि आहार एवं वस्त्र आदि खरीदने के लिए किया हो, गुरु-द्रव्य का उपयोग वस्त्र आदि कार्यों में किया हो तथा साधारणद्रव्य का उपयोग भी स्वयं के निजी कार्यों के लिए किया हो तो भोगा गया उतना द्रव्य (धन) तत्संबंधी भण्डारों में देना चाहिए। यही इसका प्रायश्चित्त है।

• देवद्रव्य और गुरुद्रव्य का उपभोग जघन्य से करने पर **आयंबिल**, मध्यम से करने पर **उपवास** तथा उत्कृष्ट से करने पर **एक कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार यह प्रायश्चित्त दुगुना भी दे सकते हैं।

• गुरु के आसन आदि से अपने पाँव का स्पर्श होने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• सन्ध्याकाल में दैवसिक प्रतिक्रमण अथवा आवश्यक कार्य के लिए उपाश्रय में जाने पर गुरु के हाथ-पाँव आदि से अपने किसी अंग का स्पर्श हो

जाये तो जघन्य से **पुरिमड्ढ**, मध्यम से **एकासना** और उत्कृष्ट से **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

- प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं के लिए स्थापित स्थापनाचार्य से पाँव का स्पर्श हो जाये तो **नीवि** और ठोकर लग जाने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- स्थापित-अस्थापित दोनों प्रकार के स्थापनाचार्य को नीचे गिराने पर, स्थापनाचार्य को खण्डित करने पर एवं प्रव्रजित (दीक्षित) साधु-साध्वियों के आसन, मुखवस्त्रिका आदि उपकरणों का उपभोग करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- जिनालय में पेय पदार्थों का सेवन करने पर **एकासना** और अशन संबंधी खाद्य वस्तुओं का भोग करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- वासकुंपी के द्वारा प्रतिमा को आघात पहुँचाने पर, धोती-दुपट्टा के बिना परमात्मा की पूजा करने पर[2], प्रमाद से प्रतिमा को नीचे गिराने पर[3], सूत्र-अर्थादि का उच्चारण करते समय पुस्तक-पट्टी-टिप्पणक आदि ज्ञान साधनों से थूंक का स्पर्श होने पर[1], पाँव आदि के घर्षण से अथवा थूँक आदि से पट्टी के अक्षर मिटाने पर[2], ज्ञान सम्बन्धी उपकरणों को गिराने पर[3], अस्थापित स्थापनाचार्य को निष्प्रयोजन हिलाने पर[1], उन्हें नीचे गिराने पर[2] अथवा खण्डित करने पर[3] निर्दिष्ट 1-2-3 की संख्या के अनुसार जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट की अपेक्षा क्रमशः **पुरिमड्ढ, एकासना** और **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- पूर्वोक्त ज्ञान (पुस्तक-ठवणी आदि), दर्शन (प्रतिमा आदि) एवं चारित्र (स्थापनाचार्य) सम्बन्धी उपकरणों की आशातना (अविनय) करने पर जघन्य से **पुरिमड्ढ**, मध्यम से **एकासना** और उत्कृष्ट से **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- अप्रतिलेखित स्थापनाचार्य के सम्मुख प्रतिक्रमण आदि आवश्यक अनुष्ठान करने पर **पुरिमड्ढ** अथवा सौ गाथा परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।
- स्थूल रूप से मिथ्यात्व प्रवृत्ति करने पर जैसे माघ पूर्णिमा उत्सव के दिन ईख से दंत धावन आदि करने पर **पंचकल्लाण** = दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है।
- नवकारवाली (जापमाला) के खण्डित होने या गुम जाने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• कुछ आचार्यों के मतानुसार स्थापनाचार्य के खण्डित होने पर और जापमाला को बाहर फेंक देने पर एक **कल्लाण** = दो उपवास अथवा पाँच हजार गाथा परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय के परिसर में कन्या का लग्न करने पर एवं सांड आदि का विवाह करवाने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिथ्यात्व बुद्धि से पुतला-पुतलिका आदि का विवाह करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• दीपक आदि के द्वारा अथवा प्रमाद से जिनप्रतिमा को जला देने पर एवं खण्डित कर देने पर पुनः नयी प्रतिमा बनवाने पर ही उस पाप की शुद्धि होती है। इसी भाँति पुस्तक-बही आदि ज्ञान सम्बन्धी साधनों (उपकरणों) के खण्डित होने या जल जाने पर भी पुनः नया निर्मित करवाने से दोषमुक्ति होती है।

• पुस्तक आदि ज्ञानोपकरणों को कांख में रखने पर, दुर्गन्ध युक्त हाथ आदि से उन्हें पकड़ने पर तथा पाँवों का उन साधनों से स्पर्श होने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय अथवा उस परिसर में निष्प्रयोजन शयन करने पर **दो आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय की परिसर में हाथ-पाँव आदि का प्रक्षालन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय की निर्धारित सीमा में स्नान करने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय की परिसीमा में विकथा (व्यर्थ की बातें) करने पर **एक आयंबिल** एवं **एक पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिन चैत्य के परिसर में लड़ाई या युद्ध करने पर **दो उपवास** एवं **दो पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय के परिसर में घर-व्यापार का लेखा-जोखा करने पर और पुत्र-पुत्री का सम्बन्ध निश्चित करने पर **तीन उपवास** एवं **तीन पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिन चैत्य के परिसर में पुरुषों द्वारा परस्पर तालियों के सुरवाली क्रीड़ाएँ करने पर, हँसी-मजाक करने पर तथा नृत्य आदि की अभद्र चेष्टाएँ करने पर **तीन उपवास** एवं **तीन पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• पूर्वोक्त हास्य आदि की क्रीडाएँ पुरुषों द्वारा स्त्रियों के साथ करने पर **छह उपवास** एवं **छह पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

सामाचारी विशेष से सम्यक्त्वव्रत सम्बन्धी दोषों में निम्न प्रायश्चित्त आते हैं–

देवजगईए मज्झे भोयणे उ. 1, पाणे आं. 1। जईणं भोयणे कए उ. 5, पाणे 2। तेसिं नियडे निद्दाकरणे आं. 2, उ. 3। देसओ पच्छा अद्धं, अप्पं ओघिज्जइ। देसओ ए. 2, उ.। सव्वओ नि. 3। उस्सुत्तअणुमोयणे देसओ उ., आं.; सव्वओ उ. 5, आं. 3, नि. 3, ए. 5। देवदव्वउवभोगे कए थोवे उ. 5, आं. 5, नि. 5, ए. 5, पु. 5। पउरे जणन्नाए एवं चउग्गुणं, अन्नाए दुगुणं। सव्वओ नाए पंचावि वीसगुणा। अन्नाए दसगुणा। उवेक्खणे पण्णाहीणे अन्नाए पंचावि सव्वओ तिगुणा, नाए चउग्गुणा। एवं साहम्मियधणोवभोगे नाए चउग्गुणा, अन्नाए दुगुणा। साहम्मिएण सह कलहे अन्नाए थोवे उ., आं., नि., पु., ए.। पउरे नाए तिगुणा। साहम्मियअवमाणे थोवे अन्नाए उ., आं., नि., पु., ए.। पउरे नाए बिउणा। गिलाणअपालणे देसओ पंचावि दुगुणा। साहम्मियगिलाणअपालणे देसओ पंचगुणा, सव्वओ छग्गुणा। सामन्नओ विसेसओ गिलाणअपालणे सव्वओ पंचवीसगुणा। देसओ सम्मत्ताइयारेसु अट्ठसु पंचावि एगगुणाई जाव अट्ठगुणा, सव्वओ दुगुणाई जाव नवगुणा।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 92)

• जिन मन्दिर के परिसर में भोजन करने पर **एक उपवास** और पेय पदार्थों का सेवन करने पर **एक आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय के परिसर में साधु द्वारा भोजन करने पर **पाँच उपवास** और पेय द्रव्यों का भोग करने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय के निकटवर्ती स्थान में शयन करने पर **दो आयंबिल** और **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। पूर्वोक्त दोष आंशिक रूप से लगने पर निर्धारित प्रायश्चित्त आधा करके अथवा सामान्य से अल्प भी दिया जाता है।

• जिनालय के परिसर में आंशिक निद्रा लेने पर **दो एकासना और एक उपवास** का प्रायश्चित्त आता है तथा सर्वथा दोष में **तीन नीवि का प्रायश्चित्त** आता है।

• उत्सूत्र वचन (आगम विरुद्ध वचन) की अनुमोदना करने पर देश से **एक उपवास** और **एक आयंबिल** तथा सर्वथा से **पाँच उपवास, तीन आयंबिल, तीन नीवि** एवं **पाँच एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• देवद्रव्य का अल्पमात्रा में उपभोग करने पर **पाँच उपवास, पाँच आयंबिल, पाँच नीवि, पाँच एकासना, पाँच पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• देवद्रव्य का अधिक मात्रा में उपभोग करने पर यह अपराध यदि लोगों को ज्ञात हो जाये तो पूर्वोक्त पाँचों प्रकारों का चार गुणा तथा लोगों से अज्ञात रहने पर पूर्वोक्त पाँचों का दुगुणा प्रायश्चित्त आता है।

• देवद्रव्य का सर्वथा उपभोग करने पर यदि वह दोष प्रकट हो जाये यानी लोगों को ज्ञात हो जाये तो पूर्वोक्त उपवास आदि पाँचों का बीस गुणा प्रायश्चित्त आता है तथा अप्रकट (अज्ञात) रहने पर उपवास आदि पाँचों का दसगुणा प्रायश्चित्त आता है।

• प्रज्ञाहीन के द्वारा देवद्रव्य की सर्वथा उपेक्षा किये जाने पर और उस दोष के अप्रकट रहने पर उपवास आदि पाँचों का तीन गुणा तथा प्रकट हो जाने पर पाँचों का चार गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• साधारण द्रव्य का उपभोग करने पर वह दोष लोगों के समक्ष प्रकट हो जाये तो उपवास आदि पाँचों का चार गुणा और अप्रकट रहने पर पाँचों का दुगुणा प्रायश्चित्त आता है।

• साधर्मिक के साथ किंचित कलह करने पर वह जन समुदाय में अप्रकट रहे तो पाँचों का एक गुणा तथा प्रचुर मात्रा में कलह करने पर वह लोगों में प्रकट हो जाये तो पाँचों का तीन गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• साधर्मिक भाई-बहन का किंचित अपमान करने पर यदि वह दोष अप्रकट रहे तो पाँचों का एक गुणा तथा अधिक अपमान करने पर वह प्रकट हो जाये तो पाँचों का दुगुणा प्रायश्चित्त आता है।

• बीमार व्यक्ति की आंशिक रूप से भी शुश्रुषा न करने पर पाँचों का दुगुणा प्रायश्चित्त आता है।

• साधर्मिक रूग्ण की सम्यक् शुश्रुषा न करने पर देश से पाँचों का पंचगुणा और सर्वथा से पाँचों का छह गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• साधर्मिक रोगी की सामान्य या विशेष किसी तरह से परिचर्या न करने पर सर्वथा से उपवास आदि पाँचों का पच्चीस गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• सम्यक्त्व संबंधी आठ अतिचारों का सेवन होने पर देश से पाँचों का एक-एक गुणा बढ़ाते हुए आठ गुणा और सर्वत: दो गुणा से बढ़ाते हुए नवगुणा तक प्रायश्चित्त आता है।

2. अहिंसा अणुव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

पुढविमाइसु चउरिंदियावसाणेसु साहु व्व पच्छित्तं। पंचिदिएसु पमाएण पाणाइवाए कल्लाणं। संकप्पेणं पंचकल्लाणं। दोण्हं विगलाणं वहे उ. 2। तिण्हं उ. 3। जाव दसण्हं उ. 10। एक्कारसाइसु बहुसु वि.उ. 10। मयंतरे बहुएसु विगलेसु पंचकल्लाणं। पभूयतरबेइंदियउद्दवणे उ. 20, पभूयतरतेइंदियउद्दवणे उ. 30। पभूयतरचउरिंदियउद्दवणे उ. 40। जीववाणिय-कोलियपुड-कीडियानगर-उद्देहियाइउद्दवणे पंचकल्लाणं। अगलियजलस्स एगवारं ण्हाणपाणतावणाइसु एगकल्लाणं। अगलियजलेण वत्थसमूहधुयणे पंचकल्लाणं। जित्तियवारं अगलियजलं वावरेइ तित्तिया कल्लाणगा। पत्तावेक्खाए उ. 1। जलोयामोयणे आं.। जीववाणियसंखारगउज्झणे एगकल्लाणं उ. 2। थोवे थोवतरमवि। अणंतकाइयकीडियानगरझुसिरवाडियाइसु ण्हाणजल-उण्हअवसावणाइ-वहणे संखारगसोसे अगलियजलवावारे गलेज्जंतस्स वा कित्तियस्स वि उज्झणे असोहियइंधणस्स अग्गिमि निक्खेवे केसविरलीकरणे सिरकंडूयणे कीलाए सरलेट्ठुमाइक्खेवे पुरिमड्ढाईणि।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 90)

• पृथ्वीकाय आदि से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवों का नाश करने पर अथवा उन्हें कष्ट आदि देने पर साधु अधिकार में कहे गये प्रायश्चित्त के समान ही प्रायश्चित्त आते हैं।

• पंचेन्द्रिय जीवों की प्रमाद से हिंसा करने पर **एक कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।

• पंचेन्द्रिय जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा करने पर **पंचकल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।

• विकलेन्द्रिय (बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय-चउरिन्द्रिय) जीवों की दो बार हिंसा करने पर **दो उपवास**, तीन बार हिंसा करने पर **तीन उपवास**, इसी तरह क्रमश:

संख्या बढ़ाते हुए दस बार हिंसा करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। इससे अधिक बार प्राणान्तक कष्ट पहुँचाने पर भी **दस उपवास** का ही प्रायश्चित्त आता है।

- मतान्तर से अधिक संख्या में विकलेन्द्रिय जीवों का वध करने पर **पंचकल्लाण** = दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है।
- प्रचुर संख्या में बेइन्द्रिय जीवों का नाश करने पर **बीस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- प्रचुर संख्या में तेइन्द्रिय जीवों का नाश करने पर **तीस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- प्रचुर संख्या में चउरिन्द्रिय जीवों को पीड़ित करने पर **चालीस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- पानी के जीवों का, जाले में फँसे हुए मकड़ी आदि का, चींटियों के बिलों का, उदेही-दीमक आदि का विनाश करने पर **पंचकल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- बिना छाने हुए पानी का स्नान के लिए, पीने के लिए एवं गर्म आदि करने के लिए एक बार उपयोग करने पर **एक कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- बिना छाने हुए पानी से वस्त्रों को प्रक्षालित करने पर **पंच कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- बिना छाने हुए पानी का जितनी बार उपयोग किया जाता है उतने ही **कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- जलौक (पानी में रहने वाला जन्तु विशेष) को पीड़ित करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- संख्यात मात्रा में अप्काय के जीवों का नाश करने पर **एक कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- अल्प से अल्पतर संख्या में भी अप्काय जीवों का विनाश करने पर **एक कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- अनन्तकायिक जीवों से युक्त स्थानों, चींटियों के बिलों एवं पोलेपन से युक्त उद्यान आदि में स्नान करने पर, चावल आदि के मांड को जहाँ-तहाँ डालने

पर, अशोधित ईंधन को अग्नि में प्रक्षेपित करने पर, सिर को खुजलाने पर एवं तालाब में क्रीड़ावश पत्थर आदि फेंकने पर **पुरिमड्ढ** आदि का प्रायश्चित्त आता है।

सामाचारी विशेष के अनुसार

पाणाइवाए सुहुमे बायरे वा देसओ कए कप्पे ते पंच, पमाए बिउणा, दप्पे तिगुणा, आउट्टियाए चउग्गुणा। पुढवि-आउ-तेउ-वाउ-वणस्सईणं संघट्टणे पु., परियावणे ए., उद्दवणे उ.। तसकायसंघट्टणे आं., परिआवणे आं. 2, उद्दवणे पंच.। कप्पंमि, उद्दवणे पंच-दुगुणाणि, पमाएण तिगुणाणि, आउट्टि याए पंचगुणाणि। एवं देसओ। सव्वओ पुढविकायाईणं अट्ठण्हं संघट्टणे कमेण पु. 2, नि. 3, ए. 4, आं.2, उ. 2, उ. 3, उ. 4, उ. 5। नवमे पंचविहं एयं पंचगुणं। परियावणे एएसु एयं दुगुणं। उद्दवणे पंचगुणं। कप्पे संघट्टणपरियावणुद्दवणेसु सव्वओ आं. 1, आं. 2, आं. 3। पमाए उ. 1, उ. 2, उ. 3। दप्पे उ. 2, उ. 3, उ. 4। आउट्टियाए संघट्टणाइसु उ. 2, उ. 3, उ. 4। *(विधिमार्गप्रपा, पृ. 92)*

- सूक्ष्म अथवा बादर जीवों की आंशिक हिंसा करने पर **पुरिमड्ढ** आदि पाँचों का एकगुणा, उन्हीं का प्रमाद से अतिपात करने पर पाँचों का दुगुणा, उन्हीं जीवों की दर्प से हिंसा करने पर पाँचों का तीन गुणा तथा जान-बूझकर हिंसा करने पर पाँचों का चार गुणा प्रायश्चित्त आता है।

- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय सम्बन्धी जीवों का संघर्षण (पीड़ा युक्त स्पर्श) करने पर **पुरिमड्ढ**, परितापना देने पर **एकासना** तथा मारणान्तिक कष्ट देने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- त्रसकायिक (बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक) जीवों का संघर्षण (वेदना युक्त स्पर्श) करने पर **एक आयंबिल**, संताप देने पर **दो आयंबिल** तथा उन्हें मारणान्तिक कष्ट देने पर **पुरिमड्ढ** आदि पाँचों का एक गुणा प्रायश्चित्त आता है।

- आचारशास्त्र के अनुसार त्रसकायिक जीवों को असह्य पीड़ा देने पर **पुरिमड्ढ** आदि पाँचों का दुगुणे से अधिक, उन्हें प्रमाद से पीड़ित करने पर पाँचों का तिगुणा एवं उन्हें जानबूझकर कष्ट देने पर पाँचों का पंचगुणा

प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त आंशिक दोष की अपेक्षा से कहा गया है।

- पृथ्वीकाय से लेकर चउरिन्द्रिय तक आठ प्रकार के जीवों का संघर्षण (कष्ट युक्त स्पर्श) करने पर सर्वथा से क्रमशः- **दो पुरिमड्ढ, तीन नीवि, चार एकासना, दो आयंबिल, दो उपवास, तीन उपवास, चार उपवास, पाँच उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- पंचेन्द्रिय जीवों को अत्यन्त पीड़ित करने पर पूर्वोक्त पाँचों का पंचगुणा प्रायश्चित्त आता है।
- कल्पशास्त्र के अनुसार पृथ्वीकाय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को परिताप देने पर पाँचों का दुगुणा तथा इन्हीं जीवों को मारणान्तिक कष्ट देने पर **पुरिमड्ढ** आदि का पाँच गुणा प्रायश्चित्त आता है।
- कल्पशास्त्र के अनुसार पृथ्वीकाय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों का संघर्षण करने पर **एक आयंबिल**, उन्हें संताप देने पर **दो आयंबिल** तथा उन्हें मारणांतिक कष्ट देने पर **तीन आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त सर्वथा दोष की अपेक्षा कहा गया है।
- कल्पशास्त्र के नियमानुसार पृथ्वीकाय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों का प्रमाद से संघर्षण, परितापन एवं उपमर्दन करने पर क्रमशः **एक उपवास, दो उपवास, तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- पृथ्वीकाय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों का दर्प से संघर्षण, परितापन एवं उपमर्दन करने पर क्रमशः **दो उपवास, तीन उपवास, चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- पृथ्वीकाय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों का जानबूझकर संघर्षण, परितापन एवं उपमर्दन करने पर क्रमशः **दो उपवास, तीन उपवास, चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

3. सत्याणुव्रत-अस्तेयाणुव्रत-परिग्रहपरिमाणव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

मुसावाय-अदिन्नादाण-परिग्गहेसु जहन्नाइसु ए., आं., उ.। दप्पेण तिसु वि पंचकल्लाणं। अहवा मुसावाए जहण्णे पु., मज्झिमे आं., उक्किट्ठे पंचकल्लाणं। दप्पेणं जहन्न-मज्झिमेसु वि तं चेव। दव्वाइचउव्विहे

अदिन्नादाणे जहन्ने पु., मज्झिमे सघरे अन्नाए ए., नाए आं.। अहवा उ.। उक्किट्ठे अन्नाए पंचकल्लाणं, नाए रायपज्जंतकलहसंपन्ने तं चेव, सज्झायलक्खं च। *(विधिमार्गप्रपा, पृ. 90)*

• मृषावाद, अदत्तादान एवं परिग्रहव्रत में दोष लगने पर तीनों में जघन्य से **एकासना**, मध्यम से **आयंबिल**, उत्कृष्ट से **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• मृषावाद आदि तीनों विरमणव्रत में अभिमान पूर्वक दोष लगने पर **पंचकल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है अथवा मृषावाद विरमणव्रत में दोष लगने पर जघन्य से **पुरिमड्ढ**, मध्यम से **आयंबिल**, उत्कृष्ट से **पंचकल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।

• मृषावादविरमणव्रत में दर्प से दोष लगने पर भी जघन्य आदि से क्रमशः **पुरिमड्ढ, आयंबिल** एवं **उपवास** का ही प्रायश्चित्त आता है।

द्रव्य आदि चार प्रकार के अदत्तादानविरमण व्रत में दोष लगने पर जघन्य से **पुरिमड्ढ**, मध्यम से स्वगृह की अपेक्षा वह दोष अप्रकट रहे तो **एकासना** एवं प्रकट हो जाने पर **आयंबिल** अथवा **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। अदत्तादनविरमण व्रत सम्बन्धी उत्कृष्ट दोष अज्ञात रहने पर **पंच कल्लाण** और ज्ञात में राज दरबार पर्यन्त कलह पहुँच जाये तो **पंचकल्लाण** एवं एक लाख गाथा परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।

सामाचारी विशेष से

सुहुमे मुसावाए देसओ जयणा। कयपोसहसामाइओ जइ भासइ सुहुमं मुसावायं तो उ. 2। बायरं भासइ उ. 4। अकयसामाइओ बायरमुसावायं भासइ उ. 3। सव्वओ सुहुमे मुसावाए पंचविहं पि दुगुणं। बायरे पंचविहं पि पंचगुणं।

अदत्तगहणे सुहुमे देसओ जयणा। कयपोसहसामाइओ अदत्तं गेण्हइ सुहुमं तो पंच बिउणा। बायरं गेण्हइ पंच वि अट्ठगुणा। सव्वओ सुहुमे पंचगुणा बायरे दसगुणा।

देसओ धणधन्नाइनवविहे परिग्गहपमाणाइक्कमे एगगुणाई पंच वि भेया जाव नवगुणा। सव्वओ उण कयपच्चक्खाणस्स परिग्गहे नवविहे वि विहिए चउग्गुणाई जाव बारसगुणा। *(विधिमार्गप्रपा, पृ. 92)*

• सूक्ष्म रूप से असत्य भाषण करते समय देशतः विवेक रखना चाहिए।

• सामायिक और पौषध ग्रहण किया हुआ व्रती यदि सूक्ष्म रूप से मिथ्या भाषण करता है तो **दो उपवास** तथा स्थूल रूप से झूठ बोलता है तो **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अव्रती के द्वारा स्थूल झूठ बोला जाए है तो **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• झूठ बोलने के चार कारण बतलाये गये हैं–1. क्रोध 2. लोभ 3. भय और 4. हास्य। इन चार कारणों से सूक्ष्म झूठ बोलने पर **पुरिमड्ढ** आदि पाँचों प्रकारों का दुगुणा प्रायश्चित्त आता है तथा उक्त सर्व कारणों से स्थूल झूठ बोलने पर पाँचों का पंचगुणा प्रायश्चित्त आता है।

• वस्तु बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करने में देशत: विवेक रखना चाहिए।

• पौषध एवं सामायिकव्रत में स्थिर व्यक्ति आंशिक रूप से अदत्त वस्तु ग्रहण करता है तो पूर्वोक्त पाँचों प्रकारों का दुगुणा तथा स्थूल रूप से अदत्त वस्तु ग्रहण करता है तो पाँचों का आठ गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• सूक्ष्म अदत्त वस्तु सर्वथा से ग्रहण करने पर पाँचों का पंचगुणा तथा स्थूल रूप से ग्रहण करने पर पाँचों का दसगुणा प्रायश्चित्त आता है।

• धन-धान्य आदि नौ प्रकार के परिग्रह परिमाण का अंशत: अतिक्रम होने पर पाँचों भेदों का एक गुणा आदि से लेकर नवगुणा तक प्रायश्चित्त आता है तथा सर्वथा अतिक्रमण होने पर पाँचों भेदों का क्रमश: चार गुणा आदि से लेकर बारह गुणा तक प्रायश्चित्त आता है।

4. मैथुनविरमणव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

सदारे चउत्थवयभंगे अट्ठमं एगकल्लाणं च। अन्नाए परदारे हीणजणरूवे पंचकल्लाणं, नाए सज्झाय लक्खं। उत्तमपरदारे अन्नाए सज्झायलक्खं, असीइसहस्साहियं। नाए मूलं। उत्तमपरकलत्ते वि। नपुंसगस्स अच्चंतपच्छायाविस्स कल्लाणं, पंचकल्लाणं वा। मयंतरं पमाएण असुमरंतस्स सदारे वयभंगे उ. 1, जाणंतस्स पंचकल्लाणं। जइ इत्थी बलाकारं करेइ तया तीसे पंचकल्लाणं। इत्तरकालपरिग्गहियाए वि वयभंगे कल्लाणं, अहवा उ. 1। वेसाए वयभंगे पमाएण असंभरंतस्स उ. 2, अहवा उ. 1। कुलवहूए वयभंगे मूलं। मिउणो पंचकल्लाणं। अहवा दप्पेणं परदारे पंचकल्लाणं। अइपसिद्धिपत्तस्स उत्तमकुलकलत्ते वयभंगेण

मूलमवि आवन्नस्स पंच कल्लाणं। सकलत्ते वयभंगे पंचविसोवया पावं। वेसाए दस। कुलडाए पन्नरस। कुलंगणाए वीसं। दप्पेण परिग्गहपमाणभंगे पंचकल्लाणं। उक्किट्ठे सज्झायलक्खमसीइसहस्साहियं।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 90-91)

- स्वपत्नी के साथ चतुर्थ व्रत का भंग होने पर **एक अट्ठम** और **एक कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- हीन कुल वाली परस्त्री के साथ मैथुनव्रत में दोष लगने पर यदि वह अप्रकट रहे तो **पंच कल्लाण** तथा प्रकट हो जाये तो **एक लाख गाथा** परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।
- उत्तम कुलीन परस्त्री के साथ मैथुनव्रत का भंग होने पर यदि वह दोष अप्रकट रहे तो एक लाख अस्सी हजार गाथा परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है तथा अन्यों में ज्ञात होने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।
- उत्तम कुलीन परस्त्री के साथ मैथुनव्रत भंग होने पर भी पूर्वोक्त प्रायश्चित्त ही आता है।
- नपुंसक के साथ अत्यन्त गुप्त मन्त्रणा करने पर **एक कल्लाण** अथवा **पंच कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- मतान्तर से स्वपत्नी के साथ प्रमाद पूर्वक व्रत भंग होने पर **एक उपवास** तथा जानते हुए व्रतभंग होने पर **पंच कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- यदि स्त्री के द्वारा बलात्कार किया जाए तो स्त्री को भी **पंच कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- किसी दूसरे के द्वारा स्वीकृत या अमुक समय तक के लिए रखी गई वेश्या अथवा रखैल स्त्री के साथ मैथुनव्रत का भंग होने पर **एक कल्लाण** अथवा **एक उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- वेश्या के साथ प्रमाद वश मैथुनव्रत खण्डित होता है तो **दो उपवास** अथवा **एक उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- कुलवधू के साथ व्रत भंग होने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।
- परस्त्री के साथ दर्प से मैथुनव्रत का भंग होने पर **पंच कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उत्तम कुलीन भार्या के साथ व्रत भंग करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।

• सभी प्रकार की साधारण स्त्रियों के साथ व्रत भंग होने पर पच्चीस गुणा से अधिक पाप होता है।

• वेश्या के साथ व्रत भंग होने पर दस गुणा पाप होता है।

• कुलटा स्त्री के साथ व्रत भंग होने पर पन्द्रह गुणा पाप होता है। कुलांगना के साथ भंग होने पर बीस गुणा पाप होता है।

• स्त्री भी एक प्रकार का परिग्रह है। अत: अहंकार के पोषण हेतु परिग्रह परिमाणव्रत का भंग होने पर **पंच कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है। इस व्रत भंग में उत्कृष्ट से एक लाख अस्सी हजार गाथा परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।

सामाचारी विशेष से–

मेहुणपच्छित्तं पुव्वं व। विसेसो पुण इमो–देवहरे वेसाए सह पसंगे जाए उ. 10, आं. 10, नि. 10, ए. 10, सज्झायसहस्सतीसं 30। साविआहिं सद्धिं तं चेव तिगुणं देयं अन्नाए, नाए पंचगुणं। सावग-अज्जियाणं पसंगे जाए नाए य वीसगुणं, अन्नाए तेरसगुणं। संजय-साविआणं अन्नाए पन्नरसगुणं, नाए तीसगुणं। संजय-अज्जियाणं अन्नाए सट्ठिगुणं, नाए सयगुणं। देवहरं विणा पुव्वोत्तेहिं वेसाईहिं सह पसंगे जाए नाए उ. 30, आं. 30, नि. 100, पु. 500, ए. 1000, सज्झायलक्ख 30, अन्नाए एयद्धं।–गयं मेहुणं। *(विधिमार्गप्रपा, पृ. 92)*

• जिनालय के परिसर में वेश्या के साथ मैथुनव्रत खण्डित होने का प्रसंग उपस्थित होने पर 10 **उपवास**, 10 **आयंबिल**, 10 **नीवि**, 10 **एकासना एवं तीस हजार गाथा** परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय के परिसर में श्रावक द्वारा श्राविका के साथ मैथुन सेवन करने पर, वह दोष अप्रकट रहे तो पाँचों प्रकारों का तीन गुणा तथा लोगों में प्रकट हो जाने पर पाँच गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय के परिसर में श्रावक द्वारा साध्वी के साथ मैथुनव्रत भंग होने पर, यदि वह दोष प्रकट हो जाये तो पाँचों प्रकारों का बीस गुणा तथा अप्रकट रहे तो तेरह गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय के परिसर में मुनि द्वारा श्राविका के साथ मैथुनव्रत खण्डित

होने पर अप्रकट स्थिति में पाँचों प्रकारों का पन्द्रह गुणा तथा प्रकट होने पर तीस गुणा प्रायश्चित्त आता है।

- जिनालय के परिसर में मुनि द्वारा साध्वी के साथ मैथुनव्रत खण्डित होने पर अप्रकट स्थिति में पाँचों प्रकारों का साठ गुणा तथा प्रकट हो जाने पर सौ गुणा प्रायश्चित्त आता है।
- जिन चैत्य के अतिरिक्त अन्य स्थानादि में वेश्या, श्राविका, साध्वी आदि के साथ मैथुनव्रत भंग होने पर प्रकट स्थिति में **30 उपवास, 30 आयंबिल, 100 नीवि, 500 पुरिमड्ढ, 1000 एकासना** एवं **तीस लाख गाथा** परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है तथा जन समुदाय में अप्रकट रहने पर उपरोक्त से आधा प्रायश्चित्त दिया जाता है।

5. दिशापरिमाण-भोगोपभोगपरिमाण-अनर्थदण्डविरमणव्रत (तीन गुणव्रत) सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त–

दिसिपरिमाणवयभंगे उ.। भोगोवभोगमाणभंगे छट्ठं। अणाभोगेणं मज्ज-मंस-महु-मक्खणभोगे उ., आउट्टीए पंचकल्लाणं, अट्ठमं वा। अणंतकायभोगोवहवणेसु उ.। अकारणं राईभोत्ते उ.। सचित्त वज्जिणो सचित्तअंबगाइपत्तेयभोगे आं.। पनरसकम्मादाणनियमभंगे आं., अहवा उ., अहवा छट्ठं, एगकल्लाणमिति भावो। दव्वसच्चित्तअसण-पाण-खाइम-साइम-विलेवण-पुप्फाइपरिमाणभंगे पु.। अहियविगइभोगे नि.। ण्हाणनियमभंगे आं., अहवा उ.। पंचुंबराइफलभक्खणवयभंगे, पच्चक्खाणवयभंगे अट्ठमं। पच्चक्खाणनियमभंगे अट्ठमं। पच्चक्खाणनियमे सइ निक्कारणं तदकरणे उ.। अकारणसुयणे उ.। नमोक्कारसहिय-पोरिसि-सड्ढपोरिसि-पुरमड्ढ-दोक्कासण-एक्कासण-विगइ-निव्विगइय-आयंबिल-उववासाणं भंगे तदहियपच्चक्खाणं देयं। उववासभंगे उ. 2। वमिवसेण पच्चक्खाणभंगे पु., अहवा ए.। मयंतरे नवकारसहिय-पोरिसि-गंठिसहियाईणं भंगे संखाए नवकार 108, अहवा ए.। मयंतरे गंठिसहियभंगे सज्झाय 200। गंठिसहियनासे उ.। चरिमपच्चक्खाणअग्गहणे रत्तीए य संवरणे अकरणे पु.। अणत्थदण्डे चउव्विहे उ.। मयंतरे आं.। पेसुन्न-अब्भक्खाणदाण-परपरिवाय-असब्भराडिकरणेसु आं., अहवा उ.।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 91)

- दिशापरिमाणव्रत का भंग होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- भोगोपभोगपरिमाणव्रत का खण्डन होने पर **छट्ठ** = बेले का प्रायश्चित्त आता है।
- असावधानीवश या अचानक मद्य, मांस, मधु एवं मक्खन इन चार महाविगयों का सेवन करने पर **उपवास** तथा इन चारों का निर्दय भाव से परिभोग करने पर **पंचकल्लाण** (दस उपवास) अथवा **अट्ठम** (तेला) का प्रायश्चित्त आता है।
- जमीकन्द का भोग करने पर एवं उन जीवों को अत्यधिक कष्ट पहुँचाने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- निष्प्रयोजन रात्रिभोजन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- सचित्त का त्याग करने के पश्चात प्रत्येक वनस्पति का परिभोग करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- पन्द्रह कर्मादान सम्बन्धी नियम का भंग होने पर **आयंबिल, उपवास** अथवा **छट्ठ** का प्रायश्चित्त आता है।
- गृहस्थ के लिए प्रतिदिन धारण करने योग्य चौदह नियमों में द्रव्य, सचित्त, अशन, पान, खादिम, स्वादिम, विलेपन, पुष्प आदि के सम्बन्ध में गृहीत मर्यादा का भंग होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- विगय मर्यादा का भंग होने पर अथवा नियम से अधिक विकृति का सेवन करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- चौदह नियमों में स्नान सम्बन्धी मर्यादा का उल्लंघन होने पर **आयंबिल** अथवा **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- पाँच प्रकार के उदुम्बर आदि फल का सेवन करने पर एवं भोगोपभोग व्रत का भंग होने पर **अट्ठम** का प्रायश्चित्त आता है।
- ग्रहण किए गए प्रत्याख्यान का भंग होने पर **अट्ठम** का प्रायश्चित्त आता है।
- गृहीत प्रत्याख्यान के नियमों का पालन न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- निष्प्रयोजन दिन में शयन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- नवकारसी-पौरुषी-साढपौरुषी-पुरिमार्ध-बीयासना-एकासना-विकृति-

नीवि-आयंबिल एवं उपवास का भंग होने पर उससे अधिक प्रत्याख्यान देना चाहिए। जैसे आयंबिल का भंग होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

- उपवास का भंग होने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त देना चाहिए।
- वमन के कारण एकासन आदि प्रत्याख्यान खण्डित होने पर **पुरिमड्ढ** अथवा **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।
- मतान्तर से नवकारसी-पौरुषी-गंठिसहियं आदि प्रत्याख्यानों का भंग होने पर एक सौ आठ नवकार का स्मरण अथवा **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।
- मतान्तर से गंठिसहियं आदि सांकेतिक प्रत्याख्यान का भंग होने पर **दो सौ गाथा** परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।
- गंठिसहियं प्रत्याख्यान का सर्वथा भंग होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- बिना कारण दिवसचरिम प्रत्याख्यान न लेने पर और अकारण रात्रि में खाने-पीने का संवर न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- अनर्थदण्डव्रत चार प्रकार से खण्डित होता है। इस आठवें व्रत में तत्संबंधी किसी तरह का दोष लगने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है तथा मतान्तर से **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- व्रतधारी गृहस्थ के जीवन में भी प्रतिदिन 18 पापस्थानों के दोष लगने की सम्भावना रहती है उनमें पैशुन्य (चुगली करना), अभ्याख्यान (झूठा कलंक देना) परपरिवाद (दूसरों की निंदा करना), असभ्यता पूर्वक गाली गलौच करने पर **आयंबिल** अथवा **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

सामाचारी विशेष से–

देसओ दिसिभोगाइसु सत्तसु जाए अइयारे जहक्कमं पंच वि भेया इक्कगुणाई जाव सत्तगुणा। देसविरइयस्स असणाईनिसिभत्ते कप्पे उ. 3, पंचगुणा जाव अट्ठगुणा। दुहाहारपच्चक्खाणभंगे उ. 1। तिविहाहार-पच्चक्खाणभंगे उ. 2। चउव्विहाहारपच्चक्खाणभंगे उ. 4। दुक्कासणभंगे उ. 2। इक्कासणभंगे उ. 3। अहिगविगइगहणे आं.। अहिगदव्वसच्चित्तग्गहणे उ. 1। रसलोलओ उक्किट्ठदव्वभोगे आं.। अहवा नि.। संकेय-पच्चक्खाणभंगे उ. 1। निव्वियभंगे उ. 2। आयंबिलभंगे उ. 3, पुरिमड्ढ 2।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 92-93)

- छठें दिशापरिमाण से बारहवें अतिथिसंविभाग तक इन सात व्रतों में आंशिक अतिचार (दोष) लगने पर अनुक्रम से पाँचों भेदों का एक गुणा से लेकर सात गुणा तक प्रायश्चित्त आता है।
- देशविरति श्रावक द्वारा रात्रि में अशन आदि का परिभोग करने पर पाँचों प्रकारों का पंचगुणा से आठगुणा तक प्रायश्चित्त आता है।
- दिवसचरिम दुविहार प्रत्याख्यान का भंग होने पर **एक उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- दिवसचरिम तिविहार प्रत्याख्यान का भंग होने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- दिवसचरिम चतुर्विध प्रत्याख्यान का भंग होने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- बीयासना प्रत्याख्यान का भंग होने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- एकासना प्रत्याख्यान का भंग होने पर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- गृहीत नियम से अधिक संख्या में विगय ग्रहण करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है। द्रव्य और सचित्त वस्तु मर्यादा से अधिक ग्रहण करने पर **एक उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- रसनेन्द्रिय की पूर्ति हेतु उत्कृष्ट द्रव्य (पकवान आदि गरिष्ठ आहार) का परिभोग करने पर **आयंबिल** अथवा **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- सांकेतिक प्रत्याख्यान का भंग होने पर **एक उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- नीवि प्रत्याख्यान का भंग होने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- आयंबिल प्रत्याख्यान का भंग होने पर **तीन उपवास** और **दो पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

6. सामायिक–देशावगासिक–पौषध-अतिथिसंविभागव्रत (चार शिक्षाव्रत) सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

नियमे सइ सामाइय-पासह-अतिहिसंविभागअकरणे उ.। देसावगासिए भंगे आं.। वायणंतरेण सामाइय-पोसहेसु वि आं.।

चाउम्मासिय-संवच्छरिएसु निरइयारस्सावि पचकल्लाणं। कारणे पासत्थाईणं किइकम्मअकरणे आं.। अभिग्गहभंगे आं.। इरियावहियमपडिक्कमिय सज्झायाइ करेइ पु.। इत्थीए नालयमउलणे एगकल्लाणं ति पुज्जाणं आएसो, न पुण कहिं पि दिट्ठं। बालं वुड्ढं असमत्थं नाऊण तइओ भागो पाडिज्जइ। आलोयणाए गहियाए अणंतरं जावंति वरिसा अंतरे जेति तावंति कल्लाणाणि दिज्जंति त्ति गुरूवएसो। महल्लयरे वि अवराहे छम्मासोववासपज्जंतमेव तवं दायव्वं। जओ वीरजिणतित्थे इत्तियमेव च उक्कोसओ तवं वट्टइ। एगाइ नव जाव अवराहणट्ठाणसंखाए पायच्छित्तं दायव्वं। दसाइसु संखाईएसु वि दसगुणमेव देयं ति।

तत्थ पोसहिओ आवस्सियं निसीहियं वा न करेइ, उच्चारपासवणाइभूमीओ न पडिलेहइ, अप्पमज्जिऊण कट्टासणगाइ गिण्हइ मुंचइ वा, कवाडं अविहिणा उग्घाडेइ पिहेइ वा, कायमपमज्जिय कंडुयइ, कुड्डुमप्पमज्जिय अवट्टंभं करेइ, इरियावहियं न पडिक्कमइ, गमणागमणं न आलोयइ, वसहिं न पमज्जइ, उवहिं न पडिलेहइ, सज्झायं न करेइ, नि.। पाडिय मुहपत्तियं लहइ नि.। न लहइ उ.। पुरिसस्स इत्थियाए य इत्थी-पुरिसवत्थसंघट्टे नि.। गायसंघट्टे पु.। कंबलिपावरणे, आउकाय-विज्जुजोइफुसणे नि.। कंबलिविणा पु., अहवा आं.। कंबलिपावरणं विणा पईवफुसणे उ.। अपाराविऊण भोयणे पाणे पुंजयअणुद्धरणे पु.। असज्झ त्ति अभणणे पु.। वमणे निसि सण्णाए भुत्तूणं वंदणयसंवरणअकरणे अणिमित्तदिवासुवणे विगहासावज्जभासासु संथारयअसंदिसावणे संथारयगाहाओ अणुच्चारिऊण सयणे उववित्तुपडिक्कमणे बाघारे दगमट्टियागमणे य आं.। पुरिसस्स थीफासे आं.। इत्थीए पुरिसफासे उ.। संतरफासे पु.। अंचलफासे मज्जारीमाइतिरियफासे य नि.। तरूण पण्णतोडणे आं.। अप्पडिलेहियथंडिले पासवणाइवोसिरणे आं.। वंदणकाउस्सग्गाणं गुरुणो पच्छा करणाइसु पुढवाइसंघट्टणाइसु य साहुणो व्व पच्छित्तं देयं। एवं सामाइयत्थस्स वि जहासंभवं चिन्तणीयं।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 91)

• सामायिक, पौषध एवं अतिथिसंविभागव्रत संबंधी नियम का पालन न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। जैसे कि वर्ष या महीने में 25 या 250 सामायिक का नियम है उतनी पूर्ण नहीं करने पर जितनी सामायिक अपूर्ण रहती है उतने उपवास करने चाहिए।

• देशावगासिकव्रत का भंग होने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

सामायिक एवं पौषधव्रत में स्वाध्याय न करने (गुरुमुख से सूत्रपाठ न लेने) पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक सम्बन्धी अतिचार न लगने पर भी **पंच कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।

• कारण विशेष से पार्श्वस्थ (शिथिलाचारी साधु) आदि के साथ वन्दन व्यवहार न करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• अभिग्रह का भंग होने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• ईर्यापथिक प्रतिक्रमण किये बिना ही स्वाध्याय करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• स्त्री की गर्भ योनि को संकुचित करवाने पर **एक कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है, ऐसा पूज्य पुरुषों का आदेश है।

• पौषधधारी जिनालय या उपाश्रय से बाहर निकलते हुए 'आवस्सही' और प्रवेश करते हुए 'निसीहि' शब्द नहीं कहता है, लघुनीति (मूत्र) एवं बड़ी नीति (मल) आदि दुर्गन्ध वस्तुओं को परिष्ठापित करने योग्य स्थंडिल भूमि की प्रतिलेखना नहीं करता है, कटासन आदि आवश्यक उपकरणों को बिना प्रमार्जन किये ग्रहण करता है अथवा रखता है, उपाश्रय आदि आराधना स्थलों के दरवाजों को अविधिपूर्वक (बिना प्रतिलेखन किये) खोलता है अथवा बंद करता है, शरीर को प्रमार्जित किये बिना ही खुजलाता है, दीवार-भीत आदि की प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना किये बिना ही उसका सहारा लेता है, ईर्यापथिक प्रतिक्रमण नहीं करता है, गमनागमन की आलोचना नहीं करता है, पौषधशाला की प्रमार्जना नहीं करता है, उपधि की प्रतिलेखना नहीं करता है, योग्यकाल में स्वाध्याय नहीं करता है तो **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• पौषधव्रती की मुखवस्त्रिका गिर जाने के पश्चात प्राप्त हो जाती है तो **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है तथा प्राप्त न होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• पौषधव्रती पुरुष का स्त्री के वस्त्र से और पौषधव्रती स्त्री का पुरुष के वस्त्र से स्पर्श होने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• पौषध काल में पुरुष का स्त्री के शरीर से और स्त्री का पुरुष के शरीर से स्पर्श होने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• पौषधव्रत के समय शरीर पर कम्बली ओढ़े हुए की स्थिति में भी यदि अप्काय (पानी) और विद्युत् प्रकाश का स्पर्श होता है तो **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• शरीर पर कंबली नहीं ओढ़े हुए की स्थिति में यदि अप्काय और विद्युत् प्रकाश का स्पर्श होता है तो **पुरिमड्ढ** अथवा **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• पौषधव्रत में कंबली नहीं ओढ़े हुए की स्थिति में यदि दीपक के प्रकाश का स्पर्श होता है तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• गृहीत प्रत्याख्यान को पूर्ण किये बिना ही भोजन-पानी ग्रहण कर लेने पर एवं तत्सम्बन्धी स्थान का काजा परिष्ठापित न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• 'यह अस्वाध्याय काल है' ऐसा नहीं बोलने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• पौषधव्रत के दौरान वमन होने पर, सूर्यास्त के पश्चात् मल-विसर्जन करने पर, स्थिर चित्त से गुर्वादि को वन्दन न करने पर, निष्प्रयोजन दिन में शयन करने पर, विकथा एवं सावद्य भाषा का प्रयोग करने पर, संस्तारक बिछाने का आदेश न लेने पर, संथारा पाठ का स्मरण किये बिना ही रात्रि विश्राम कर लेने पर, बैठे-बैठे प्रतिक्रमण करने पर, कीचड़ युक्त स्थान में गमन करने पर इत्यादि दोषों की शुद्धि के लिए **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• पौषधव्रती पुरुष का स्त्री से स्पर्श होने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• पौषधव्रती स्त्री का पुरुष से स्पर्श हो जाने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• पुरुष एवं स्त्री का परम्परा से स्पर्श होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• पौषध में रहे हुए पुरुष और नारी के वस्त्रांचल का परस्पर में स्पर्श होने

पर तथा बिल्ली आदि तिर्यंच जीवों का स्पर्श होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

- पौषधव्रत में नये पत्तों को तोड़ने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- अप्रतिलेखित स्थंडिल भूमि में मल-मूत्र आदि का परिष्ठापन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- गुरुवन्दन, कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाएँ निर्धारित समय के बाद करने पर तथा पृथ्वीकाय आदि स्थावर या त्रस जीवों का स्पर्श आदि होने पर साधु अधिकार के समान ही प्रायश्चित्त देना चाहिए।

श्रमण (सर्वविरति) सम्बन्धी प्रायश्चित्त

आचार्य जिनप्रभसूरि के मतानुसार मुनि के द्वारा संभावित दोषों की परिशुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्त विधान है वह इस प्रकार है–

1. ज्ञानाचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

इयाणिं नाणाइपंचायारविसयं कमेण पच्छित्तं भण्णइ- नाणायाराइयारेसु अकालपाढाइसु अट्ठसु उद्देसए पणगं, अज्झयणे मासलहुं, सुयक्खंधे मासगुरुं, अंगे चउलहुं। एवं ताव अणागाढे दसवेयालिय-आयारंगाईए, आगाढे पुण उत्तरज्झयण-भगवइमाईए उद्देसगाइसु जहसंखं लहुमास-मासगुरू, चउलहु-चउगुरुगा, अकओवहाण-अपत्तअव्वत्ताईणं उद्देसादिकरणे वायणादाणे य चउगुरू।

कालअणुओगाणमपडिक्कमणे पणगं; सुतत्थभोयणमंडलीण- मप्पमज्जणे पणगं। अणुओगे अक्खाणं गुरु-अक्खनिसेज्जाणं च अट्ठावणे, वंदण-काउस्सग्गाकरणे य चउगुरू। आगाढाणागाढजोगाणं सव्वभंगे छल्लहु-चउगुरुगा जहसंखं। देसभंगे चउगुरु-चउलहुगा। तत्थ विगइभोगे सव्वभंगो। एगभाणे विगइं आयंबिलपाउग्गं च गिण्हइ। जोगसमत्तीए गुरुं विणा वि सयमेव विगइगहणकाउस्सग्गं करेइ। उस्संघट्टं वा भुंजइ त्ति। देसभंगो नाणनाणीणं पच्चणीययाए निंदाए पओसे पाढाइअंतरायकरणे य मासगुरू। पुत्थय-पट्टिया-ट्टिप्पणगाईणं पडणे कक्खाकरणे दुग्गंधहत्थग्गहणे थुक्कभरणे थुक्काइअक्खरमज्जणे पायलग्गणे चउलहू। मयंतरे जहण्णाए मासलहुं, मज्झिमाए मासगुरुं, उक्कोसाए चउलहुं चउगुरुं वा। विसेसओ उण सुत्तासायणाए चउलहु,

अत्थासायणाए चउगुरु, विणयवंजणभंगेसु पणगं। गयं नाणाइयारपच्छित्तं।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 80-81)

• ज्ञानाचार में आठ प्रकार के अतिचार लगते हैं–1. अकाल समय में स्वाध्याय करना 2. गुरु का विनय नहीं करना 3. ज्ञानोपकरण एवं ज्ञानी गुरुओं का बहुमान नहीं करना 4. योगोद्वहन अर्थात उपधान के बिना आगम सूत्र आदि पढ़ना-पढ़ाना 5. जिससे ज्ञान पढ़ा उससे अन्य को गुरु मानना 6. प्रतिक्रमण आदि सूत्रों का अशुद्ध उच्चारण करना 7. सूत्रों के अर्थ को अशुद्ध पढ़ना और 8. सूत्र एवं अर्थ दोनों को सही रूप से नहीं पढ़ना।

• आगमसूत्र का उद्देशक पढ़ते समय ज्ञानाचार सम्बन्धी आठों अतिचारों का सेवन होने पर **पणग** (नीवि) का प्रायश्चित्त आता है। इसी तरह आगमसूत्र का अध्ययन करते समय पूर्वोक्त आठों दोष लगने पर **मासलघु** (पुरिमड्ढ), आगमसूत्र का श्रुतस्कन्ध पढ़ते समय पूर्वोक्त आठों दोष लगने पर **मासगुरु** (एकासन) तथा आगमसूत्र का अंग पढ़ते समय पूर्वोक्त दोषों से **चतुःलघु** (आयंबिल) का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त सामान्य आगम की अपेक्षा से कहा गया है।

• अनागाढ़=दशवैकालिक, आचारांग आदि सूत्रों एवं आगाढ़ = उत्तराध्ययन, भगवती आदि सूत्रों के उद्देशक, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध एवं अंग विशेष की वाचना ग्रहण करते हुए अथवा स्वाध्याय करते हुए ज्ञानाचार से सम्बन्धित किसी प्रकार का दोष लगता है तो उद्देशक आदि में क्रमशः **मासलघु, मासगुरु, चतुःलघु** एवं **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

• जो उपधान किया हुआ नहीं है, सूत्र आदि ग्रहण करने में अयोग्य है तथा व्रत आदि से रहित है उसे उद्देशक आदि पढ़ाने एवं वाचना देने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

• ज्ञानाचार सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिक्रमण न करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।

• सूत्रमण्डली (जहाँ आगम के मूल पाठों का सामूहिक अध्ययन करवाया जाता है वह स्थान), अर्थमण्डली एवं भोजनमण्डली की प्रमार्जना न करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।

• जहाँ आगमों के अर्थ का विस्तार से प्रतिपादन किया जाता है वहाँ

अनुयोग काल में स्थापनाचार्य की स्थापना न करने पर, गुरु एवं स्थापनाचार्य के लिए योग्य आसन न बिछाने पर, गुरु एवं स्थापनाचार्य को विधिपूर्वक वन्दन न करने पर तथा उनके निमित्त कायोत्सर्ग न करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

- आगाढ़ एवं अनागाढ़ सूत्रों के योगोद्वहन करते समय किसी भी आवश्यक क्रिया में सर्वथा दोष लगने पर यथासंख्या (जितनी बार दोष लगा हो उतनी बार) **षट्लघु** और **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।
- आगाढ़ एवं अनागाढ़ सूत्रों के योगोद्वहन काल में आंशिक दोष लगने पर यथासंख्या **चतुःगुरु** और **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

यहाँ सर्वथा भंग का अभिप्राय है कि आगाढ़ व अनागाढ़ सूत्रों के योगोद्वहन काल में यदि कच्ची विगय का सेवन किया जाये तो सर्वथा भंग होता है।

एक ही पात्र में विकृति कारक (घृत, दूध, दही आदि) पदार्थ एवं आयंबिल योग्य पदार्थ को ग्रहण करने पर सर्वथा भंग होता है।

आगमों के योग पूर्ण होने पर गुर्वाज्ञा लिये बिना ही विकृति ग्रहण का कायोत्सर्ग करते हैं अथवा संघट्टा ग्रहण किये बिना ही आहार करते हैं तो सर्वथा भंग होता है।

- ज्ञानोपकरण एवं ज्ञानीजनों की आशातना करने, ज्ञानी पुरुषों की निन्दा करने, उनके प्रति द्वेष करने तथा किसी को पढ़ने आदि में अन्तराय देने पर देश भंग होता है। ज्ञानाचार के इन अतिचारों में देश भंग होने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।
- पुस्तक-बही-टिप्पणक आदि ज्ञानोपकरण को नीचे गिराने पर, ज्ञान साधनों को बगल में दबाने पर, ज्ञान के उपकरणों को दुर्गन्धित हाथों से पकड़ने पर, पुस्तक आदि को थूक से भरने पर, थूक आदि से अक्षर मिटाने पर तथा पाँवों से पुस्तक आदि का स्पर्श होने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।
- अन्य मतानुसार ज्ञानाचार की आशातना होने पर जघन्य से **मासलघु**, मध्यम से **मासगुरु** तथा उत्कृष्ट से **चतुःलघु** अथवा **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।
- विशेष रूप से सूत्र की आशातना होने पर **चतुःलघु**, अर्थ की

आशातना होने पर **चतुःगुरु**, ज्ञान के प्रति विनय न करने पर तथा सूत्रोच्चारण करते समय अशुद्ध अक्षर बोलने पर या न्यूनाधिक अक्षर कहने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।

2. दर्शनाचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

संकादिसु अट्ठसु दंसणाइयारेसु देसओ चउगुरु, पुरिसाविक्खाए पुण भिक्खुवसहोवज्झायायरियाणं मासलहु-मासगुरु-चउलहु-चउगुरुगा, सव्वओ मूलं। *(विधिमार्गप्रपा, पृ. 81)*

दर्शनाचार में निम्नोक्त आठ अतिचार लगते हैं– 1. **शंका–**देव-गुरु-धर्म में सन्देह करना 2. **कांक्षा–** इहलोक-परलोक के सुख-दुःख की इच्छा करना 3. **विचिकित्सा–** धर्म फल में सन्देह करना 4. **मूढ़दृष्टि–** चारित्रनिष्ठ साधु-साध्वियों की निन्दा करना 5. **अनुपबृंहण–** गुणवान की प्रशंसा नहीं करना 6. **अस्थिरीकरण–** धर्म से पतित होते हुए जीव को स्थिर नहीं करना 7. **अवात्सल्य–** साधर्मी का अपमान करना और 8. **अप्रभावना–** जिनशासन निन्दा के कार्य करना।

- दर्शनाचार से सम्बन्धित शंका-कांक्षा-आदि आठ प्रकार के अतिचारों का सेवन होने पर जघन्य से **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।
- वैयक्तिक अपेक्षा से सामान्य श्रमण, वैयावृत्य करने वाला श्रमण, आचार्य एवं उपाध्याय के द्वारा दर्शनाचार में आंशिक दोष लगने पर क्रमशः **मासलघु, मासगुरु, चतुःलघु** एवं **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है तथा सर्वथा दोष लगने पर मूल प्रायश्चित्त आता है।

3. चारित्राचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

पुढविआउतेउवाऊपत्तेयवणस्सईणं संघट्टणे नि., अगाढपरितावणे पु., गाढपरितावणे ए., उद्दवणे आं., विगलिंदियाणंतकाइयाणं संघट्टणादिसु जहासंखं पु.ए.आं.उ.। पंचिंदियाणं पुण ए.आं.उ.। कल्लाणगाणि-इत्थ संघट्टणं तदहजायथिरोलगाईणं,[1] दप्पओ पंचिदियउद्दवणे पंचक्कल्लाणं। दप्पो धावणवग्गणाई। आउट्टियाए मूलं। बीयसंघट्टे ससिणिद्धे य नि.। उदयउल्लसंघट्टे ए.। सच्चित्ते मुहपोत्तियाए गहिए पु.। अद्दामलगमित्तसचित्तपुढवीए, अंजलिमित्तोदगे सच्चित्ते मीसे य उद्दविए आं.। मयंतरे नि.। नाभिप्पमाणउदगप्पवेसे वत्थिमाइणा कोसं जाव नदीगमणे य

आं.। दुक्कोसं जाव नावा-उड्डुवाइणा नदीगमणे आं.। कोसं जाव हरियाणं भूदगअगणिवाऊणं विगलिंदियाणं पंचिदियाणं मद्दणे कमेण उ., आं., उ., पंचकल्लाणाणि। कोसं ओसाए मीसोदगे य गमणे पु., कोसदुगे ए., जोयणे आं.। सजीवदगपाणे छट्ठं, जलूगामोयणे गाढनइ उत्तारणे य आं.। पईवफुसणयसंखाए आं.। कंबलिपावरणं विणा पईवफुसणे उ., सकंबले आं., उ., विज्जुफुसणे नि., अकंबले पु.। छप्पईहरनासणे पंचकल्लाणं। संनाकिमिपाडणे उ.। उदउल्लवत्थसंघट्टे पु.। जलणे संघट्टिए ओसक्किए य आं.। किसलयमलणे उ.। संखाईयाणं बेइंदियाणं उद्दवणे दोन्नि पंचकल्लाणाइं, उप. 20। संखाईयाणं तेइंदियाणं उद्दवणे तिन्नि पंचकल्लाणाइं, उ. 30। संखाईयाणं चउरिंदियाणं उद्दवणे चत्तारि पंचकल्लाणाइं, 40। जहन्न-मज्झिम-उक्कोसेसु मुसावाय-अदिन्नादाण-परिग्गहेसु जहासंखं ए., आं., उ.। मेहुणस्स चिंताए आं.। मेहुणपरिणामे उ.। रागे छट्ठं। नपुंसगस्स पुरिसस्स वा वयण सेवाए मूलं। अन्नोन्नं करणे पारंचियं। गब्भाहाण-गब्भसाडणेसु मूलं। सकाममेहुणसेवणे मूलं। करकम्मे अट्ठमं। बहुठाणे तम्मि पंचकल्लाणं। लेवाडदव्वोवलित्तपत्ताइपरिवासे उ.। सुंठिमाइसुक्कसंनिहिभोगे उ.। घयगुलाइअल्लसंनिहिभोगे छट्ठं। दिवागहिय-दिवाभुत्ताइ-सेसनिसिभत्ते अट्ठमं। सुक्क-अल्लसंनिहिधारणे जहासंखं पु., ए.। गयं मूलगुणपायच्छित्तं।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 81)

मूलगुण एवं पाँच महाव्रत सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय एवं प्रत्येक वनस्पतिकाय का स्पर्श होने पर **नीवि**, इन जीवों को सामान्य पीड़ा देने पर **पुरिमड्ढ**, इन्हें विशेष पीड़ा देने पर **एकासना** तथा इन्हें मारणान्तिक कष्ट देने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- विकलेन्द्रिय (बेइन्द्रिय से चउरिन्द्रिय तक) जीवों एवं अनन्तकायिक जीवों का स्पर्श करने पर यथासंख्या **पुरिमड्ढ**, सामान्य कष्ट देने पर **एकासना**, विशेष कष्ट देने पर **आयंबिल** तथा प्राणान्तक कष्ट देने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय एवं मनुष्य पंचेन्द्रिय जीवों को सामान्य वेदना देने पर

एकासना, विशेष वेदना देने पर **आयंबिल** तथा प्राणघातक वेदना देने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- उपरोक्त नौ प्रकार के जीवों को सामूहिक रूप से पीड़ा देने पर **एक कल्लाण** आदि का प्रायश्चित्त आता है।
- दर्प के वशीभूत होकर पंचेन्द्रिय जीवों को भयंकर कष्ट देने पर **पंच कल्लाण** (दस उपवास) का प्रायश्चित्त आता है।
- अहंकार या धृष्टता पूर्वक तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों जैसे– हिरण, श्वान आदि को दौड़ाने पर, विविध प्रकार के कष्ट देने पर एवं जानबूझकर अवयव आदि का छेदन करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।
- सचित्त बीज का स्पर्श होने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- सचित्त जल से आर्द्र या संस्पर्शित वस्तु का स्पर्श होने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।
- सचित्त जल से भीगी हुई मुखवस्त्रिका को ग्रहण करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- पृथ्वीकायिक जीवों एवं अप्कायिक जीवों को मारणान्तिक कष्ट देने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है तथा मतान्तर से **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- नाभि परिमाण जल में प्रवेश करने पर तथा मषक आदि के माध्यम से नदी में एक कोश पर्यन्त गमन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- नाव-जहाज आदि के द्वारा नदी में दो कोश पर्यन्त गमन करने पर भी **आयंबिल** का ही प्रायश्चित्त आता है।
- एक कोश भूमि पर्यन्त रहे हुए पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय आदि जीवों का मर्दन करने पर क्रमश: **उपवास, आयंबिल, उपवास** और **पंचकल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।
- ओस गिरते समय और मिश्रोदक (सचित्त-अचित्त रूप मिश्रित जल) गिरते समय एक कोश तक गमन करने पर **पुरिमड्ढ**, दो कोश तक गमन करने पर **एकासना** तथा एक योजन तक गमन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• सजीव मिट्टी को रौंदने या सचित्त मिट्टी युक्त जल का स्पर्श होने पर **छट्ठ** का प्रायश्चित्त आता है। जौंक नामक कीड़ा जो पानी में रहता है उसका नाश करने पर एवं अत्यन्त गहरी नदी में उतरने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• दीपक के प्रकाश का स्पर्श होने पर यथासंख्या **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• बिना कंबली ओढ़े हुए की स्थिति में दीपक के प्रकाश का स्पर्श होने पर **उपवास**, कंबली ओढ़े हुए की स्थिति में दीपक-प्रकाश का स्पर्श होने पर **आयंबिल** कंबली ओढ़े हुए की स्थिति में विद्युत् प्रकाश का स्पर्श होने पर **नीवि** तथा बिना कंबली ओढ़े हुए की स्थिति में विद्युत् प्रकाश का स्पर्श होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• भौरों के घर का नाश करने पर **पंच कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।

• पेट में उत्पन्न कृमि आदि जीवों को औषधोपचार से गिराने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• सचित्त जल से भीगे हुए वस्त्र का स्पर्श होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• अग्निकायिक जीवों (बिजली आदि) का स्पर्श होने पर एवं अग्नि को बुझाने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• नयी कोमल पत्तियों को मसलने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• संख्यात मात्रा में शंख, कौड़ी, चन्दनक आदि बेइन्द्रिय जीवों को मारणान्तिक कष्ट देने पर **दो पंचकल्लाण** = 20 उपवास आदि का प्रायश्चित्त आता है।

• संख्यात मात्रा में कीड़ों, मकोड़ों, जूं आदि तेइन्द्रिय जीवों को मारणान्तिक कष्ट देने पर **तीन पंचकल्लाण** = 30 उपवास आदि का प्रायश्चित्त आता है।

• संख्यात मात्रा में भौंरा, मच्छर, बिच्छू आदि चउरिन्द्रिय जीवों को प्राणघातक वेदना देने पर **चार पंचकल्लाण** = 40 उपवास आदि का प्रायश्चित्त आता है।

• मृषावाद, अदत्तादान और परिग्रह का सेवन करने पर यथासंख्या जघन्य से **एकासना**, मध्यम से **आयंबिल**, उत्कृष्ट से **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• मैथुन सम्बन्धी चिन्तन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• मैथुन विषयक परिणाम उत्पन्न होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• मैथुन सेवन के प्रति राग करने पर **छट्ठ** का प्रायश्चित्त आता है।

• नपुंसक अथवा पुरुष संबंधी मैथुन का वचन से अपलाप करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।

• श्रमण-नारी या श्रमण-श्रमणी के द्वारा परस्पर मैथुन क्रीड़ा करने पर **पारांचिक** प्रायश्चित्त आता है।

• मुनि के द्वारा स्त्री का गर्भाधान या गर्भपात जैसी क्रियाएँ करवाने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।

• श्रमण-नारी या श्रमण-श्रमणी द्वारा परस्पर में कामवासना से युक्त होकर मैथुन सेवन करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।

• मुनि द्वारा हस्तकर्म (हाथों के स्पर्श द्वारा विषयजन्य प्रवृत्ति) करने पर **अट्ठम** का प्रायश्चित्त आता है।

• लेपकारक द्रव्य से उपलिप्त पात्र आदि का उपभोग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• सूंठ आदि शुष्क वस्तुओं का संग्रह कर उसका भोग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• घृत-गुड़ आदि आर्द्र वस्तुओं का संग्रह कर उसका परिभोग करने पर **छट्ठ** का प्रायश्चित्त आता है।

• दिवसगृहीत आहार को दिन में भोगकर, अवशिष्ट आहार का रात्रि में सेवन करने पर **अट्ठम** का प्रायश्चित्त आता है।

उत्तरगुण (आहार चर्या) सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

आहाकम्मिए कम्मुद्देसियचरिमभेयतिगे मिस्सजायअंतिमभेयदुगे बायरपाहुडियाए सपच्चवायपरगामाभिहडे लोभपिण्डे अणंतकाय-अणंतरनिक्खित्त-पिहिय-साहरिय-उम्मीसापरिणयछड्डिएसु गलंतकुट्ठ-पाउयारूढदायगेसु गुरुअचित्तपिहिए संजोयणा-इंगालेसु वट्टमाणाणागय-

निमित्ते य उ.। कम्मोद्देसियआइमभेए मीसजायपढमभेदे धाईपिण्डे दूईपिण्डे अईयनिमित्ते आजीवणापिण्डे वणीमगपिण्डे बादरचिगिच्छाए कोहमाणपिण्डेसु संबंधिसंथवकरणे विज्जामन्तचुण्णजोगपिण्डेसु पयासकरणे दुविहे दव्वकीए आयभावकीए लोइय-पामिच्चपरियट्टिए निपच्चवायपरग्गामाभिहडे पिहिओब्भिन्ने कवाडोब्भिन्ने उक्किट्ठमालोहडे अच्छिज्जाणिसिट्ठेसु पुरोकम्म-पच्छाकम्मेसु गरहियमक्खिए संसत्तमक्खिए पत्तेयअणंतरनिक्खित्तपिहियसाहरिय-उम्मीसापरिणयछड्डिएसु बालवुड्ढाइ-दायगदुट्ठे पमाणोल्लंघणे सधूमे अकारणभोयणे य आं.। अब्भवपूरगअंतिमभेयदुगे कडभेयचउक्के भत्तपाणपूईए मायापिंडे अणंतकायपरंपरनिक्खित्तपिहियाइसु मीस-अणंतअणंतरनिक्खित्ताइसु य ए.। ओहोद्देसिए उद्दिट्ठभेयचउक्के उवगरणपूईए चिरट्ठविए पायडकरणे लोगोत्तर परियट्टियपामिच्चे परभावकीए सग्गामाभिहडे दद्दरोब्भिन्ने जहन्नमालोहडे पढमब्भवपूरगे सुहुमचिगिच्छाए गुणसंथवकरणे मीसकद्दमेण लवणसेडियाइणा य मक्खिए पिट्ठाइमक्खिए कत्तगलोढगविरोलगपिं-जगदायगेसु पत्तेयपरंपर–ट्ठवियाइसु मीसाणंतरट्ठवियाइसु य पु.। इत्तरट्ठविए सुहुमपाहुडियाए ससिणिद्धे ससरक्खमक्खिए मीसपरंपरठवियाइसु पत्तेयाणंतबीयट्ठवियाइसु य नि.। मूलकम्मे मूलं।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 81-82)

जैन आगमों के अनुसार भिक्षा प्राप्ति के निमित्त कुल 42 दोषों और आहार करते वक्त 5 दोषों के लगने की संभावना रहती है। उन 47 दोषों का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है–

- निम्न 16 दोष गृहस्थ के द्वारा संभावित होते हैं–

आहाकम्मुद्देसिय, पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए, पाओयर-कीअ-पामिच्चे।।
परियट्टिए अभिहडे, उब्भिण्णे मालोहडे त्ति य।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे, अज्झोयरए य सोलसमे।।

(पिण्डनिर्युक्ति 92/93)

1. आधाकर्म– साधु को आधार मानकर बनाया गया भोजन दान करना आधाकर्म दोष है।

2. औद्देशिक- साधु को भिक्षा देने के उद्देश्य से बनाया गया आहार प्रदान करना औद्देशिक दोष है।
3. पूतिकर्म- शुद्ध आहार में अशुद्ध आहार मिश्रित कर देना, पूतिकर्म दोष है।
4. मिश्रजात- गृहस्थ और साधु दोनों के उद्देश्य से बनाया गया भोजन आदि साधु को देना मिश्रजात दोष है।
5. स्थापना- साधु को देने के लिए पृथक् रखे हुए आहार का दान करना स्थापना दोष है।
6. प्राभृतिका- मुनियों के आगमन के कारण पूर्व निर्धारित समय से पहले भोज आदि का आयोजन कर साधु को भिक्षा देना, प्राभृतिका दोष है।
7. प्रादुष्करण- अंधकार युक्त स्थान को प्रकाशित करके अथवा अन्धकार से प्रकाश में लाकर आहार देना, प्रादुष्करण दोष है।
8. क्रीत- साधु के लिए खरीदकर भिक्षा देना, क्रीत दोष है।
9. प्रामित्य- साधु के लिए किसी से उधार लेकर आहार आदि देना, प्रामित्य दोष है।
10. परावर्तित- वस्तुओं की अदला-बदली करके साधु को भिक्षा देना, परावर्तित दोष है।
11. अभिहृत- साधु के लिए अन्य स्थान से आहार आदि लाकर देना, अभ्याहृत दोष है।
12. उद्भिन्न- साधु के निमित्त ढके हुए या लाख आदि से मुद्रित पात्र को खोलकर घी, शक्कर आदि देना, उद्भिन्न दोष है।
13. मालापहृत- साधु के निमित्त छींके आदि से, ऊपरी मंजिल से अथवा भूमिगत कमरे से आहार लाकर देना, मालापहृत दोष है।
14. आच्छेद्य- किसी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना बलात छीनकर देना, आच्छेद्य दोष है।
15. अनिसृष्ट- अनेक लोगों के अधिकार वाली वस्तु को उनकी आज्ञा के बिना देना, अनिसृष्ट दोष है।
16. अध्यवपूरक- गृहस्थ के अपने लिए पकाये जा रहे भोजन में साधु के लिए और अधिक डालकर बनाया गया भोजन देना, अध्यवपूरक दोष है।

- निम्न 16 दोष मुनि के द्वारा संभावित होते हैं-

धाई दूई निमित्ते, आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया, लोभे य हवंति दस एए।।
पुव्वि पच्छा संथव, विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाए दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य।।

(पिण्डनिर्युक्ति 408/409)

1. धात्री-पंचविध धाय माताओं की तरह बालक को खिलाकर आहार प्राप्त करना, धात्री दोष है।
2. दूती-एक गृहस्थ के संदेश को दूसरे गृहस्थ तक संप्रेषित करके भिक्षा प्राप्त करना, दूती दोष है।
3. निमित्त-भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सुख-दुःख आदि बताकर भिक्षा प्राप्त करना, निमित्त दोष है।
4. आजीव-अपनी जाति, कुल, गण आदि का परिचय देकर भिक्षा प्राप्त करना, आजीवक दोष है।
5. वनीपक-स्वयं को श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, अतिथि और श्वान आदि का भक्त बताकर या उनकी प्रशंसा करके आहार की याचना करना, वनीपक दोष है।
6. चिकित्सा-वैद्य की भाँति चिकित्सा बताकर भिक्षा लेना, चिकित्सा दोष है।
7. क्रोधपिण्ड-अपनी विद्या और तप का प्रभाव या शारीरिक बल दिखाकर आहार प्राप्त करना, क्रोधपिण्ड दोष है।
8. मानपिण्ड-अपने विषय में लब्धि और प्रशंसात्मक शब्दों को सुनकर गर्व से भिक्षा की एषणा करना, मानपिण्ड है।
9. मायापिण्ड-वेश परिवर्तन आदि द्वारा गृहस्थ को धोखा देकर आहार लेना, मायापिण्ड है।
10. लोभपिण्ड-आसक्ति पूर्वक किसी वस्तु विशेष की येन केन प्रकारेण गवेषणा करना अथवा उत्तम पदार्थ को अतिमात्रा में ग्रहण करना, लोभ पिण्ड है।

11. पूर्व-पश्चात् संस्तव–आहार देने के पहले और बाद में दाता की प्रशंसा करना, पूर्वपश्चात संस्तव दोष है।
12. विद्यापिण्ड–विद्या का प्रदर्शन करके भिक्षा प्राप्त करना, विद्यापिण्ड दोष है।
13. मन्त्रपिण्ड–मन्त्र प्रयोग आदि से चमत्कार दिखाकर आहार प्राप्त करना, मन्त्रपिण्ड दोष है।
14. चूर्णपिण्ड–अंजन आदि के प्रयोग से अदृश्य होकर भिक्षा प्राप्त करना अथवा चूर्ण के द्वारा वश करके भिक्षा लेना, चूर्ण पिण्ड दोष है।
15. योगपिण्ड–पादलेप आदि के प्रयोग द्वारा पानी पर चलकर अथवा आकाश गमन करके भिक्षा प्राप्त करना, योगपिण्ड दोष है।
16. मूलकर्म–सौभाग्य के लिए स्नान, रक्षाबंधन, गर्भाधान, गर्भपरिशाटन आदि मूलकर्म करके भिक्षा ग्रहण करना, मूलकर्म दोष है।

- निम्न 10 दोष गृहस्थ एवं मुनि दोनों के द्वारा लगते हैं–

संकिय मक्खिय णिक्खित्त, पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छड्डिय, एसणदोसा दस हवंति।।

(पिण्डनिर्युक्ति-520)

1. शंकित–आधाकर्म आदि दोष की संभावना होने पर भी भिक्षा ग्रहण करना, शंकित दोष है।
2. म्रक्षित–सचित्त आदि पदार्थों से लिप्त हाथ या चम्मच आदि के द्वारा भिक्षा ग्रहण करना, म्रक्षित दोष है।
3. निक्षिप्त–सचित्त पृथ्वी आदि पर रखी हुई भिक्षा ग्रहण करना, निक्षिप्त दोष है।
4. पिहित–सचित्त फल या पृथ्वी आदि से ढका हुआ खाद्य पदार्थ ग्रहण करना, पिहित दोष है।
5. संहृत–जिस पात्र से भिक्षा दी जा रही हो, उसमें यदि कोई अदेय अशन आदि हो तो उसे अन्यत्र डालकर भिक्षा देना, संहृत दोष है।
6. दायक–जो भिक्षा देने के अयोग्य कहे गये हैं, उनके हाथ से भिक्षा ग्रहण करना, दायकदोष है।
7. उन्मिश्र–सचित्त बीज आदि से मिश्रित भिक्षा ग्रहण करना उन्मिश्र दोष है।

8. अपरिणत–जो वस्तु पूर्णतः अचित्त न हुई हो अथवा जिसको देने का दाता का मन न हो उसे लेना, अपरिणत दोष है।
9. लिप्त–अखाद्य वस्तु से सम्पृक्त अथवा दूध, दही आदि लेपकृत् द्रव्य लेना, लिप्त दोष है।
10. छर्दित–नीचे गिराते हुए दी जाने वाली भिक्षा ग्रहण करना छर्दित दोष है।

- निम्न पाँच दोष साधु-साध्वियों के द्वारा भोजन मंडली में लगते हैं।

संजोयणमइबहुयं, इंगाल सधूमगं अणट्ठाए।
पंचविधा अपसत्था, तव्विवरीता पसत्था उ।।

(पिण्डनिर्युक्ति-303/1)

1. संयोजना–स्वाद बढ़ाने हेतु प्रासुक खाद्य पदार्थ में अन्य खाद्य वस्तु का संयोग करना, संयोजना दोष है।
2. प्रमाण–आसक्ति वश तीन बार से अधिक एवं अति मात्रा में आहार करना, प्रमाणातिरेक दोष है।
3. स-अंगार–आसक्ति वश एषणीय आहार-पानी की प्रशंसा करते हुए उसे ग्रहण करना, अंगार दोष है।
4. स-धूम–नीरस या अप्रिय आहार की निन्दा करते हुए उसे ग्रहण करना, धूम दोष है।
5. कारण–क्षुधा आदि छह कारणों के बिना आहार करना, कारण दोष है।

आहार सम्बन्धी 47 दोषों की सामान्य प्रायश्चित्त विधि

आधाकर्म (उद्गम दोष) सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर, औद्देशिक (उद्गम दोष) के अंतिम तीन भेद-समुद्देश, आदेश एवं समादेश सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर, मिश्रजात (उद्गम दोष) के अन्तिम दो भेद-साधु और पाखण्डी सम्बन्धी आहार स्वीकार करने पर, बादर प्राभृतिका (उद्गम दोष) सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर, सप्रत्यवाद परग्राम अभिहृत सम्बन्धी, लोभपिण्ड (उत्पादना दोष) सम्बन्धी, निक्षिप्त-पिहित-संहृत-उन्मिश्र-अपरिणत एवं छर्दित एषणा सम्बन्धी अनन्त कायिक आहार में अनन्तर से दोष लगने पर, कुष्ठ रोगी, पाँव में खड़ाऊँ धारण किए हुए, जूता या पगरखी धारण किए हुए दायकों द्वारा आहारादि ग्रहण करने पर, अचित्त पिहित सम्बन्धी दोष लगने पर, संयोजना एवं इंगाल (ग्रासैषणा) सम्बन्धी दोष लगने पर तथा वर्तमान एवं

अनागत निमित्त सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• कर्मोद्देशिक का आदिम भेद उद्देश सम्बन्धी, मिश्रजात का प्रथम भेद यावदर्थिक सम्बन्धी, धात्रीपिण्ड-दूतीपिण्ड सम्बन्धी, अतीत निमित्त सम्बन्धी, आजीवकपिण्ड सम्बन्धी, वनीपकपिण्ड सम्बन्धी, बादर चिकित्सा सम्बन्धी, क्रोधपिण्ड सम्बन्धी, मानपिण्ड सम्बन्धी, सम्बन्धीसंस्तव करण सम्बन्धी, विद्यापिण्ड-मन्त्रपिण्ड-चूर्णपिण्ड-योगपिण्ड सम्बन्धी, प्रयास प्रादुष्करण सम्बन्धी, दो प्रकार के द्रव्यक्रीत और आत्म भावक्रीत सम्बन्धी, लौकिक प्रामित्य सम्बन्धी, लौकिक परिवर्तित सम्बन्धी, निप्रत्यवाद परग्राम अभिहृत् सम्बन्धी, पिहित उद्भिन्न-कपाट उद्भिन्न सम्बन्धी, उत्कृष्ट मालापहृत सम्बन्धी, आच्छेद्य सम्बन्धी, अनिसृष्ट सम्बन्धी, पुरःकर्म और पश्चात् कर्म सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर, गर्हित म्रक्षिप्त एवं संसिक्त म्रक्षिप्त सम्बन्धी, निक्षिप्त-पिहित-संहृत-उन्मिश्र-अपरिणत एवं छर्दित एषणा सम्बन्धी आहार में प्रत्येक वनस्पति का अनन्तर से दोष लगने पर, बाल-वृद्ध-दुष्ट आदि दायकों से आहार आदि ग्रहण करने पर, प्रमाणोपेत आहार का उल्लंघन करने पर, आहार अथवा दाता की निन्दा करते हुए भोजन करने पर तथा अकारण भोजन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• अध्यवपूरक के अन्तिम दो भेद– साधु एवं पाखंडीमिश्र सम्बन्धी, कृत औद्देशिक के चार भेद– उद्देश-समुद्देश-आदेश एवं समादेश सम्बन्धी, भक्तपान पूतिकर्म सम्बन्धी, मायापिण्ड सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर, निक्षिप्त-पिहित-संहृत उन्मिश्र अपरिणत एवं छर्दित दोष सम्बन्धी आहार में मिश्र अनन्तकाय वस्तु का अनन्तर से दोष लगने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• ओघ औद्देशिक सम्बन्धी, उद्दिष्ट के चार भेद– उद्देस, समुद्देस, आदेश, समादेश सम्बन्धी, उपकरण पूतिकर्म सम्बन्धी, चिरस्थापना सम्बन्धी, प्रकटीकरण प्रादुष्करण सम्बन्धी, लोकोत्तर परिवर्तित सम्बन्धी, लोकोत्तर प्रामित्य सम्बन्धी, परभावक्रीत सम्बन्धी, स्वग्राम अभिहृत सम्बन्धी, दर्दुर उद्भिन्न सम्बन्धी, जघन्य मालापहृत सम्बन्धी, यावदर्थिक अध्यवपूरक सम्बन्धी, सूक्ष्मचिकित्सा सम्बन्धी, गुणसंस्तवकरण सम्बन्धी, कीचड़-सचित्त नमक-सचित्त खड़ी मिट्टी-सफेद मिट्टी युक्त पृथ्वीकाय म्रक्षिप्त सम्बन्धी, स्पृष्ट-कक्कुस

आदि प्रत्येक वनस्पतिकाय प्रक्षिप्त सम्बन्धी दोष लगने पर, सूत कात रही, धान्य आदि पीस रही, रूई पींज रही, मक्खन आदि का विलोडन कर रही दात्री के द्वारा आहार ग्रहण करने पर, निक्षिप्त-पिहित-संहृत-उन्मिश्र-अपरिणत-छर्दित सम्बन्धी आहार में प्रत्येक वनस्पतिकाय का परंपरा से दोष लगने पर तथा निक्षिप्त से लेकर छर्दित सम्बन्धी आहार में मिश्र प्रत्येक वनस्पतिकाय का अनन्तर से दोष लगने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

अचिर स्थापना सम्बन्धी, सूक्ष्म प्राभृतिका सम्बन्धी, सस्निग्ध अप्काय प्रक्षिप्त सम्बन्धी, सरजस्क पृथ्वीकाय प्रक्षिप्त सम्बन्धी, निक्षिप्त-पिहित-संहृत-उन्मिश्र-अपरिणत-छर्दित सम्बन्धी आहार में मिश्र वनस्पतिकाय एवं अनन्तकाय दोनों का दोष लगने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है। मूलकर्म सम्बन्धी दोष लगने पर **मूल** का प्रायश्चित्त आता है।

आहार सम्बन्धी 47 दोषों की विस्तृत प्रायश्चित्त विधि–

कयपवयणप्पणामो, सत्तालीसाइं पिण्डदोसाणं।
वोच्छं पायच्छित्तं, कमेण जीयाणुसारेणं।।1।।
पणगं तह मासलहुं, मासगुरुं चउलहुं च चउगुरुयं।
सण्णाओ नि.पु.ए.आ.उ., जोगओ जाण कल्लाणं।।2।।
सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणाइ दोसाओ।
दस एसणाइ दोसा, संजोयणमाइ पंचेव।।3।।
आहाकम्मे चउगुरु, दुविहं उद्देसियं वियाणाहि।
ओहविभागेहिं तहिं, मासलहू ओहनिद्देसो।।4।।
बारसविहं विभागे, चहु उद्दिट्ठं कडं च कम्मं च।
उद्देस-समुद्देसा, देससमा देसभेएणं।।5।।
चउभेए उद्दिट्ठे, लहुमासो अह चउव्विहंमि कडे।
गुरुमासो चउलहुयं, कम्मुद्देसे य नायव्वं।।6।।
कम्मसमुद्देसाइसु तिसु, चउगुरुयं भणंति समयण्णू।
दुविहं तु पूइकम्मं, उवगरणे भत्तपाणे वा।।7।।
उवगरणपूइमासलहु, मासगुरु भत्तपाणपूइम्मि।
जावंतिय-जइ-पासंडि-मीसजायं भवे तिविहं।।8।।
जावंतिमीस चउलहु, चउगुरु पासंडि-सपरमीसंमि।
चिर-इत्तरभेएणं, निद्दिट्ठा ठावणा दुविहा।।9।।

चिरठविए लहुमासो, इत्तरठवियंमि देसियं पणगं।
पाहुडिया विहु दुविहा, बायर-सुहुमप्पयारेहिं ।।10।।
बायरपाहुडियाए, चउगुरु सुहुमाइ पावए पणगं।
पागड-पयासकरणं ति, बिंति पाओयरं दुविहं ।।11।।
मासलहु पयडकरणे, पगासकरणे य चउलहुं लहइ।
अप्प-पर-दव्व-भांवेहिं, चउव्विहं कीयमाहंसु ।।12।।
अप्पपरदव्वकीए, सभावकीए य होइ चउलहुयं।
परभावक्कीए पुण, मासलहुं पावए समणो ।।13।।
अह लोउत्तर-लोइयभेएणं, दुविहमाहु पामिच्चं।
लोउत्तरि मासलहू, चउलहुयं लोइए हवइ ।।14।।
परियट्टियं पि दुविहं, लोउत्तर-लोइयप्पयारेहिं।
लोउत्तरि मासलहू, चउलहुयं लोइए होइ ।।15।।
अभिहडमुत्तुं दुविहं, सगाम-परगामभयेओ तत्थ।
चरमं सपच्चावायं, अपच्चवायं च इय दुविहं ।।16।।
सप्पच्चवायपरगामआहडे चउगुरुं लहइ साहू।
निपच्चवायपरगामआहडे चउलहुं जाण ।।17।।
मासलहू सग्गामाहडंमि, तिविहं च होइ उब्भिन्नं।
जउ-छगणाइविलित्तु, भिन्नं तह दद्दरुब्भिन्नं ।।18।।
तह य कवाडुब्भिन्नं, लहुमासो तत्थ दद्दरुब्भिन्ने।
चउलहुयं सेसदुगे, तिविहं मालोहडं तु भवे ।।19।।
उक्किट्ठ-मज्झिम-जहण्ण, भेयओ तत्थ चउलहुक्किट्ठे।
लहुमासो य जहन्ने, गुरुमासो मज्झिमे जाण ।।20।।
सामि-प्पहु-तेणकए, तिविहे विहु चउलहुं तु अच्छिज्जे।
साहारण-चोल्लग-जहुभेयओ तिविहमणिसिट्ठं।।21।।
तिविहे वि तत्थ चउलहु, तत्तो अज्झोयरं वियणाहि।
जावंतिय-जइ-पासंडि, मीसभेएण तिविकप्पं ।।22।।
मासलहु पढमभेए, मासगुरुं जाण चरमभेयदुगे।
इय उग्गमदोसाणं, पायच्छित्तं मए वुत्तं ।।23।।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 82-83)

(जीतकल्प भाष्य, 1195-1285)

सोलह उद्गम दोषों के प्रायश्चित्त

1-2. आधाकर्म और औद्देशिक– आचार्य जिनप्रभसूरि के उल्लेखानुसार एवं जीतसूत्र के मतानुसार आधाकर्म दोष सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है। औद्देशिक दोष के दोनों प्रकारों में ओघ औद्देशिक सम्बन्धी दोष लगने पर **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।4।।

विभाग औद्देशिक तीन प्रकार का कहा गया है–1. उद्दिष्ट 2. कृत और 3. कर्म।

इन प्रत्येक के उद्देश-समुद्देश-आदेश और समादेश ये चार-चार भेद होने से बारह प्रकार होते हैं।।5।।

उद्दिष्ट विभाग के उद्देश-समुद्देश-आदेश-समादेश इन चारों भेद सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु**, कृत विभाग औद्देशिक के चार प्रकार सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासगुरु** तथा कर्म विभाग औद्देशिक का प्रथम भेद उद्देश सम्बन्धी दोष लगने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।6।।

कर्म विभाग औद्देशिक के शेष तीन भेद समुद्देश आदि सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है, ऐसा तीर्थंकर पुरुषों ने कहा है।।7।।

3. **पूतिकर्म**–तीसरा पूतिकर्म दोष उपकरण और भक्तपान सम्बन्धी दो प्रकार का होता है।

उपकरण पूतिकर्म सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** तथा भक्तपान पूतिकर्म सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।।7-8।।

4. **मिश्रजात**–चौथा मिश्रजात दोष यावदर्थिक, साधु और पाखण्डी के भेद से तीन प्रकार का है।

यावदर्थिक मिश्रजात सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** तथा पाखण्डी एवं स्व-पर साधु मिश्रजात सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।।8-9।।

5. **स्थापना**–पांचवाँ स्थापना दोष चिर और अचिर के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट है। चिर स्थापना सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मास लघु** तथा अचिर स्थापना सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।।9-10।।

6. **प्राभृतिका**–छठा प्राभृतिका दोष बादर और सूक्ष्म द्विविध जानना चाहिए। बादर प्राभृतिका सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** तथा सूक्ष्म प्राभृतिका सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।।10-11।।

7. **प्रादुष्करण**–सातवाँ प्रादुष्करण दोष प्रकटकरण और प्रयासकरण के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। प्रकटकरण प्रादुष्करण सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** तथा प्रकाशकरण प्रादुष्करण सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** (आयम्बिल) का प्रायश्चित्त आता है।।11-12।।

8. **क्रीत**–आठवाँ क्रीत नामक दोष आत्मक्रीत-परक्रीत, द्रव्यक्रीत-भावक्रीत के द्वारा चार प्रकार का कहा गया है। द्रव्यआत्मक्रीत, द्रव्यपरक्रीत एवं आत्मभावक्रीत सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** तथा परभावक्रीत सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।12-13।।

9. **प्रामित्य**–नौवां प्रामित्य नामक दोष लोकोत्तर और लौकिक भेद से दो प्रकार का है। लोकोत्तर प्रामित्य सम्बन्धी आहार लेने पर **मासलघु** तथा लौकिक प्रामित्य सम्बन्धी आहार लेने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।14।।

10. **परिवर्तित**–दसवाँ परिवर्तित नामक दोष भी लोकोत्तर और लौकिक भेद से दो प्रकार का है। लोकोत्तर परिवर्तित सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** तथा लौकिक परिवर्तित सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।15।।

11. **अभ्याहृत**–ग्यारहवाँ अभ्याहृत दोष स्वग्राम और परग्राम के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। परग्राम अभ्याहृत दोष भी 1. सप्रत्यवाद स्वदेश परग्राम और 2. अप्रत्यवाद परदेश परग्राम ऐसे दो प्रकार का बताया गया है।

सप्रत्यवाद परग्राम अभ्याहृत सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु**, अप्रत्यवाद परग्राम अभ्याहृत सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** तथा स्वग्राम अभ्याहृत सम्बन्धी दोष में **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।16-18।।

12. **उद्भिन्न**–बारहवाँ उद्भिन्न दोष तीन प्रकार से सम्भावित होता है–1. पिहित उद्भिन्न 2. दर्दर उद्भिन्न और 3. कपाट उद्भिन्न। इनमें दर्दर उद्भिन्न सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** तथा पिहित उद्भिन्न एवं कपाट उद्भिन्न सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर चतुःलघु का प्रायश्चित्त आता है।।18-19।।

13. **मालापहृत**–तेरहवाँ मालापहृत नामक दोष उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य

के भेद से तीन प्रकार का उपदिष्ट है। उत्कृष्ट मालापहृत सम्बन्धी दोष में **चतुःलघु**, जघन्य मालापहृत सम्बन्धी आहार लेने पर **मासलघु** तथा मध्यम मालापहृत सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।।19-20।।

14-15 आच्छेद्य-अनिसृष्ट– चौदहवाँ आच्छेद्य नामक दोष तीन प्रकार माना गया है–1. स्वामी विषयक 2. प्रभु विषयक और 3. स्तेन विषयक। उक्त तीनों प्रकार सम्बन्धी आच्छेद्य आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

पन्द्रहवाँ अनिसृष्ट नामक दोष–1. साधारण 2. चोल्लक और 3. जड्डु के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। पूर्वोक्त तीनों प्रकारों सम्बन्धी अनिसृष्ट आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।21-22।।

16. **अध्यवपूरक**–सोलहवाँ अध्यवपूरक नामक उद्गम दोष तीन प्रकार से शक्य होता है–1. यावदर्थिक 2. साधु और 3. पाखण्डी मिश्र। यावदर्थिक अध्यवपूरक सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** तथा साधु एवं पाखण्डी मिश्र सम्बन्धी अध्यवपूरक आहार ग्रहण करने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त जानना चाहिए।।22।।

सोलह उत्पादना दोषों के प्रायश्चित्त

धाईउ पंचखीराइ, भेयओ चउलहुं तु तप्पिंडे।
चउलहु दूईपिण्डे, सगाम-परगामभिन्नंमि।।24।।
तिविहं निमित्तपिंडं, तिकालभेएण तत्थ तीयंमि।
चउलहु अह चउगुरुयं, अणागए वट्टमाणे य।।25।।
जाइ-कुल-सिप्प-गण-कम्मभेयओ, पंचहा विणिदिट्ठो।
आजीवणाइपिण्डो, पच्छित्तं तत्थ चउलहुया।।26।।
चउलहु वणीमगपिण्डे, तिगिच्छपिण्डं दुहा भणन्ति जिणा।
बायर-सुहुमं च तहा, चउलहु बायरचिगिच्छाए।।27।।
सुहुमाए मासलहू, चउलहुया कोह-माणपिण्डेसु।
मायाए मासगुरु, चउगुरु तह लोभपिंडंमि।।28।।
पुव्विं-पच्छासंथवमाहु, दुहा पढममित्थ गुणथुणणे।
मासलहु तत्थ बीयं, संबंधे तत्थ चउलहुयं।।29।।

विज्जा मंते चुण्णे जोगे, चउसु वि लहेइ चउलहुयं।
मूलं च मूलकम्मे, उप्पायणदोसपच्छित्तं ।।30।।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 83)
(जीतकल्प भाष्य, 1324-1468)

1. **धात्री**–पहला धात्री नामक उत्पादना दोष खीर आदि के भेद से पाँच प्रकार का कहा गया है। इन पाँचों प्रकारों में से किसी तरह का आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।23।।

2. **दूती**–दूसरा दूतीपिण्ड नामक उत्पादना दोष स्वग्राम भिन्न और परग्राम भिन्न दो प्रकार का है। इन दोनों प्रकार के आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।24।।

3. **निमित्त**–तीसरा निमित्त दोष तीन काल के भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों भेदों में भूतकाल निमित्त सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** तथा वर्तमानकाल एवं भविष्यकाल निमित्त सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।।25।।

4. **आजीवक**–चौथा आजीवक नामक दोष जाति-कुल-शिष्य-गण एवं कर्म के भेद से पाँच प्रकार का निर्दिष्ट है। इन पाँचों भेद सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।26।।

5. **वनीपक**–पाँचवें वनीपक सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।27।।

6. **चिकित्सा**–छठवें चिकित्सा नामक पिण्डदोष के दो प्रकार हैं–1. बादर और 2. सूक्ष्म। बादर चिकित्सा सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है तथा सूक्ष्मचिकित्सा सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** प्रायश्चित्त आता है।।27-28।।

7-10. **क्रोधादि**–सातवाँ क्रोधपिण्ड एवं आठवाँ मानपिण्ड सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु**, मायापिण्ड सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासगुरु** तथा लोभपिण्ड सम्बन्धी आहार ग्रहण करने **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।।28।।

11. **पूर्व-पश्चात्संस्तव**–ग्यारहवाँ पूर्व-पश्चात्संस्तव दोष दो प्रकार से लगता है–1. गुण संस्तव और 2. सम्बन्धी संस्तव। गुणसंस्तव सम्बन्धी आहार

ग्रहण करने पर **मासलघु** और सम्बन्धीसंस्तव युक्त आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।29।।

12-15 **विद्यादि**–बारहवाँ विद्यापिण्ड, तेरहवाँ मन्त्रपिण्ड, चौदहवाँ चूर्णपिण्ड और पन्द्रहवाँ योगपिण्ड इन चारों पिण्ड सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।30।।

16. **मूलकर्म**–मूलकर्म सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।।30।।

दस एषणा सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

संकियदोससमाणं, आवज्जइ संकियंमि पच्छित्तं।
दुविहं मक्खियमुत्तं, सच्चित्ताचित्तभेएणं।।31।।
भूदगवणमक्खियमिइ, तिविहं सच्चित्तमक्खियं बिंति।
पुढवीमक्खियमित्थं, चउव्विहं बिंति गीयत्था।।32।।
ससरक्खमक्खियं तह, सेडिय-ओसाइमक्खियं चेव।
निम्मीस-मीसकद्दममक्खियमिइ पुढविमक्खियं चउहा।।33।।
तत्थ कमेणं पणगं, लहुमासो चउलहू य मासलहू।
दगमक्खियं पि चउहा, पच्छाकम्मं पुरोकम्मं।।34।।
ससिणिद्धं उदउल्लं, चउलहु चउलहु य पणग लहुमासा।
वणमक्खियं तु दुविहं, पत्तेयाणंतभेएणं।।35।।
उक्कुट्ठ-पिट्ठ-कुक्कुसभेया, पत्तेयमक्खियं तिविहं।
तिविहे विहु लहुमासो, गुरुमासोऽणंतमक्खियए।।36।।
गरहियइयरेहिं, अचित्तमक्खियं दुविहमाहु साहुवरा।
गरहियअचित्तमक्खिय, दोसेणं लहइ चउलहुयं।।37।।
अगरिहसंसत्तअचित्तमक्खियंमि वि लहेइ चउलहुयं।
निक्खित्तं पुढवाइसु, अणंतर-परंपरं ति दुहा।।38।।
ठविए सच्चित्तभू-दग-सिहि-पवण-परित्तवणस्सइ-तसेसु।
चउलहुय-मासलहुया, अणंतर-परंपरेसु कमा।।39।।
अइरपरंपठविए, मीसेसु य तेसु मासलहु-पणगा।
अइरपरंपरठविए, पणगं पत्तेयणंतबीएसु।।40।।

सच्चित्तणंतकाए, अणंतर-परंपरेण निक्खित्ते।
चउगुरु मासगुरु कमा, मीसे गुरुमास पणगाइं ।।41।।
तह गुरुअचित्तपिहियं, सचित्तपिहियं च मीसपिहियं च।
पिहियं तिहा अभिहियं, चउगुरुयमचित्तगुरुपिहिए ।।42।।
पिहिए सचित्तभू-दग-सिहि-पवण-परित्तवणसइ-तसेहिं।
चउलहुय-मासलहुया, अणंतर-परंपरेहिं कमा ।।43।।
अइरपरंपरपिहिए, मीसेहिं य तेहिं मासलहु पणगा।
अइरपरंपरपिहिए, पणगं पत्तेयणंतबीएहिं ।।44।।
सच्चित्तअणंतेणं, अणंतरपरंपरेण पिहियंमि।
चउगुरु-मासगुरु कमा, मीसेणं मासगुरु पणगा ।।45।।
साहरिए सजियभू-दग-सिहि-पवण-परित्तवणसइ-तसेसु।
चउलहुय-मासलहुया अणंतर-परंपरेण कमा ।।46।।
अइतिरोसाहरिए मीसेसु, उ तेसु मासलहु पणगा।
अइरतिरोसाहरिए पणगं, पत्तेयणंतबीएसु ।।47।।
सच्चित्तअणंतेसुं, अणंतर-परंपरेण साहरिए।
चउगुरु मासगुरु कमा, मीसेसुं मासगुरु पणगा ।।48।।
चउगुरु अचित्तगुरु साहरिए, अह दायग त्ति थेराई।
थेर-पहु-पंड-वेविर-जरियंधव्वत्त-मत्त-उम्मत्ते ।।49।।
छिन्नकरचरणगुव्विणि, नियलंदुय बद्ध बालवच्छाए।
खंडइ पीसइ भुंजइ जिमइ, विरेलइ दलइ सजियं ।।50।।
ठवइ बलिं ओयत्तइ, पिढराइ तिहा सपच्चवाया जा।
साहारणचोरियगं, देइ परक्कं परट्ठं वा ।।51।।
दिंतेसु एसु चउलहु, चउगुरु पगलंतपाउयारूढे।
कत्तइ लोढइ पिंजइ, विक्खिणइ पमद्दए य मासलहू ।।52।।
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा णिक्खिवित्तु ते चेव।
घट्टंती गाहंती, आरंभंतीइ सट्ठाणं ।।53।।
भू-जल-सिहि-पवण-परित्त, घट्टणागाढगाढपरियावे।
उद्दवणे वि य कमसो पणगं, लहु-गुरुयमास-चउलहुया ।।54।।

लहुमासाई चउगुरु, अंतं विगलेसु तह अणंतवणे।
पंचिंदिएसु गुरुमासाइ, जाव कल्लाणगं एगं।।55।।
एगाइ दसंतेसुं, एगाइ दसंतयं सपच्छित्तं।
तेण परं दसगं चिय, बहुएसु वि सगल-विगलेसु।।56।।
पुढवाइ जिउम्मीसे, चउलहु पणगं च बीयउम्मीसे।
मिस्सपुढवाइ मीसे, मासलहुं पावए साहू।।57।।
चउगुरु सच्चित्तअणंतमीसिए मिस्सणंतओम्मीसे।
मासगुरु दुविहं पुण, अपरिणयं दव्व-भावेहिं।।58।।
ओहेण दव्वभावापरिणयभेएसु, दुसु वि चउ लहुयं।
दव्वापरिणमिए पुण, जं नाणत्तं तयं सुणह।।59।।
अपरिणयंमि छकाए, चउलहु पणगं च बीयअपरिणए।
मीसछक्काया परिणय, दोसे लहुमासमाहंसु।।60।।
सच्चित्तणंतकाए, अपरिणए चउगुरु मुणेयव्वं।
मीसाणंत अपरिणए, गुरुमासो भासिओ गुरुणा।।61।।
चउलहुयं लहइ मुणी लित्ते, दहिमाइ लित्तकरमत्ते।
छड्डियमिह पुढवाइसु, अणंतर-परंपरं ति दुहा।।62।।
छड्डियसचित्तभू-दग-सिहि-पवण-परित्तवणसइ-तसेसु।
चउलहुय-मासलहुया, अणंतर-परंपरेसु कमा।।63।।
अइर-तिरोछड्डियए, मीसेसु य तेसु मासलहु पणगा।
अइर-तिरोछड्डियए पणगं, पत्तेयणंतबीएसु।।64।।
सच्चित्तणंतकाए, अणंतर-परंपरेण छड्डियए।
चउगुरु-मासगुरु कमा, मीसे गुरुमासपणगाइं।।65।।
इय एसणदोसाणं, पायच्छित्तं निरूवियं इत्तो।

(विधिमार्गप्रपा, पृ 83-86)

(जीतकल्प भाष्य, 1493-1601)

1. **शंकित**–प्रथम शंकित में शंकित दोष के समान ही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।।31।।

2. **प्रक्षित**–प्रक्षित नामक दूसरा एषणा दोष सचित्त और अचित्त के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। इनमें सचित्त प्रक्षित तीन प्रकार का है–1. पृथ्वीकाय प्रक्षित 2. अपकाय प्रक्षित और 3. वनस्पतिकाय प्रक्षित।

• पृथ्वीकाय प्रक्षित चार प्रकार का है–1. सरजस्क प्रक्षित 2. सचित्त शुष्क खड़ी मिट्टी-सफेद मिट्टी आदि प्रक्षित 3. सचित्त कीचड़ रहित प्रक्षित और 4. सचित्त कीचड़ युक्त प्रक्षित।

• पृथ्वीकाय प्रक्षित के उक्त चारों भेद सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर क्रमश: **पणग, मासलघु, चतु:लघु** एवं **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।31-34।।

• अप्काय प्रक्षित दोष भी चार प्रकार का कहा गया है–1. पश्चात्कर्म 2. पुर:कर्म 3. सस्निग्ध और 4. उदकार्द्र। इन चारों प्रकारों सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर क्रम से **चतु:लघु, चतु:लघु, पणग** और **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।34-35।।

• वनस्पतिकाय प्रक्षित प्रत्येक और अनन्तकाय के भेद से दो प्रकार का बताया गया है। उनमें प्रत्येक वनस्पति प्रक्षित दोष तीन प्रकार का होता है– 1. उत्कृष्ट 2. स्पष्ट 3. कुक्कुस। इन तीनों भेद सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

• अनन्त वनस्पतिकाय प्रक्षित दोष सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **मासगुरु** (एकासना) का प्रायश्चित्त आता है।

• अचित्त प्रक्षित दोष दो प्रकार का है–1. गर्हित और 2. अगर्हित। गर्हित अचित्त प्रक्षित सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतु:लघु** का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

• अगर्हित अचित्त प्रक्षित सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर भी **चतु:लघु** का प्रायश्चित्त ही आता है।।

3. **निक्षिप्त**–तीसरा निक्षिप्त दोष पृथ्वीकाय आदि की अपेक्षा अनन्तर और परम्परा के भेद से दो प्रकार का होता है।

• सचित्त पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय पर रखी हुई खाद्य सामग्री आदि का अनन्तर से दोष लगने पर **चतु:लघु** तथा उसे परम्परा से ग्रहण करने पर **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिश्र पृथ्वीकाय आदि पर रखी हुई भिक्षा आदि को साक्षात या परम्परा से ग्रहण करने पर **मासलघु** और **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिश्र प्रत्येक वनस्पतिकाय और अनन्त वनस्पतिकाय पर रखी गई भिक्षा आदि को साक्षात या परम्परा से ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

• सचित्त अनन्तकाय पर रखी हुई भिक्षा आदि को अनन्तर से ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिश्र अनन्तकाय पर रखी गई भिक्षा आदि को अनन्तर से ग्रहण करने पर **मासगुरु** और परम्परा से ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।।38-41।।

4. **पिहित**–चौथा पिहित एषणा दोष तीन प्रकार का कहा गया है–1. गुरु अचित्त पिहित 2. सचित्त पिहित और 3. मिश्र पिहित। गुरु अचित्त पिहित सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

• सचित्त पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय और त्रसकाय द्वारा ढ़की हुई भिक्षा को अनन्तर से ग्रहण करने पर **चतुःलघु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिश्र पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय से ढकी हुई भिक्षा आदि को अनन्तर से ग्रहण करने पर **मासलघु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिश्र प्रत्येक वनस्पतिकाय एवं अनन्त वनस्पतिकाय द्वारा ढ़की हुई भिक्षा आदि को साक्षात या परम्परा से ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।

• सचित्त अनन्तकाय द्वारा ढ़की हुई भिक्षा आदि को अनन्तर से ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिश्र अनन्तकाय के द्वारा ढकी हुई भिक्षा आदि को अनन्तर से ग्रहण करने पर **मासगुरु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।।42-45।।

5. **संहृत**– जिस पात्र में पहले से सचित्त, अचित्त या मिश्र खाद्य सामग्री रखी हुई हो उसे अन्य पात्र में डालकर उससे निर्दोष भिक्षा देना, संहृत (संलिप्त) दोष कहलाता है। इससे निर्दोष भिक्षा भी सदोष युक्त हो जाती है।

• सचित्त पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय से संलिप्त हुई भिक्षा को अनन्तर से ग्रहण करने पर **चतुःलघु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर मासगुरु का प्रायश्चित्त आता है।

• मिश्र पृथ्वीकाय आदि से संलिप्त हुई भिक्षा आदि को अनन्तर से ग्रहण करने पर **मासलघु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिश्र प्रत्येक वनस्पतिकाय एवं अनन्तकाय से संलिप्त भिक्षादि को अनन्तर या परम्परा से ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।

• सचित्त अनन्तकाय से संलिप्त भिक्षा को अनन्तर से ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिश्र अनन्तकाय से संलिप्त भिक्षा आदि को अनन्तर से ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।।46-48।।

• गुरु अचित्त संहत आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

6. **दायक**–भिक्षादाता या भिक्षादात्री वृद्ध हो, भृत्य हो, नपुंसक हो, शरीर कांपता हुआ हो, ज्वरित हो, चक्षुहीन हो, मत्त हो, उन्मत्त हो, हाथ-पाँव खण्डित हो, गर्भिणी हो, दोनों पैर बेड़ी से आबद्ध हो, बालवत्सा हो, कड़ाही में सचित्त चने आदि का खण्डन कर रही हो, चक्की में गेहूँ आदि पीस रही हो, अनाज आदि भूँज रही हो, भोजन कर रही हो, दही का बिलोना कर रही हो, सचित्त अनाज दल रही हो, बलि को स्थापित कर रही हो, ऊखल में धान्य आदि कूट रही हो, जिसमें किसी दोष की सम्भावना हो, साधारण दात्री हो, चुराई हुई वस्तु दे रही हो अथवा दूसरों की वस्तु को किसी अन्य के लिए दे रही हो–ऐसी दात्री द्वारा दी गई भिक्षा ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिसके व्रण (पीप आदि) झर रहे हों, पादुका धारण किए हुए हो, सूत कात रही हो, कपास से बिनौले अलग कर रही हो, रूई पींज रही हो, रूई को अलग कर रही हो, रूई की पूणी बना रही हो–ऐसे दायकों द्वारा दी गई भिक्षा ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिसके हाथ पृथ्वी आदि छ:काय से लिप्त हों, जिसके शरीर का कोई भी अवयव षट्कायिक जीवों से स्पर्शित कर रहा हो, भिक्षादाता छ:काय की

हिंसा में प्रवृत्त हो–ऐसे दायकों द्वारा आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

• पृथ्वी-अप्-तेउ– वाउ और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवों का संस्पर्श, सामान्य पीड़ा, विशेष पीड़ा एवं मारणान्तिक पीड़ा दे रही हो, ऐसी दात्री से भिक्षा ग्रहण करने पर अनुक्रमशः **पणग, मासलघु, मासगुरु** और **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

• विकलेन्द्रिय जीवों को कष्ट दे रही हो ऐसी दात्री से आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** आदि का प्रायश्चित्त आता है।

• अनन्तकाय का स्पर्शादि कर रही हो, ऐसी दात्री से भिक्षा ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

• पंचेन्द्रिय मनुष्य या पशु आदि को पीड़ा आदि दे रहा हो, उस दायक से भिक्षा ग्रहण करने पर **मासगुरु** से लेकर **एक कल्लाण** तक प्रायश्चित्त आता है।।49-55।।

7. **उन्मिश्र**–सचित्त पृथ्वीकाय-अप्काय-तेउकाय-वायुकाय-वनस्पति-काय एवं त्रसकाय सम्बन्धी उन्मिश्र आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु**, अचित्त पृथ्वीकायादि से सम्बन्धित उन्मिश्र आहार ग्रहण करने पर **पणग** तथा मिश्र पृथ्वीकायादि से सम्बन्धित उन्मिश्र आहार ग्रहण करने पर **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

• सचित्त अनन्तकाय सम्बन्धी उन्मिश्र आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** तथा मिश्र अनन्तकाय सम्बन्धी उन्मिश्र आहार ग्रहण करने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।। 57-58।।

8. **अपरिणत**–आठवाँ अपरिणत एषणा दोष द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है।

• अपरिणत के द्रव्य और भाव दोनों भेद सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

• विशेष रूप से सचित्त पृथ्वीकायादि से सम्बन्धित अपरिणत बीज आदि-धान्य युक्त भिक्षा ग्रहण करने पर **पणग**, मिश्र पृथ्वीकायादि सम्बन्धी अपरिणत भिक्षा ग्रहण करने पर **मासलघु**, सचित्त अनन्तकायिक सम्बन्धी अपरिणत आहार ग्रहण करने पर **चतुःगुरु** तथा मिश्र अनन्तकायिक सम्बन्धी अपरिणत आहार ग्रहण करने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।। 59-61।।

9. **लिप्त**–दही आदि विगयों से लिप्त हाथ द्वारा भिक्षादि ग्रहण करने पर मुनि को **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।62।।

10. **छर्दित**–दसवाँ छर्दित नामक दोष पृथ्वीकायादि की अपेक्षा अनन्तर और परम्परा से दो प्रकार का है।

- सचित्त पृथ्वीकायादि से सम्बन्धित आहार ग्रहण करने पर अनन्तर से **चतुःलघु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर **मासलघु** का प्रायश्चित्त आता है।
- मिश्र पृथ्वीकायादि से सम्बन्धित आहार ग्रहण करने पर अनन्तर से **मासलघु** तथा परम्परा से ग्रहण करने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।
- मिश्र प्रत्येक वनस्पति और अनन्त वनस्पति से सम्बन्धित आहार ग्रहण करने पर साक्षात् या परम्परा से **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।
- सचित्त अनन्तकाय से सम्बन्धित आहार ग्रहण करने पर अनन्तर से **चतुःगुरु** तथा परम्परा से लगने पर **मासगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।
- मिश्र अनन्तकाय से सम्बन्धित आहार ग्रहण करने पर अनन्तर से **मासगुरु** तथा परम्परा से **पणग** आदि का प्रायश्चित्त आता है।।62-65।।

पाँच माण्डली (ग्रासैषणा) सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

संजोयणाइ चउगुरु,[1] अइप्पमाणंमि चउलहुयं[2]।।66।।
इंगाले चउगुरुया,[3] चउलहु धूमे[4] अकारणाहारे[5]।
घासेसणदोसाणं, इय पायच्छित्तमक्खायं।।67।।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 86)

(जीतकल्याण भाष्य, 1620-1645)

1. **संयोजना**–भोजन को स्वादिष्ट या रुचिकर बनाने के लिए तद्योग्य द्रव्यों के संयोजन से युक्त आहार करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।।66।।

2. **अप्रमाण**–परिमाण से अधिक आहार ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।66।।

3. **अंगार**–दाता अथवा खाद्य सामग्री की प्रशंसा करते हुए आहार करने पर **चतुःगुरु** (उपवास) का प्रायश्चित्त आता है।।67।।

4. **धूम**–दाता अथवा आहार की निन्दा करते हुए उसे ग्रहण करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

5. **अकारण**–बिना किसी प्रयोजन के आहार करने पर भी **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।।67।।

उपरोक्त प्रायश्चित्त विधि जीतव्यवहार के अनुसार कही गई है। आलोचना देते समय आलोचना दाता गुरु आलोचक की असमाधि अथवा उसके विशुद्ध भावों को ज्ञातकर उसकी योग्यतानुसार न्यूनाधिक अथवा तत्सम्मत प्रायश्चित्त देते हैं।

पिण्ड दोष से सम्बन्धित यह प्रायश्चित्त विधि आचार्य जिनप्रभसूरि ने स्वयं की आत्मस्मृति के लिए जीतकल्प से उद्धृत कर उल्लिखित की है तथा इस प्रायश्चित्त विधान को सामान्य हेतु से कहा है। यदि किसी को द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव की अपेक्षा प्रधान हेतु युक्त प्रायश्चित्त जानना हो तो उसके लिए निशीथ, बृहत्कल्प, जीतकल्प आदि छेद ग्रन्थों का परावर्त्तन एवं अवलोकन करना चाहिए।

चारित्राचार सम्बन्धी अन्य दोषों के प्रायश्चित्त

सेज्जायरपिण्डे आं.। मयंतरे पु.। पमाएण कालद्धाणातीए कए नि., पमायओ तब्भोगे नि., अन्नहा उ.। उवओगस्स अकरणे अविहिणा वा करणे पु., अहवा नि., अहवा सज्झाय 125। उवओगमकाऊण सभत्तपाणविहरणे आं.। गोयरचरियअपडिक्कमणे पु.। काइयभूमीअप्पमज्जणे य नि.।

सुत्तपोरिसिं अत्थपोरिसिं वा न करेइ पु., तदुभयं न करेइ उ.। हरियकायं पमद्दइ पु.। झुसिरतणं सेवए पु.। निक्कारणदुप्पडिलेहियदूसपंचगं, अझुसिरतणपंचगं चम्मपंचगं पुत्थयपंचगं अपडिलेहियदूसपंचगं च सेवए कमेण नि.नि.नि.आं.ए.। गमणियापरिभोगे अचक्खुविसए वा दिणसंघाए पु.। मुत्तोच्चारअसणाइपरिट्ठप्पं अविहिणा परिट्ठवइ, गिहिपच्चक्खं अगुत्तं भासइ भंजइ य, पडिमानियडे खेलमल्लगं धारेइ, गिलाणं न पडिजागरइ, अकाले सागारियहत्थेणं वा अंगं मद्दावेइ मक्खाएइ वा, उस्संघट्टसंस्थारए चडइ, नम्मगाइ झुसिरं परिभुंजइ, दारदेसे पवेस-निग्गमभूमिं न पमज्जइ, सज्झायमकाऊण भुंजइ, अवेलाए उच्चारभूमिं गच्छइ, सागारियस्स पिच्छंतस्स काइयसन्नाइ वोसिरइ–सव्वत्थ पु.। अपारिए भत्तं भुंजइ दवं वा पिबइ पु., अथवा सज्झाय 125। ठवणकुलेसु अणापुच्छाए पविसइ ए.।

इत्थि-रायकहासु उ., देसभत्तकहासु आं.। कोह-माण-मायाकरणे आं., लोभकरणे उ.। अणणुन्नाए संथारए आरोहइ आं.। मयंतरे पु.।

संनिहिपरिभोगे आं.। कालवेलाए उद्गपाणे पायधोवणे य आं.। अविहिदेववंदणे सव्वहाअवंदणे वा उ.। मयंतरे देवगिहे देवावंदणे पु.। पुप्फललवंगाइभक्खणे उ.। निसिवमणे सण्णाए च उ.। दिवासयणे उ.। वियडपाणे उ.। पक्खाइरित्तं चाउम्मासाइरित्तं वा कोवं परिवासेइ उ.। दिणअप्पडिलेहिय-अप्पमज्जियथंडिल्ले वोसिरइ उ.। थंडिल्लअकरणे सज्झाय 50। गुरुणो अणालोइए भत्तपाणे सज्झायअकरणे गुरुपायसंघट्टणे उ.।

पक्खिए विसेसतवं अकरिंताणं खुड्डुय-थविर-भिक्खु-उवज्झाय-सूरीणं जहसंखं नि.पु.ए.आं.उ.। चाउम्मासिए पु.ए.आं.उ. छट्ठाणि। संवच्छरिए ए.आं.उ. छट्ठ-अट्ठमाणि। निद्दापमाएण एगम्मि काउस्सग्गे वंदणए वा, गुरुणो पच्छाकए पुव्वं पारिए भग्गे वा, आलस्सेण सव्वहा अकए वा नि., दोसु पु., तिसु ए., सव्वेसु आं.। सव्वावस्सयअकरणे उ.। कत्तियचउमासयपारणए अन्नत्थ अविहरंताणं आं.। खुरेण लोयं कारेइ पु., कत्तरीए ए.। दीहद्धाणपडिवन्ने गिलाणकप्पावसाणे वरिसारंभं विणा सव्वोवहिधोवणे, पमाएण पउणपहरे मत्तगअपडिलेहणे, तहा चउम्मासिय-संवच्छरिएसु सुद्धस्स वि पंचकल्लाणं। कओववासस्स पढम-पच्छिमपोरिसीसु पत्तगअपडिलेहणे पडिलेहणाकाले य फिडिए अट्ठमयकरणे य एगकल्लाणं। सद्द-रूव-रस-फरिसेसु दोसे आं., रागे उ.। गंधे राग-दोसेसु पु.। मयंतरे सद्द-रूव-रस-गंधेसु रागे आं., दोसे उ.। फासे राग-दोसेसु पु.। अचित्तचंदणाइगंधग्घाणे पु.। अवग्गहाओ अद्धट्ठहत्थप्पमाणाओ मुहणंतए फिडिए नि.। रयहरणे उ.। नवरमवग्गहो इत्थ हत्थप्पमाणो। मुहणंतए नासिए उ.। रयहरणे छट्ठं। मुहपोत्तियं विणा भासणे नि.।

उवही जहण्णाइभेया तिविहो—मुहपोत्ती केसरिया गुच्छओ पायठवणं ति जहन्नो। पडला रयत्ताणं पत्ताबंधो चोलपट्टो मत्तओ रयहरणं ति मज्झिमो। पत्तं तिन्नि कप्पा य त्ति उक्कोसो। एस ओहिओ उवही। ओवग्गहिओ पुण जहन्नो पीढनिसिज्जादंडउंछणाई। मज्झिमो वासत्ताणपणगं, दंडपणगं, मत्तगतिगं, चम्मतिगं, संथारुत्तरपट्टो इच्चाई। उक्कोसो अक्खा पुत्थगपणगं इच्चाई। ओहिओवग्गहिए जहन्नओवहिम्मि वि चुयलद्धे अप्पडिलेहिए वा नि.। मज्झिमे पु.। उक्किट्ठे ए.। सव्वोवहिम्मि पुण आं.। जहन्ने उवहिम्मि नासिए,

वरिसारंभं विणा धोविए उ.। गमिऊणं गुरुणो अणिवेदिए य ए.। मज्झिमे आं.। उक्किट्ठे उ.। आयरियाईहिं अदिन्नं जहन्नमुवहिं धारयंतस्स भुंजंतस्स वा गुरुमणापुच्छिय अन्नेसिं दिंतस्स य ए.। मज्झिमे आं.। उक्किट्ठे उ.। सव्वोवहिम्मि नासियाइगमेसु छट्ठं। ओसन्नपव्वावियस्स ओसन्नया विहारिस्स इत्थी-तिरिच्छीमेहुणसेविणो य मूलं। सावज्जसुविणे काउस्सग्गे उज्जोयगरचाउक्कचिंतणं। माणुस-तिरिक्खजोणीए पडिमाए य पुग्गलनिसग्गाइमेहुणसुविणे पुण उज्जोयचउक्कं नमोक्कारो य चिन्तिज्जइ। मयंतरेण सागरवरगम्भीरा जाव। सुमिणे राइभोयणे उ.। निक्कारणं धावणे डेवणे, समसीसियागमणे, जमलियजाणे, चउरंग-सारि-जूयाइकीलाए, इंदजाल-गोलयाखिल्लणे, समस्सा-पहेलियाईसु उक्कुट्ठीए गीए सिंठियसद्दे मोर-अरहट्टाइ जीवाजीवरुए, सूइमाइलोहनासे उ.। उवविट्ठए पडिक्कमणे आं.। दगमट्टियागमणे आं.। बाघारे आं.। तसपायाइभंगे आं.। अपडिलेहियठवणायरियपुरओ अणुट्ठाणकरणे पु.। इत्थीए अवयव फासे आं.। वत्थप्फासे नि.। अंगसंघट्टे नि.। अबहुवयणे य सज्झाय 100। आवस्सिया निसीहिया अकरणे दंडगअप्पडिलेहणे समिइगुत्तिविराहणे गुणवंतनिंदणे नि.। वासावासग्गहियं पीढफल गाइ न समप्पेइ पु.। वरिसंतसमाणियभत्तादिपरिभोगे आं.। रुक्खपरिट्ठावणे पु.। सिणिद्धपरिट्ठावणे उ.। रयहरणस्स अपडिलेहणे पु.। मुहपोत्तीयाए नि.। दोरए पत्तबंधे तेप्पणए मुहणंतए य खरडिए उ.। गंतीजोयणगमणे गमणियाजोयणपरिभोगे जोयणमचक्खुविसए उ.। आभोगेणं जोयणमित्ते गंतीगमणे छट्ठं हट्ठाणं। गमणागमणं न आलोएइ, इरियावहियं न पडिक्कमइ, वियालवेलाए पाणगं न पच्चक्खाइ, उच्चारपासवणकाल-भूमीओ एगरत्तं न पडिलेहइ नि.। सीसदुवारियं करेइ पु.। गरुलपक्खं पाउणइ उ.। एगओ दुहओ वा कप्पअंचला खंधारोविया गरुलपक्खं। बोडिय-खुड्डयाणं व उत्तरासंगे उ.। चोलपट्टयकच्छादाणे उ.। चउप्फलं मुक्कलं वा कप्पं खंधे करेइ पु.। दो वि बाहाओ छायंतो संजइपाउरणेणं पाउणइ आं.। गिहिलिंग-अन्नतित्थियलिंगकप्पकरणे मूलं। ओगुट्ठिं चउफलकप्पं वा हत्थोखित्तदंडएण वा सिरे कप्पं करेइ पु.। उत्तरासंगं न करेइ, अचित्तं लसुणं भक्खेइ, तण्णयाइ उम्मोएइ पु.। गंठिसहियं नासेइ

उ.। कप्पं न पिबइ उ.। सति सामत्थे अट्ठमि-चउद्दसि-नाणपंचमीसु चउत्थं न करेइ उ.। वत्थधोवणियाए पइकप्पं नि.। पमाएण पच्चक्खाणअग्गहणे पु.। वाणमंतराइ पडिमाकोऊहलपलोयणे पु.। इत्थियालोयणे ए.। दंडरहियगमणे उ.। निसागमणे सोवाणहे कोस दुगप्पमाणे आं.। अणुवाणहे नि.।

सिया एगइओ लद्धुं विविहं पाणभोयणं।
भद्दगं भद्दगं भुच्चा विवण्णं विरसमाहरे।।
इच्चेवं मंडलीवंचणे उ.। गयं उत्तरगुणाइयारपच्छित्तं।।
समत्तं च चारित्ताइयारपच्छित्तं।।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 86-88)

आहारसम्बन्धी– शय्यातर का आहार आदि ग्रहण करने पर **आयंबिल**, मतान्तर से **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

- जिस भिक्षा को ग्रहण करने का समय परिपूर्ण नहीं हुआ है उसका परिभोग करने पर **नीवि** अथवा **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- आहार आदि के लिए उपाश्रय से प्रस्थान करने से पूर्व 'उपयोगविधि' न करने पर अथवा अविधि पूर्वक उपयोग करने पर **पुरिमड्ढ, नीवि** अथवा **125 गाथा** परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।
- आहार-पानी के लिए अनुपयोग पूर्वक विचरण करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- गोचरचर्या करते समय लगे दोषों का प्रतिक्रमण न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- आहार करने से पूर्व शरीर के प्रत्येक अवयव की प्रमार्जना न करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना सम्बन्धी– सूत्र पौरुषी अथवा अर्थ पौरुषी का परिपालन न करने पर **पुरिमड्ढ** तथा दोनों पौरुषियों का परिपालन न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- वनस्पतिकाय जीवों का विनाश करने पर पुरिमड्ढ का प्रायश्चित्त आता है।
- कोमल या छेदयुक्त तृण का सेवन करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• अविधि से प्रतिलेखित वस्त्र पंचक, तृणपंचक, चर्मपंचक, पुस्तकपंचक तथा अप्रतिलेखित वस्त्रपंचक का निष्प्रयोजन सेवन करने पर क्रमश: **नीवि, नीवि, नीवि, आयंबिल** एवं **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• चलते-फिरते आहार करने पर अथवा जिस समय पदार्थ चक्षु का विषय न बनते हों ऐसे दिन के संधिकाल में आहारादि करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• लघुनीति-बड़ीनीति का अविधि पूर्वक परिष्ठापन करने पर, गृहीत प्रत्याख्यान का समय पूर्ण होने के पहले ही 'समय हो गया है' ऐसा बोलने पर, प्रत्याख्यान काल पूरा होने के पहले ही भोजन करने पर, जिन प्रतिमा के समीप कफ आदि के पात्र रखने पर, ग्लान (रोगी) की शुश्रुषा नहीं करने पर, रात्रि काल में सागारिक गृहस्थ से शरीर की मालिश करवाने पर, प्रमार्जना किये बिना ही संस्तारक पर बैठ जाने पर, कोमल एवं गीले आदि स्थानों का बार-बार सेवन करने पर, प्रवेश द्वार एवं निर्गमन द्वार की प्रमार्जना नहीं करने पर, स्वाध्याय किये बिना ही आहार करने पर, रात्रि के समय स्थंडिल भूमि में जाने पर मुनि को **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्रत्याख्यान पूर्ण (नमस्कारमन्त्र का स्मरण) किये बिना ही भोजन करने पर **पुरिमड्ढ** अथवा **125 गाथा** परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।

• स्थापना कुलों में मालिक की आज्ञा बिना प्रवेश करने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है

सामान्य दोष संबंधी– स्त्रीकथा एवं राजकथा करने पर **उपवास** तथा देशकथा एवं भक्तकथा करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• भिक्षा शिष्य आदि की प्राप्ति के लिए क्रोध, मान एवं माया करने पर **आयंबिल** तथा लोभ करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• गुरु की अनुमति के बिना संस्तारक के ऊपर आरोहण करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है। मतान्तर से **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• संग्रहीत खाद्य वस्तुओं का परिभोग करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• स्वाध्यायकाल में हाथ-पैर धोने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय में अविधि पूर्वक देववन्दन करने पर अथवा देववन्दन न

करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। मतान्तर से देववन्दन न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

- जिनालय में अर्पित किये गए पुष्प, फल, लवंग आदि का भक्षण करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- रात्रि में वमन होने पर तथा कायिकसंज्ञा (बड़ी नीति) का परित्याग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- दिन में निष्प्रयोजन शयन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- विकृत पानी का परिभोग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

आवश्यक कर्म सम्बन्धी– पाक्षिक क्षमायाचना अथवा चातुर्मासिक क्षमायाचना करने के बावजूद भी वैर भाव को बनाये रखने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- दिन में अप्रतिलेखित एवं अप्रमार्जित स्थण्डिल भूमि पर लघुनीति आदि का परित्याग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- दिवस काल में स्थण्डिल योग्य भूमि की प्रमार्जना न करने पर **50 गाथा** परिमाण स्वाध्याय का प्रायश्चित्त आता है।
- गुरु के समक्ष जिस आहार आदि की आलोचना नहीं की गई है उस अनालोचित भक्त-पान का सेवन करने पर, आवश्यक सामाचारी के अनुसार आहार करने से पूर्व स्वाध्याय न करने पर तथा गुरु चरणों का अविधि से स्पर्श करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- पाक्षिक आलोचना निमित्त विशेष तप न करने पर बाल शिष्य, स्थविर (बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय को प्राप्त हुआ साधु), सामान्य साधु, उपाध्याय और आचार्य को क्रमशः **नीवि, पुरिमड्ढ, एकासना, आयंबिल, उपवास** का यथासंख्या प्रायश्चित्त आता है।
- चातुर्मासिक आलोचना निमित्त विशेष तप न करने पर बालशिष्य, स्थविर, सामान्यसाधु, उपाध्याय, आचार्य को क्रमशः **पुरिमड्ढ, एकासना, आयंबिल, उपवास, छट्ठ** का यथासंख्या प्रायश्चित्त आता है।
- सांवत्सरिक आलोचना निमित्त विशेष तप न करने पर पूर्ववत बालशिष्यादि को अनुक्रमशः **एकासना, आयंबिल, उपवास, बेले** और **तेले** का यथासंख्या प्रायश्चित्त आता है।

• निद्रा या प्रमाद से कायोत्सर्ग या वन्दन करने पर, गुरु के पूर्ण करने से पहले स्वयं के कायोत्सर्ग को पूर्ण कर लेने पर, कायोत्सर्ग खण्डित करने पर, आलस्यवश कायोत्सर्ग न करने पर **नीवि**, उक्त दो स्थानों का सेवन करने पर **पुरिमड्ढ**, तीन स्थानों का सेवन करने पर **एकासना** एवं सभी स्थानों का सेवन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान–इन छह आवश्यकों का पालन न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• कार्तिक चातुर्मास की अवधि पूर्ण होने के बाद भी बिना किसी कारण के विहार न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• उस्तरे से लोच करवाने पर **पुरिमड्ढ** तथा कैंची से लोच करवाने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

वर्षाऋतु का प्रारम्भ होने से पहले ही समस्त उपधि का प्रक्षालन कर लेने पर, प्रमादवश पौन प्रहर के मध्य मात्रक की प्रतिलेखना न करने पर तथा चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक दिवसों की परिशुद्धि होने के उपरान्त भी **पंचकल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।

• उपवासी मुनि के द्वारा दिन की प्रथम एवं अन्तिम पौरुषी में पात्र की प्रतिलेखना न करने पर, प्रतिलेखना करते वक्त पात्र के नीचे गिरने पर तथा आठ प्रकार का मद करने पर **एक कल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्रतिकूल अथवा अनुकूल शब्द, रूप, रस, स्पर्श आदि पुद्गलों के प्रति द्वेष करने पर **आयंबिल** और राग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। गन्ध पुद्गलों के प्रति राग या द्वेष कुछ भी करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• मतान्तर से शब्द, रूप, रस, गन्ध सम्बन्धी पुद्गलों के प्रति राग करने पर **आयंबिल** और द्वेष करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। स्पर्श पुद्गलों के प्रति राग या द्वेष करने पर दोनों स्थितियों में **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• अचित्त चन्दनादि की गन्ध को सूंघने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

उपधि सम्बन्धी– साढ़े तीन हाथ के अवग्रह के भीतर मुखवस्त्रिका नीचे गिर जाये तो **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

- एक हाथ परिमाण अवग्रह के भीतर रजोहरण नीचे गिर जाये तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- मुखवस्त्रिका के गुम जाने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- रजोहरण के गुम जाने पर **छट्ठ** (बेला) का प्रायश्चित्त आता है।
- मुखवस्त्रिका को मुख के अग्रभाग पर रखे बिना वार्त्तालाप करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

(i) **औघिक उपधि–** जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट के भेद से उपधि तीन प्रकार की कही गई है–

जघन्य उपधि–मुखवस्त्रिका, पात्र केशरिका (पात्र पोछने का वस्त्र), गोच्छक (पात्र प्रमार्जन करने का साधन), पात्रस्थापन (पात्र रखने योग्य वस्त्र)– ये जघन्य उपधि कहलाते हैं।

मध्यम उपधि–पटलक (भिक्षाटन करते वक्त पात्र के ऊपर ढंकने का वस्त्र), रजस्त्राण (धूल से रक्षा करने एवं पाँव के ऊपर वेष्टन करने का वस्त्र), पात्रबन्धक (पात्र बाँधने का वस्त्र), चोलपट्ट (मुनि का अधोभागीय वस्त्र), मात्रक (लघुनीति करने का पात्र) और रजोहरण– ये मध्यम उपधि हैं।

उत्कृष्ट उपधि– आहार, मात्रक और कफ संबंधी पात्र को उत्कृष्ट उपधि कहा गया है।

उपरोक्त तीनों प्रकार की उपधि औघिक उपधि कहलाती है।

(ii) **औपग्रहिक उपधि**–औपग्रहिक उपधि भी तीन प्रकार की होती है–

जघन्य उपधि– पीठ फलक, आसन, डंडा, पादप्रोंछन आदि जघन्य औपग्रहिक उपधि हैं।

मध्यम उपधि–पाँच प्रकार के वस्त्र, पाँच प्रकार के डंडा, तीन प्रकार के मात्रक, तीन प्रकार के चर्म, संस्तारक, उत्तरपट्टा आदि मध्यम औपग्रहिक उपधि हैं।

उत्कृष्ट उपधि–स्थापनाचार्य, पाँच प्रकार की पुस्तक आदि उत्कृष्ट औपग्रहिक उपधि हैं।

ऊपर वर्णित औघिक एवं औपग्रहिक सम्बन्धी जघन्य उपधि गुम होकर

पुन: मिल जाये अथवा उस उपधि की प्रतिलेखना करना भूल जायें तो **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• औघिक एवं औपग्रहिक सम्बन्धी मध्यम उपधि गुम होकर पुन: मिल जाये अथवा उस उपधि की प्रतिलेखना करना रह जाये तो **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• औघिक एवं औपग्रहिक सम्बन्धी उत्कृष्ट उपधि भी गुम होकर पुन: मिल जाये अथवा उस उपधि की प्रतिलेखना करना रह जाये तो **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• पूर्वोक्त सर्व प्रकार के उपधि की प्रतिलेखना न करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

औघिक एवं औपग्रहिक सम्बन्धी जघन्य उपधि में से किसी भी उपधि के गुम जाने पर तथा वर्षा प्रारम्भ होने से पहले उपधि का प्रक्षालन कर लेने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• जघन्य उपधि से सम्बन्धित किसी प्रकार का उपकरण गुम हो जाने पर और उसका गुरु से निवेदन न करने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• मध्यम उपधि का कोई भी उपकरण गुम हो जाये और उसका गुरु से निवेदन न करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• उत्कृष्ट उपधि का कोई भी उपकरण गुम हो जाये और उस सम्बन्ध में गुरु को सूचित न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• आचार्य आदि द्वारा नहीं दी गई जघन्य उपधि का उपयोग करने पर तथा गुरु को बिना पूछे ही अन्य साधु को देने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• मध्यम उपधि के सम्बन्ध में पूर्ववत दोष लगने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• उत्कृष्ट उपधि के सम्बन्ध में पूर्ववत दोष लगने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• पूर्वोक्त समस्त प्रकार की उपधि के नष्ट होने एवं गुम जाने पर **छट्ठ** का प्रायश्चित्त आता है।

अहोरात्रचर्या सम्बन्धी– शिथिलाचारी मुमुक्षु को प्रव्रजित करने पर, शिथिलाचारी मुनि के साथ विहार करने पर तथा स्त्री एवं तिर्यंच के साथ मैथुन

क्रिया करने पर **मूल** प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

• दिन या रात्रि में सावद्य स्वप्न आने पर चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए। यहाँ सावद्य स्वप्न का तात्पर्य हिंसाजनित एवं क्रूर दृश्य से है।

• स्वप्न में मनुष्य या तिर्यञ्च योनि सम्बन्धी आकृतियाँ दिखने पर तथा पुद्गलनिसर्ग आदि रूप मैथुन क्रिया देखने पर चार बार लोगस्ससूत्र और एक बार नवकार मन्त्र का चिन्तन करना चाहिए।

मतान्तर से 'सागरवरगम्भीरा' तक लोगस्ससूत्र का स्मरण करना चाहिए।

• स्वप्न में रात्रि भोजन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• निष्प्रयोजन दौड़ने पर, मर्यादित स्थान का उल्लंघन करने पर, आचार्य या वरिष्ठ साधुओं के बिना समवयस्क मुनियों के साथ बहिर्गमन करने पर, चौपड़-शतरंज-द्यूत आदि क्रीड़ाएँ करने पर, इन्द्रजाल आदि के तमाशे देखने पर, गेंद से खेलने पर, समस्या-पहेली आदि में ऊँचे स्वर से गीत गाने पर, किसी मनोरंजक खेल में जोर-जोर से ध्वनि करने पर, मयूर की भाँति आवाज आदि करने पर, जीव-अजीव आदि नानाविध रूप धारण करने पर, सूचिका आदि लोहमय वस्तुओं का नाश करने पर इस तरह साध्वाचार विरुद्ध प्रवृत्ति करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• उभय सन्ध्याओं में बैठे-बैठे प्रतिक्रमण करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• कीचड़ युक्त स्थान में गमन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• कीचड़ युक्त स्थान में गमन करते हुए त्रस एवं स्थावर जीवों का नाश होने पर तथा त्रस जीवों के अंगोपांग क्षत-विक्षत होने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• अप्रतिलेखित स्थापनाचार्य के सम्मुख प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, चैत्यवन्दन आदि अनुष्ठान करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• मार्ग में चलते हुए या बृहद् महोत्सव के समय स्त्री के अवयवों का स्पर्श होने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• स्त्री के वस्त्र का स्पर्श होने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• स्त्री के अंग का संघट्टा (सामान्य स्पर्श) होने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• स्त्री के वस्त्र का संघट्टा होने पर तथा उसके साथ किञ्चित बातचीत कर लेने पर **100 गाथा** परिमाण स्वाध्याय करने का प्रायश्चित्त आता है।

• जिनालय और उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'निसीहि' बाहर निकलते समय 'आवस्सही' शब्द न बोलने पर, दण्ड की प्रतिलेखना न करने पर, समिति और गुप्ति धर्म की विराधना करने पर तथा गुणसम्पन्न की निन्दा करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

वर्षावास सम्बन्धी– वर्षावास काल के लिए गृहीत पीठ-फलक आदि को पुनः नहीं लौटाने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• वर्षा गिरते समय लाए हुए आहार का परिभोग करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• वर्षा गिरते वक्त रुक्ष खाद्य वस्तुओं का परिष्ठापन करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• वर्षा गिरते वक्त स्निग्ध आर्द्र वस्तुओं का परित्याग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• वर्षाकाल आदि में रजोहरण की प्रतिलेखना न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्रतिलेखना आदि आवश्यक क्रियाओं में मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना न करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• डोरी, पात्रबन्ध, तिरपनी, मुखवस्त्रिका आदि रात्रिभर खाद्य पदार्थों से खरड़ित रह गये हों तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

गमनागमन सम्बन्धी– शारीरिक अस्वस्थता आदि कारणों से वाहन में योजन पर्यन्त गमन करने पर, योजन प्रमाण मर्यादा का बार-बार उल्लंघन करने पर तथा योजन परिमाण मार्ग को ईर्यासमिति पूर्वक नहीं शोधने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• विशेष कारण में स्वस्थ मुनि के द्वारा वाहन में योजन पर्यन्त गमन करने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• गमनागमन में लगे हुए दोषों की आलोचना न करने पर, ईर्यापथिक प्रतिक्रमण न करने पर, सन्ध्याकाल में पाणहार का प्रत्याख्यान न करने पर, बड़ीनीति एवं लघुनीति परिष्ठापित करने योग्य भूमि की प्रतिलेखना न करने पर

नीवि का प्रायश्चित्त आता है।

मुनिवेश सम्बन्धी– शिष्य के द्वारपाल का कार्य किए जाने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• जैसे गरुड़ पक्षी के दोनों कन्धे पंख से ढ़के रहते हैं वैसे ही मुनि द्वारा स्वयं के कन्धों को वस्त्रांचल से ढकने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अन्य परम्परा के मुण्डित साधु एवं क्षुल्लक साधु के समान उत्तरीय वस्त्र को धारण करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• चोलपट्ट को लंगोटी के रूप में धारण करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अन्य परम्परा के साधुओं की भाँति चार गुणा लपेटे हुए अथवा खुले हुए वस्त्र को कन्धे पर रखने से **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• मुनि के द्वारा अपनी दोनों भुजाओं को वस्त्र से आच्छादित करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• गृहस्थलिंग एवं अन्यतीर्थिक लिंग के समान वस्त्र धारण करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।

• चोलपट्ट के परिमाण से न्यून परिमाण वाला अधोवस्त्र धारण करने पर चारपुट वाला वस्त्र धारण करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• श्री संघ के बीच रहते हुए उत्तरीय वस्त्र धारण नहीं करने पर, अचित्त लहसुन का भक्षण करने पर तथा गाय के बछड़े आदि को संताप देने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

सामान्य आचार सम्बन्धी– गंठसी प्रत्याख्यान का भंग होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• सामर्थ्य होने पर भी अष्टमी-चतुर्दशी-ज्ञानपंचमी आदि तिथियों में चतुर्थभक्त न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्रत्येक कल्प में वस्त्र धोने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है। यहाँ 'प्रत्येक कल्प' शब्द का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है, यद्यपि विहार की अपेक्षा साधु के नौ कल्प एवं साध्वी के पाँच कल्प माने गये हैं।

• प्रमाद से संकलित प्रत्याख्यान को ग्रहण न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• वाणव्यन्तर आदि प्रतिमाओं को कौतुहल से देखने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• स्त्री जाति या स्त्री विशेष की आलोचना करने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• डंडे के बिना सौ कदम से अधिक गमन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• उपानह (जूता) पहनकर रात्रि में दो कोस पर्यन्त चलने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• उपानह धारण किये बिना ही रात्रि में दो कोस तक गमनागमन करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• कदाचित कोई साधु भिक्षा में प्राप्त विविध प्रकार की सामग्री में से सरस-स्वादिष्ट आहार का मार्ग में ही सेवन कर ले एवं नीरस-विवर्ण आहार को गुरु आदि के लिए ले जाये। इस तरह साधुमण्डली के साथ वंचना (ठगी) करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

4. तपाचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

उववासभंगे आं. 2, नि. 3, ए. 4, पु. 5। सज्झायसहस्सदुगं, नवगारसहस्समेगं। आयंबिलभंगे आं. 2, नि. 3, पु. 4। निव्विगइयभंगे पु. 2। एकासणाइभंगे तदहियपच्चक्खाणं देयं। गठिसहियाइभंगे दव्वाइअभिग्गहभंगे वा संखाए पु.। तवं कुणंताणं निन्दाअन्तरायाइ-करणे पु.।

इयाणिं जोगवाहीणं अन्नाणपमायदोसा जहुत्ताणुट्ठाणे अकए पायच्छित्तं भण्णइ—उस्संघट्टं भुंजइ उ.। लेवाडयदव्वोवलित्तस्स पत्ताइणो परिवासे उ.। आहाकम्मियपरिभोगे उ.। सन्निहिपरिभोगे उ.। अकलसन्नाए उ.। थंडिले न पडिलेहेइ उ.। अपडिलेहियथंडिले उड्ढं[1] करेइ उ.। असंखडं करेइ उ.। कोह-माण-माया-लोभेसु उ.। पंचसु वएसु उ.। अब्भक्खाण-पेसुन्न-परपरिवाएसु उ.। पुत्थयं भूमीए पाडेइ, कक्खाए करेइ, दुग्गंधहत्थेहिं लेइ, थुक्काहिं भरेइ, एवमाइसु उ.। रयहरणे चोल पट्टए य उग्गहाओ फिडिए उ.। उब्भो न पडिक्कमइ, वेरत्तियं न करेइ उ.। कवाडं किडियं वा अपमज्जियं उग्घाडेइ पु.। कालस्स न पडिक्कमइ, गोयरचरियं न पडिक्कमइ, आवस्सियं

निसीहियं वा न करेइ नि.। छप्पयाओ संघट्टेइ अणागाढं पु., गाढासु ए.। ओहियं न पडिलेहेइ उ.। उद्देस-समुद्देस-अणुन्ना-भोयण-पडिक्कमण–भूमीओ न पमज्जेइ उ.। गयं तवाइयारपच्छित्तं। *(विधिमार्गप्रपा, पृ. 88)*

• उपवास का भंग होने पर **दो आयंबिल, तीन नीवि, चार एकासना, पाँच पुरिमड्ढ, दो हजार गाथा** परिमाण का स्वाध्याय और **एक हजार नवकार मन्त्र** गिनने का प्रायश्चित्त आता है।

• आयंबिल का भंग होने पर **दो आयंबिल, तीन नीवि, चार पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• नीवि का भंग होने पर **दो पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• **एकासना** आदि का भंग होने पर उससे अधिक प्रत्याख्यान देना चाहिए।

• सांकेतिक गंठिसहियं आदि प्रत्याख्यान का भंग होने पर अथवा द्रव्य आदि अभिग्रह का भंग होने पर यथासंख्या **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• तपस्वी की निन्दा एवं तपस्या में अन्तराय आदि करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

इसी क्रम में आचार्य जिनप्रभसूरि योगवाहियों द्वारा अज्ञान या प्रमादवश यथोक्त अनुष्ठान न करने से लगने वाले दोषों के प्रायश्चित्त भी कहते हैं। योगोद्वहन एक तप विशेष अनुष्ठान है अत: तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त विधि तपाचार के अन्तर्गत कही जा रही है–

• कालिक सूत्रों के योग में संघट्टा लिये बिना ही आहार कर लेने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• लेपकारक द्रव्य से उपलिप्त पात्र आदि का उपभोग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• आधाकर्मी आहार का परिभोग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• योगोद्वहन काल में संग्रहित खाद्य वस्तुओं का परिभोग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अकाल वेला (रात्रि) में कायिक संज्ञा (मल) का उत्सर्ग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• योगकाल में स्थंडिल भूमि की प्रतिलेखना न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अप्रतिलेखित स्थंडिल भूमि पर वमन करने से **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• योगवहन काल में किसी मुनि के साथ कलह करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• योगोद्वहन करते हुए क्रोध, मान, माया एवं लोभ करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• पाँच महाव्रतों में दोष लगने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अभ्याख्यान, पैशुन्य (चुगली) एवं परपरिवाद करने से **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• पुस्तक को भूमि पर गिराने, कांख में रखने, अस्वच्छ हाथों से पकड़ने, थूक आदि से भरने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• साढ़े तीन हाथ परिमाण अवग्रह स्थान में रजोहरण एवं चोलपट्ट गिर जाये तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• खड़े होकर प्रतिक्रमण नहीं करने पर और वैरात्रिक कालग्रहण नहीं करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• दरवाजा अथवा खिड़कियों को प्रमार्जित किये बिना ही खोल देने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्राभातिक आदि चारों कालों में लगे दोषों का प्रतिक्रमण न करने पर, गोचरचर्या में संभावित दोषों की आलोचना न करने पर, जिनालय या उपाश्रय में प्रवेश करते हुए 'निसीहि' तथा बाहर निकलते हुए 'आवस्सही' शब्द न कहने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• अनागाढ़ योग में षट्पदी (भ्रमर आदि) का संघट्टा होने पर **पुरिमड्ढ** तथा आगाढ़ योग में यही संघट्टा दोष लगने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

• योग काल में उपधि की प्रतिलेखना न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा, भोजन एवं प्रतिक्रमण भूमियों की प्रमार्जना न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

5. वीर्याचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त–

तवोणुट्ठाणाइसु विरियगूहणे एगासणदुगं। गयं विरियाइयारपच्छित्तं।

• तप अनुष्ठान आदि में शक्ति को छुपाने पर **दो एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

अब, साधु-साध्वी के आचार से सम्बन्धित कुछ विशेष दोषों के प्रायश्चित्त कहते हैं–

भणियं साहुपायच्छित्तं। संपयं आयरणाए किंचि विसेसो भण्णइ– साहु-साहुणीणं राईभत्तविरइभंगे असणे पंचवि भेया नि.पु.ए. आं. उ. पंचगुणा। खाइमे ते चउग्गुणा। साइमे तिगुणा। पाणे दुगुणा। सुक्कसन्निहीए उ. 2, अल्लसन्निहीए उ. 4। सचित्तभोयणे कुरुडुयाईए उ. 3। अप्पउलियभक्खणे उ. 4। दुप्पउलभक्खणे उ. 2। कारणओ आहाकम्मग्गहणे ते पंच वि पंचगुणा। निक्कारणे तहिं पंचवि वीसगुणा। आहाकडकीयगडाइदोसासेवणेसु उ. 3। अकालचारित्तणे कारणओ उ.। निक्कारणओ ते वि दुगुणा। अकालसन्नाकरणे उ. 2। थंडिलउवहीणमपडिलेहणे उ. 3। वसहिअपमज्जणे कज्जगाईणं अणुद्धरणे अविहिपरिट्ठवणे उ. 3। जिण-पुत्थय-गुरुपमुहाणं आसायणाए उ. 4। अवरोप्परं वायाकलहे ते पंच। दंडादंडीए दस। उद्दवणे मूलं। पहारे जणनाए ते पंचवी सगुणा। सागारियदिट्ठीए आहारनीहारं करिते उ. 4। निंदियकुलेसु आहाराइगिण्हितस्स उ. 4। सूयगभत्तं पढमगब्भूसुगभत्तं गिण्हंतस्स उ. 2। गणभेयं करिंतस्स उ. 4। निक्कारणं गिहिकज्जं चिन्तंतस्स उ. 2। गुरूणं आणाए विणा पयट्टंतस्स समईए संमत्तनासो। अणाभोगे उ. 3। वत्थधुवणे उ. 3। गायब्भंगे चलणब्भंगे सरीरधुवणे उ. 4। पारिट्ठावणियं सपत्ताई कारिंतस्स उ. 4। मग्गंमि नइलंघणे सामन्नेण उ. 2। पच्चक्खाणअकरणे उवओगाकरणे अपमज्जिय वसहीए सज्झायकरणे विकहाकरणे दिवासुयणे परपरिवायकरणे गीयाइकरणे कोऊहलदंसणे समईए कुसत्थसवणं करिंते वक्खाणंते पढंते गुणंते उ. 3। एगागिणो गुरूणमाणाए विणा वियरंतस्स उ. 4। पत्तभंडाइभंगे उ. 1। उवहिं हारवंतस्स उ. 1। गुरूण आणाए कारणओ आहाकम्माइ अगिण्हंतस्स उ. 4। इंदियलोलुयाए संजोयणं करिंतस्स उ. 4। छप्पइयासंघट्टणे वासासु उवहि अधुवणे उ. 4। अकाले धुवंतस्स उ. 4। हासं

खिड्डुं कुणंतस्स उ. 2। सुत्तं विणा जिणपूयाइकज्जेसु पवाहेण पयट्टंतस्स उ. 4। साहम्मियकज्जेसु जहासत्तीए अपयट्टमाणस्स उ. 4। एवं संखेवेणं सव्वविरई भणिया। *(विधिमार्गप्रपा, पृ. 88-89)*

• साधु-साध्वी के द्वारा रात्रिभोजनविरमणव्रत का उल्लंघन अशन से होने पर **नीवि, पुरिमड्ढ, एकासना, आयंबिल, उपवास**– इन पाँचों का पांच गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• इसी तरह रात्रिभोजनविरमणव्रत का भंग खादिम से होने पर पूर्वोक्त पाँचों का चार गुणा, स्वादिम से होने पर पाँचों का तीन गुणा एवं पानी से होने पर पाँचों का दुगुणा प्रायश्चित्त आता है।

• शुष्क वस्तुओं– बादाम, सुपारी, लवंग आदि का संग्रह करने पर **दो उपवास** तथा स्निग्ध वस्तुओं–घृत, तेल आदि का संग्रह करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• निष्ठुरता पूर्वक सचित्त वस्तुओं का सेवन करने पर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अपक्व फल अर्थात पूरी तरह से नहीं पके हुए आम आदि का उपभोग करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• दुष्पक्व फल अर्थात अच्छी तरह से नहीं सीझे हुए मटर, टमाटर, ककड़ी आदि का सेवन करने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

आवश्यक प्रयोजन से आधाकर्मी आहार ग्रहण करने पर **नीवि** आदि पाँचों का पाँच गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• निष्प्रयोजन आधाकर्मी आहार ग्रहण करने पर पूर्वोक्त पाँचों भेदों का बीस गुणा प्रायश्चित्त आता है।

• आधाकर्मी, क्रीत, मालापहृत आदि सोलह उद्गम दोषों का सेवन करने पर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• कारण विशेष से आहार आदि के अतिरिक्त काल में भिक्षाचर्यादि के लिए गमन करने पर चार उपवास का प्रायश्चित्त आता है।

• अकाल वेला में निष्प्रयोजन भिक्षाचर्यादि क्रियाएँ करने पर पूर्वोक्त पाँचों का दुगुणा प्रायश्चित्त आता है।

- अनुपयुक्त (रात्रि) वेला में मलोत्सर्ग करने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- स्थंडिल भूमि एवं उपधि की प्रतिलेखना न करने पर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- वसति (रहने योग्य स्थान) की प्रमार्जना न करने पर, काजा का उद्धरण (परिष्ठापन) न करने पर तथा काजा को अविधि से परिष्ठापित करने पर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- जिनप्रतिमा, पुस्तक, गुरु आदि की आशातना करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- साधु-साधु अथवा साध्वी-साध्वी में परस्पर वाक् कलह होने पर पूर्वोक्त पाँचों का एकगुणा प्रायश्चित्त आता है।
- साधु-साधु या साध्वी-साध्वी की परस्पर लड़ाई होने पर पाँचों का दुगुणा प्रायश्चित्त आता है।
- साधु अथवा साध्वी की परस्पर में मारपीट होने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।
- साधु-साधु के परस्पर में हुई लड़ाई यदि लोगों को ज्ञात हो जाये तो पाँचों ही भेद का पच्चीस गुणा प्रायश्चित्त आता है।
- सागारिक (गृहस्थ) के देखते हुए आहार-निहार करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- निन्दित कुलों से आहारादि ग्रहण करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- सूतकगृह का भोजन तथा प्रथम गर्भ सम्बन्धी सूतक का भोजन ग्रहण करने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- गणभेद करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- निष्प्रयोजन गृहकार्य का चिन्तन करने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- गुर्वाज्ञा के बिना स्वमति से प्रवृत्ति करने पर **सम्यक्त्व का नाश** होता है।
- गुर्वाज्ञा के बिना असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने पर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- असावधानी से वस्त्र धोने पर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- शरीर की विभूषा, पावों की मालिश एवं शरीर का प्रक्षालन करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- अशुद्ध खाद्य वस्तु को पात्र सहित परिष्ठापित करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- मार्ग में आई नदी का उल्लंघन करने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- नवकारसी आदि प्रत्याख्यान न करने पर, उपयोगविधि न करने पर, अप्रमार्जित वसति में स्वाध्याय करने पर, विकथा करने पर, दिन में शयन करने पर, पर-परिवाद करने पर, कुतूहल से नाटक आदि देखने पर, स्वमति से कुशास्त्र का श्रवण, व्याख्यान एवं पठन आदि करने पर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- गुर्वाज्ञा बिना एकाकी विचरण करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- पात्र-उपकरण आदि टूटने पर **एक उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- क्रोधादि में उपधि को फाड़ देने अथवा टुकड़ा आदि करने पर **एक उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- आवश्यक कारण में गुर्वाज्ञा होने के उपरान्त भी आधाकर्मी आहार ग्रहण न करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- इन्द्रिय लोलुपता से संयोजना का दोष लगने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- अनुपयुक्त काल में उपधि का प्रक्षालन करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- हँसी-मश्करी करने पर **दो उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- यथाशक्ति साधर्मिक बन्धुओं का सहयोग अथवा तद्योग्य प्रवृत्ति न करने पर **चार उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

वसति सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

इयाणिं वसहिदोसपयच्छित्तं। कालाइक्कंताए पणगं। उवट्टाणा अभिक्कन्ता अणभिक्कंतां वज्जासु चउलहु। महावज्जाइसु चउगुरु।

अतिविसुद्धिकोडिवसहीसु पट्ठीवंसाइचउद्दससु चउगुरु। विसोहिकोडीसु दूसियाइसु चउलहुया। भणियं च–

आइए पणगं चउसु, चउलहू वसहीसु खमणमन्नासु।
अविसुद्धासुं चउगुरु, विसोहिकोडीसु चउलहुगा।।1।।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 89)

1. **कालातिक्रान्त**–जहाँ चातुर्मास काल के अतिरिक्त शेष काल में एक महीना से अधिक रहते हैं वह स्थान मुनियों के लिए कालातिक्रान्त कहलाता है। ऐसी कालातिक्रान्त वसति में रहने पर **पणग** का प्रायश्चित्त आता है।

2. **उपस्थापना**–जिस वसति में चातुर्मास कर चुके हैं वहाँ शेष काल में दो महीने पहले और चातुर्मास हेतु आठ महीने पहले पुनः आकर रहने से वह वसति उपस्थापना दोष से दूषित कही जाती है।

3. **अभिक्रान्त**–जहाँ चरक या गृहस्थ आदि रहे हुए हों अथवा जो स्थान सभी के लिए हो वहाँ मुनि का ठहरना, अभिक्रान्त कहलाता है।

4. **अनभिक्रान्त**–जो स्थान सर्व सामान्य हो और उस जगह का किसी ने उपयोग नहीं किया हो वहाँ साधुओं का रुकना, अनभिक्रान्त कहा जाता है।

5. **वर्ज्य**–जो स्थान गृहस्थ ने अपने लिए बनवाकर बाद में साधुओं को रुकने हेतु दे दिया हो और स्वयं के लिए नया मकान तैयार किया हो तब पूर्व प्रदत्त वसति मुनि के लिए वर्ज्य कही जाती है। उपरोक्त चारों स्थानों का उपयोग करने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

6. **महावर्ज्य**–श्रमण, ब्राह्मण आदि पाखंडी सन्यासियों के लिए निर्मित वसति महावर्ज्य कहलाती है।

7. **सावद्य**–वनीपक आदि पाँच प्रकार के श्रमणों के लिए निर्मित वसति सावद्य कहलाती है।

8. **महासावद्य**–जैन मुनियों के लिए नव निर्मित वसति महासावद्य कहलाती है।

9. **अल्पक्रिया**– जो वसति उपर्युक्त दोषों से रहित हो, गृहस्थ ने स्वयं के लिए तैयार करवायी हो और उत्तरगुण सम्बन्धी परिकर्म से रहित हो, वह वसति अल्पक्रिया वाली कहलाती है। उक्त चारों प्रकार की वसति में रहने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।

पृष्ठिवंश आदि चौदह प्रकार की अतिविशुद्ध कोटि वाली दूषित वसति में रहने पर चतुःगुरु का प्रायश्चित्त आता है।

विशुद्ध कोटि वाली दूमिता-धूपिता-वासिता आदि वसति में रहने पर **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है।

स्थण्डिल सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त–

आवाए संलोए झुसिरतसेसुं हवंति चउलहुया।
चउगुरु आसन्नबिले पुरिमं सेसेसु सव्वेसु।।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 89)

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार स्थण्डिल भूमि निम्न दोषों से रहित होनी चाहिए, अन्यथा प्रायश्चित्त आता है। उक्त गाथा के अनुसार–

1. आपात-संलोक– जहाँ लोगों का आवागमन भी हो और दिखाई भी देते हों। 2. झुसिर– भूमि पोली हो। 3. त्रसप्राणबीज सहित– त्रस प्राणी और बीजों से युक्त हो–इन दोषयुक्त भूमि पर मल-मूत्र आदि का परिष्ठापन करने से **चतुःलघु** का प्रायश्चित्त आता है। 4. आसन्न– बहुत नीचे (चार अंगुल) तक सचित्त हो। 5. बिल–बिल सहित हो इन स्थानों पर अशुचि का विसर्जन करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है। 6. अनुपघात– जिस स्थान पर उपघात हो, 7. जो विषम हो, 8. चिरकालकृत–कुछ समय पूर्व तक सजीव रही हो, 9. अविस्तीर्ण–अधिक विस्तार वाली न हो, 10. अदूर– गाँव, बगीचे आदि से निकट हो, इन स्थानों पर अशुद्ध पदार्थों का परित्याग करने से **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

वंदन सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

पडणीय दुट्ठ तज्जिय, खमणं आयाम रुट्ठथब्धेसु।
गारव तेणिय हीलिय, जुएसु पुरिमं च सेसेसु।।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 89)

वन्दन करते वक्त लगने वाले 33 दोषों के प्रायश्चित्त निम्नोक्त हैं–

1. शत्रु भाव से वन्दन करने पर, 2. दुष्ट भाव से वन्दन करने पर, 3. अंगुली से तर्जना करते हुए वन्दन करने पर, 4. स्वयं क्रुद्ध हो उस समय वन्दन करने पर, 5. अभिधान पूर्वक वन्दन करने पर इन सभी में **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

6. अहंकार से वन्दन करने पर, 7. चोर की तरह छिपते हुए वन्दन करने पर, 8. अवज्ञा करते हुए वन्दन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

9. अनाहत–अनादर से वन्दन करने पर, 10. अपविद्ध– भाड़ेती की तरह शीघ्र वन्दन करने पर, 11. परिपिण्डित– एक बार की वन्दना में सर्व साधुओं को सम्मिलित वन्दन करने पर, 12. टोलगति–टिड्डी की तरह कूदते हुए वन्दन करने पर, 13. अंकुश–रजोहरण को अंकुशवत रखते हुए वन्दन करने पर, 14. कच्छ भरिंगित–केचुंए की तरह अंगोपांगों को घसीटते हुए वन्दन करने पर, 15. मत्स्योद्वृत्त-मछली की तरह उछलते हुए वन्दन करने पर, 16. मनःप्रदुष्ट-आचार्य आदि के दोषों का मन में विचार करते हुए वन्दन करने पर, 17. वेदिकाबद्ध– हाथों को बाहर रखते हुए वन्दन करने पर, 18. भजन्त– यह गुरु मेरा ध्यान रखते हैं और आगे भी मेरा ध्यान रखेंगे, इस अभिप्राय से वन्दन करने पर, 19. भय-संघ द्वारा बहिष्कृत कर देने के भय से वन्दन करने पर, 20. 'आचार्य मेरे मित्र हैं अथवा होंगे' ऐसा जानते हुए वन्दन करने पर, 21. कारण– ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लाभों को छोड़कर शेष वस्त्र, पात्र आदि अन्य प्रयोजन से वन्दन करने पर, 22. शठ–विश्वास पैदा करने हेतु कपट भाव से वन्दन करने पर, 23. विपरिकुंचित–विकथा करते हुए वन्दन करने पर 24. दुष्टादुष्ट– कोई देख रहा हो तब वन्दन करने पर, अन्यथा नहीं करने पर, 25. श्रृंग–पशुओं के सींग की भाँति ललाट के दो पडखे पूर्वक वन्दन करने पर, 26. कर–एक प्रकार से करदण्ड समझकर वन्दन करने पर, 27. तन्मोचन–इससे कब छुटकारा पाऊँगा? यह सोचते हुए वन्दन करने पर, 28. आश्लिष्टानश्लिष्ट–रजोहरण और मस्तक पर हाथ का स्पर्श करते हुए अथवा नहीं करते हुए वन्दन करने पर, 29. न्यून–गुरुवन्दन सूत्रों के अक्षरों को न्यूनाधिक रूप से बोलते हुए वन्दन करने पर, 30. उत्तरचूलिका– वन्दन करने के पश्चात् 'मत्थएण वंदामि' इस अन्तिम पद को ऊँचे स्वर में बोलने पर, 31. मूक–गुरुवन्दन पाठ को मन में बोलते हुए वन्दन करने पर, 32. ढड्डर–ऊँचे स्वर में बोलते हुए वन्दन करने पर, 33. चूडलिअ–रजोहरण को पलीते की तरह घुमाते हुए वन्दन करने पर इत्यादि दोषों में **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

प्रव्रज्या सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त–

तेणे कीवे रायावयारिदुट्ठे य जुंगिए दोसे।
सेहे गुव्विणि मूलं, सेसेसु हवंति चउगुरुगा।।4।।

संपयं साहूणं निव्विगइ-उववास-सज्झाया चेव आलोयणा तवे पडंति, पुरिमड्ढो वा ण उण एगासणं। पुरिमड्ढो वि चउव्विहाहारपरिहारेणेवि त्ति।

(विधिमार्गप्रपा, पृ. 89)

जैनाचार्यों ने 18 प्रकार के पुरुष एवं 20 प्रकार की स्त्रियों को दीक्षा के अयोग्य माना है। उनके नाम इस प्रकार हैं–1. बाल, 2. वृद्ध, 3. नपुंसक, 4. कायर, 5. मूर्ख, 6. व्याधि ग्रसित, 7. चोरी करने वाला, 8. राजघाती, 9. उन्मत्त, 10. चक्षुहीन, 11. दास, 12. दुष्ट, 13. मूढ़, 14. ऋण पीड़ित, 15. भाग्यहीन या अंगहीन, 16. किसी दोष के अधीन हुआ, 17. डरपोक (भीरु), 18. शैक्ष निष्फीडित–माता-पिता द्वारा असम्मति प्राप्त।

स्त्रियों के सम्बन्ध में 18 भेद पूर्वोक्त ही जानने चाहिए। इसके अतिरिक्त 19. गर्भवती और 20. बालवत्सा– इन दोनों भेदों को मिलाने पर 20 प्रकार होते हैं।

- ऊपर वर्णित दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों में से स्तेन, नपुंसक, अधीर, राजा अपघाती, अंगोपांगहीन, पलायनवादी, गर्भवती स्त्री–इन्हें प्रव्रजित करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है। शेष अयोग्य पुरुषों एवं स्त्रियों को प्रव्रजित करने पर **चतुःगुरु** का प्रायश्चित्त आता है।
- आचार्य जिनप्रभसूरि प्रायश्चित्त विधि के अन्तर्गत यह भी निर्देश करते हैं कि वर्तमान में साधु-साध्वियों को **नीवि, आयंबिल, उपवास, पुरिमड्ढ** एवं **स्वाध्याय** ही आलोचना तप में देते हैं, एकासना से कम प्रत्याख्यान वाला तप नहीं देते हैं। पुरिमड्ढ का प्रायश्चित्त भी चतुर्विध आहार के परित्याग पूर्वक ही देते हैं।

आचारदिनकर के अनुसार प्रायश्चित्त विधि

आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर नामक यह ग्रन्थ संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में रचित है। इसकी रचना वि.सं. 1468 में की गई है। इस ग्रन्थ प्रशस्ति से अवगत होता है कि रचनाकार खरतरगच्छ की रूद्रपल्ली शाखा के अभयदेवसूरि (तृतीय) के शिष्य हैं। यह ग्रन्थ चालीस उदयों से विभाजित है।

आचार्य वर्धमानसूरि ने इन चालीस उदयों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है। प्रथम विभाग में गृहस्थ सम्बन्धी षोडश संस्कारों का विवेचन है, दूसरे विभाग में मुनि जीवन से सम्बन्धित सोलह संस्कारों का निरूपण है तथा अन्तिम तृतीय विभाग में गृहस्थ और मुनि दोनों द्वारा सामान्य रूप से आचरणीय आठ विधि विधानों का उल्लेख है। इसी तीसरे विभाग में पांचवाँ उदय स्वतन्त्रत: प्रायश्चित्त विधि से सन्दर्भित है।

आचार्य वर्धमानसूरि ने 36वें उदय में प्रायश्चित्त विधि का वर्णन श्रावकजीतकल्प, यतिजीतकल्प, लघुजीतकल्प, व्यवहारजीतकल्प के आधार पर किया है। साथ ही प्रकीर्ण प्रायश्चित्त, भाव प्रायश्चित्त एवं द्रव्य प्रायश्चित्त का उल्लेख भी किया गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि इसमें गृहस्थ और मुनि से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त पृथक्-पृथक् एवं युगपद् दोनों प्रकार से कहे गये हैं। हम यथाशक्य दोनों विभाग के अनुसार इसकी चर्चा करेंगे।

गृहस्थ (देशविरति श्रावक) सम्बन्धी प्रायश्चित्त विधि

1. सम्यक्त्वव्रत सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त

अथ संश्रावकाणां तु कथ्यते तपसैव हि।।1।। यथा–'शङ्कां काङ्कां विचिकित्सां मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम्। तत्संस्तवं मनाक्कृत्वा शीतं बाढं गुरु: पुन:।।2।। अवन्दने जिनानां च पूजापत्रादिताडने। प्रतिमायाश्च पतने मार्जने विधिवर्जिते।।3।। एतेषु प्रायश्चित्तं तु क्रमादग्रत उच्यते। पञ्चविंशतिमत्रैश्च पञ्चभि: पञ्चभिस्तथा।।4।। यतिस्वभावेन पुनश्चतुर्भ्य: शुद्धिरिष्यते। पार्श्वस्थादिमुनीनां च गुरुबुद्ध्यानुदानत:।।5।। पञ्चविंशतिसंख्येन मंत्रजापेन शुद्ध्यति। पट्टिकापुस्तकादीनां ज्ञानोपकरणस्य च।।6।। पातनात्पादसंघट्टात्पञ्चमंत्रजपाच्छुभम्। प्रत्याख्याने मन्त्रयुते ग्रन्थिमुष्टियुते तथा।।7।। भग्ने त्रिशतसंख्येन मन्त्रजापेन शुद्ध्यति। एतेषां ज्ञातशङ्केषु त्रिगुणो जाप इष्यते।8।। अदाने त्यक्तविकृते: प्रायश्चित्तं च पूर्ववत्। केचिच्छंकादिके प्राहु: पञ्चरूपेऽतिचारके।।9।।

(आचारदिनकर भा.-2, पृ. 248)

• श्रावकजीतकल्प के अनुसार आचार्य वर्धमानसूरि के अभिमत से जिनेश्वर परमात्मा के वचनों में शंका होने पर, अन्य धर्म की इच्छा रखने पर, धर्म कार्यों के फल में सन्देह करने पर, मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करने पर तथा

उनके साथ परिचय रखने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है। इन दोषों का सेवन अधिक तीव्रता से करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- अरिहंत परमात्मा को वन्दन न करने पर, पूजा के लिए पत्ते आदि तोड़ने पर, जिनप्रतिमा हाथ से गिर जाने पर तथा प्रतिमा का विधिपूर्वक प्रमार्जन न करने पर पच्चीस-पच्चीस नमस्कारमन्त्र का जाप करना चाहिए। इन चतुर्विध दोषों की शुद्धि हेतु **एकासन** का प्रायश्चित्त भी कहा गया है।
- पार्श्वस्थ आदि मुनियों को गुरु बुद्धि से दान देने पर उस दोष की शुद्धि के लिए पच्चीस नमस्कार मन्त्र का जाप करना चाहिए।
- पाटी, पुस्तक आदि ज्ञान के उपकरण हाथ से गिर जाने पर, उन्हें पैर लग जाने पर पाँच बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण करना चाहिए।
- गंठिसहियं एवं मुट्ठिसहियं प्रत्याख्यानों के भंग हो जाने पर तीन सौ नमस्कारमन्त्र का जाप करना चाहिए।
- प्रत्याख्यान का भंग हुआ है या नहीं? ऐसी शंका होने पर पूर्व कथित जाप से तीन गुणा अर्थात नौ सौ बार नमस्कारमन्त्र का जाप करना चाहिए।
- त्याग ने योग्य एवं विकृत आहार का दान देने पर पूर्ववत नौ सौ बार नमस्कारमन्त्र स्मरण करने का प्रायश्चित्त आता है।
- कुछ आचार्यों के अनुसार शंका आदि पाँच अतिचारों का आगाढ़ रूप से तथा अनागाढ़ रूप से सेवन करने पर प्रत्येक के लिए **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

व्यवहार जीतकल्प के अनुसार–

नियमे सति। देवार्चावन्दनादेरनिर्मितौ। पूर्वार्ध गुरुपादानां ध्वान्ते पादादिघट्टने।।35।। आशातने तथान्यस्मिञ्जघन्ये लघुरिष्यते। मध्यमे परमं शीतमुत्कृष्टं च प्रदर्श्यते।।36।। अस्थापितस्थापनायां पादस्पर्शे तु निर्मदः। स्थापितस्थापनाचार्यपादघट्टे विलम्बकः।।37।। पातने स्थापनार्यस्य तस्य चैव प्रणाशने। तत्क्रियाया अकरणे क्रमाच्छान्तो रसो लघुः।।38।। व्रतिनामासनादाने मुखवस्त्रादिसंग्रहे। अम्बुपानेऽन्नाशने च क्रमाच्छोध नमादिशेत्।।39।। पूतं पूतमरोगं च सजलं मुनिसत्तमः। नियमे सति साधूनामप्रणामे विलम्बकः।।40।। गुरुद्रव्ये च वस्त्रे च द्रव्ये साधारणेपि च। उपभुक्ते तदधिकं देयं विनयपूर्वकम्।।41।। देवद्रव्यजलाहारपरिभोगे कृते

सति। देवकार्ये तदधिकं द्रविणं व्ययमानयेत्।।42।। देवद्रव्यस्य भोगेऽन्ते मध्य उत्कृष्ट एव च। क्रमाद्विशोधनं शीतं धर्मो भद्रमुदाहरेत्।।43।।

(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 255)

- नियम होने पर भी परमात्मा की पूजा, वन्दना आदि न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- अन्धकार में गुरु के चरणों से स्वयं के पैर आदि का स्पर्श होने पर तथा गुरु की सूक्ष्म आशातना होने पर **पुरिमड्ढ,** मध्यम आशातना होने पर **एकासना** और उत्कृष्ट आशातना होने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- अप्रतिष्ठित स्थापनाचार्य का पैर से संस्पर्श होने पर **नीवि** तथा प्रतिष्ठित स्थापनाचार्य का पैर से संस्पर्श होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- स्थापनाचार्य नीचे जमीन पर गिर जाये, टूट जाये और उसकी सविधि क्रिया न करें, तो क्रमशः **एकासन, नीवि** एवं **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- मुनियों को बैठने के लिए आसन न देने, मुखवस्त्रिका आदि का संग्रह करने, उनको पीने के लिए पानी एवं भोजन का दान न करने पर, इन दोषों की शुद्धि के लिए क्रमशः **नीवि, नीवि, एकासना** एवं **आयंबिल** का प्रायश्चित्त बताया गया है।
- नियम होने पर भी साधुओं को वन्दन न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- गुरु द्रव्य तथा साधारण द्रव्य का अपने कार्य हेतु उपयोग करने पर उससे अधिक मात्रा में वापस करें।
- देवद्रव्य का परिभोग करने पर, उससे अधिक द्रव्य का देव कार्य में व्यय करें।
- देवद्रव्य का भक्षण करने पर जघन्यतः **आयंबिल**, मध्यमतः **उपवास** एवं उत्कृष्टतः **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

2. पाँच अणुव्रत सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त

श्रावक जीतकल्प के अनुसार

प्रत्येकमुत्तमं तत्र गाढागाढे विशेषतः। द्वीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियाणां चतुरक्षभृतामपि।।10।। संघट्टे चाल्पसंतापे सुभोजनमुदाहृतम्। गाढसंतापने

शीतं मारणे चोत्तमं विदुः।।11।। पञ्चेन्द्रियाणां संघट्टे पादमल्पे च तापने। शीतसंतापने गाढे निःपापः परिकीर्तितः।।12।। मारणे पुण्यमाख्यातमेष आद्यव्रते विधिः। स्थले चैव मृषावादे हीने मध्ये तथाधिके।।13।। यतिस्वभावः सजलं निःपापश्च क्रमात्स्मृतः। एवं चौर्यव्रते ज्ञेयं प्रायश्चित्तमसत्यवत्।।14।। प्रायश्चित्तमथाख्येयं श्राद्धानां मैथुनव्रते। गृहीते नियमे स्वस्य कलत्रस्यापि संगमात्।।15।। उपवासव्रतं प्राहुः प्रायश्चित्तं विचक्षणाः। वेश्यायाः संगमादेव शुद्धिर्भद्र उदाहृता।।16।। हीनजातिपरस्त्रीणामज्ञानात्तद्रवे (?) थवा। आदेयं परमं प्राहुः प्रायश्चित्तं मुनीश्वराः।।17।। विशुद्धकुलवध्वाश्च भोगे मूलं यथोदितम्। ग्राह्यं च नरसंभोगे मुक्तं मैथुनचिन्तने।।18।। सुन्दरं निबिडे रागे प्रायश्चित्तमुदीरितम्। स्थूले परिग्रहे हीने मध्यमे परमे तथा।।19।। यतिस्वभावं कामघ्नं चतुःपादं क्रमाद्विदुः। *(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 249)*

बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का संस्पर्श होने पर एवं उन्हें अल्पतः संतापित करने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है। इन्हीं जीवों को अत्यधिक परितापित करने पर **आयंबिल** तथा उन्हें प्राण रहित कर देने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- पंचेन्द्रिय जीवों का संस्पर्श होने पर **एकासन**, उन्हें अल्प तापित करने पर **आयंबिल**, प्रगाढ़ रूप से परितापित करने पर **उपवास** एवं उन्हें प्राण रहित कर देने पर **बेले** तप का प्रायश्चित्त आता है।
- स्थूलमृषावादविरमणव्रत में अतिचार लगने पर जघन्यतः **एकासना**, मध्यमतः **आयंबिल** एवं उत्कृष्टतः **उपवास** तप का प्रायश्चित्त आता है।
- अचौर्यव्रत में किसी प्रकार का दोष लगने पर मृषावाद संबंधी प्रायश्चित्त के समान जघन्यतः **एकासन,** मध्यमतः **आयंबिल** एवं उत्कृष्टतः **उपवास** तप का प्रायश्चित्त आता है।
- गृहीता स्त्री के साथ संभोग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- वेश्या के साथ संभोग करने पर उस दोष की शुद्धि के लिए निरन्तर **दो उपवास** करना चाहिए।
- हीन जाति की स्त्री या परस्त्री का अज्ञानता से या स्वप्न में भोग करने पर, उसके लिए **एकासना** का प्रायश्चित्त कहा गया है।

- विशुद्ध कुल की विवाहिता स्त्री का भोग करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।
- पुरुष द्वारा पुरुष के साथ संभोग करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- पूर्व में भोगे गए संभोग का चिन्तन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु संभोग के प्रति सघन राग रखने पर **अट्ठम** का प्रायश्चित्त आता है।
- स्थूलपरिग्रहव्रत में किसी तरह का अतिचार लगने पर जघन्य से **एकासन**, मध्यम से **आयंबिल** एवं उत्कृष्ट से **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

व्यवहार जीतकल्प के अनुसार

जीवाम्बुशोषे ग्राह्यं स्यात्पीलिकामर्कटादिकान्। उपजिह्वादिकान्हत्वा बहून्प्रत्येकमाचरेत्।।44।। आदेयं स्तोकघाते तु स्तोकं तप उदाहृतम्। एकवारमपूताम्बुपाने भद्रं विशोधनम्।।45।। पात्रस्थिते पुनर्भक्तं स्थाने पानेऽप्यसंख्यके। सुन्दरं चापि भूयिष्ठं ग्राह्यं पाप विशुद्धये।।46।।

मृषावादे जघन्ये तु मध्यमे परमे क्रमात्। पूर्वार्ध सजलं ग्राह्यमुत्कृष्टे सर्वदेहिनाम्।।47।। प्रत्यक्षं निधिलाभादिदोषदाने गुरुस्ततः। विरसं लघु चाधाय शुध्यते श्रावकः परम्।।48।।

स्तेये जघन्ये पूर्वार्धं मध्यमे स्वगृहे कृते। अज्ञाते परमं कुर्यादगृहे ज्ञाते गुरुं पुनः।।49।। अन्तिमं ज्ञात उत्कृष्टे ज्ञाते कलहकर्मणि। ग्राह्यं विधाय लक्षं च मन्त्रं शुद्धमना जपेत्।।50।। दर्पेण सर्वचौर्येषु जघन्येष्वपि चान्तिमम्। तुर्यव्रते खदारेषु वेश्यासु नियमक्षयात्।।51।।

सुन्दरं परदारे च हीने ज्ञाते तथान्तिमम्। ज्ञाते लक्षं मन्त्रजापो ग्राह्ययुक्तो विधीयते।।52।। उत्तमे परदारे च ज्ञाने ग्राह्यसमन्वितः। लक्षं साशीतिसाहस्रं मन्त्रजापो विधीयते।।53।। ज्ञाते तत्रैव मूलं स्यादथ स्मरणतः पुनः। वेश्यासु पुण्यं भार्यायामुपवासो विशोधनम्।।54।। जानतः स्वकलत्रेपि स्मरणादन्तिमं विदुः। आलापभेदतो नार्यां स्वस्त्रीभ्रान्तेस्तथान्तिमम्।।55।।

स्त्री चेद्वलं वितनुते तदा ग्राह्यं समादिशेत्। कियत्कालं गृहीतायां स्त्रियाँ भङ्गे सुखं वदेत्।।56।। उत्तमे तु कलत्रेपि भङ्गे मूले समागते। देयं प्रसिद्धपात्रस्य ग्राह्यं मूलं न कुत्रचित्।।57।।

परिग्रहे व्रते भग्ने हीने मध्येऽधिकेऽथवा। क्रमादरोगकामघ्नं धर्मश्चापि विशोधनम्।।58।। दर्पाद्भग्ने व्रते तस्मिन्नन्तिमं प्राहुरन्यथा। लक्षं साशीतिसाहस्रं मन्त्रजापं समादिशेत्।।59।। पञ्चाणुव्रतभङ्गेषु स्वप्नतश्च कदाचन। कायोत्सर्गा वेद संख्यैः सचतुर्विंशतिस्तवैः।।60।।

(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 255-256)

- जल के जीवों का विनाश करने पर, चींटी, मकड़ी एवं इसी प्रकार के अन्य जीवों का अधिक संख्या में नाश करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- सचित्त पानी अर्थात अनछना जीवयुक्त पानी पीने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- सचित्त (बीजयुक्त) आहार-पानी का एक बार सेवन करने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है तथा बारंबार उस प्रकार के भोजन-पानी का सेवन करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- मृषावादत्याग-व्रत का भंग होने पर जघन्यत: **पुरिमड्ढ**, मध्यमत: **आयंबिल** एवं उत्कृष्टत: **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- किसी पर मिथ्या दोषारोपण करने पर जैसे–अमुक को खजाना मिला है, जघन्यत: **पुरिमड्ढ**, मध्यमत: **नीवि** एवं उत्कृष्टत: **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- जानबूझकर ऐसी चोरी करने पर, जिससे घर में कलह हो दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। कुछ आचार्यों ने इसके लिए **दस उपवास** एवं शुद्ध मन से **एक लाख नमस्कार मन्त्र** का जाप करने का भी प्रायश्चित्त बताया है।
- अहंकारपूर्वक की जाने वाली सभी तरह की चोरियाँ चाहे वे जघन्य हों तो भी **दस उपवास** का ही प्रायश्चित्त कहा गया है।
- चतुर्थ अणुव्रत में स्वपत्नी एवं वेश्या के सम्बन्ध में गृहीत नियम का भंग होने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- हीनजाति की परस्त्री के साथ संभोग करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- स्वजाति की परस्त्री से संभोग करने पर एक लाख नमस्कारमन्त्र के जाप सहित **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- उत्तम कुल की परस्त्री के साथ संभोग करने पर **दस उपवास** सहित एक लाख अस्सी-हजार नमस्कार-मन्त्र के जाप का प्रायश्चित्त आता है।
- बलपूर्वक अर्थात् जानबूझकर स्वजाति की परस्त्री के साथ संभोग करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।
- बलपूर्वक अपनी पत्नी के साथ इस व्रत का भंग करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- शब्दभेद अर्थात ध्वनि की समानता के कारण अपनी पत्नी के भ्रमवश अन्धकार में अन्य किसी नारी के साथ इस व्रत का भंग करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- निर्बल स्त्री के साथ बलपूर्वक इस व्रत का भंग करने पर भी **दस उपवास** का ही प्रायश्चित्त आता है।
- विवाहित स्त्री के साथ व्रत की निश्चित्त काल-मर्यादा का उल्लंघन करने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- उत्तम कुल की स्त्री के साथ मर्यादा का उल्लंघन करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है, किन्तु ख्याति प्राप्त व्यक्ति को **दस उपवास** का प्रायश्चित्त देने का निर्देश है। उसके लिए मूल प्रायश्चित्त दान का निषेध किया गया है।
- परिग्रहव्रत का भंग होने पर जघन्यत: **एकासन**, मध्यमत: **आयंबिल** एवं उत्कृष्टत: **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- अहंकार पूर्वक इस व्रत का भंग करने पर **दस उपवास** अथवा **एक लाख अस्सी हजार नमस्कार मन्त्र** के जाप का प्रायश्चित्त आता है।
- कदाचित पाँचों अणुव्रतों का स्वप्न में भंग हो, तो **चार लोगस्स** का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

मतान्तर से–

मतान्तरे मृषावादे जघन्ये मध्यमेऽधिके।।84।। क्रमाच्छीतमनाहार उपवासशतं तथा। स्तेये जघन्ये नि:पापमज्ञाते मध्यमे हितम्।।85।। ज्ञाते ग्राह्यं तथोत्कृष्टेऽज्ञाते ग्राह्यं सुखान्वितम्। मैथुने प्रव्रजितया गृहिणो मूलमादिशेत्।।86।। परसंग्रहणीभोगे नीचान्यस्त्रीरतेपि च। गुप्ते परस्त्रीभोगे च मुक्तं भवति मुक्तये।।87।। अज्ञाते द्वादश ग्राह्या ज्ञाते मूलं समादिशेत्। परिग्रहातिक्रमे चाज्ञानतो विदुरुत्तमम्।।88।।

(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 257)

• स्थूल मृषावादविरमणव्रत का भंग करने पर जघन्यत: **आयंबिल**, मध्यमत: **उपवास** एवं उत्कृष्टत: **सौ उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• स्थूल अदत्तादानविरमणव्रत का भंग करने पर जघन्यत: **नीवि**, मध्यमत: **बेला** तथा जानबूझकर दूसरों की वस्तु ग्रहण करने पर एवं अज्ञात अवस्था में दूसरों की वस्तु ग्रहण करने पर उत्कृष्टत: **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• चौथे मैथुनव्रत का भंग करने पर मूल प्रायश्चित्त आता है। परस्त्री के साथ संभोग करने पर, नीचकुल की परस्त्री के साथ संभोग करने पर तथा गुप्त रूप से परस्त्री के साथ संभोग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अज्ञानवश मैथुनव्रत का भंग होने पर **पाँच उपवास, दस उपवास** एवं जानबूझकर इस व्रत का भंग करने पर मूल प्रायश्चित्त आता है।

• अज्ञानतावश स्थूल परिग्रहविरमणव्रत का अतिक्रमण होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

3. तीन गुणव्रत सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त

श्रावक जीतकल्प के अनुसार–

दिग्व्रतस्यातिक्रमे तु शर्वरी भोजने तथा।।20।। पातकस्य प्रशमनं विदुः प्रशमनं परम्। मांसाशने मद्यपाने ग्राह्यं घातकघातनम्।।21।। अनन्तकाये भुक्ते तु निःपापं पापनाशनम्। त्यक्तप्रत्येकभोगेषु शीतमाहुर्मनीषिणः।।22।। कर्मादानेषु सर्वेषु कृतेषु कथितं सुखम्। अनर्थदण्डेनाहारः प्रोक्ते सामायिके कृते।।23।।

(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 249)

• छठे दिग्व्रत का अतिक्रमण होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• रात्रिभोजन त्याग का अतिक्रमण होने पर **बेले** तप का प्रायश्चित्त आता है।

• मांसाहार सेवन और मद्यपान से लगे पापों से मुक्त होने के लिए **दस उपवास** का प्रायश्चित्त बताया गया है।

• अनन्तकाय का भक्षण करने पर उस पापक्षय के लिए **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• परित्यक्त प्रत्येक वनस्पतिकाय का भक्षण करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

- कर्मादान अर्थात श्रावक के लिए सर्वथा निषिद्ध व्यापार, व्यवसाय करने पर **बेले** तप का प्रायश्चित्त आता है।
- आठवें अनर्थदण्डविरमणव्रत का अतिक्रमण होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

व्यवहार जीतकल्प के अनुसार–

दिग्व्रतभ्रंशने चैव भोगव्रतविखण्डने। रात्रिभोजननिर्माणे निःपापः पापमर्षणः।।61।। नवनीतसुरामांसमधुभक्षणतो मदात्। प्रत्येकमन्तिमाच्छुद्धिर्नवनीते च भेषजे।।62।। क्षौद्रं च भुक्त्वा परममनाभोगात्सुरालये। अनन्तकायं भुक्त्वा च तथोदुम्बरपञ्चकम्।।63।। भुक्त्वा निःपापतः शुद्धिः प्रत्येकवनभोगतः। शुद्धिः सजलतो ज्ञेया प्रोक्तमेवं सुसाधुभिः।।64।। सचित्तद्रव्यवस्त्रान्नशय्यादीनां चतुर्दश। नियमाभङ्गतस्तेषां प्रत्येकमरसं लघु।।65।। सचित्तवर्जकस्यापि प्रत्येकाम्रादिभक्षणे। सजलं पञ्च दशसु कर्मादानेषु सर्वथा।।66।। प्रत्येकं पुण्यमादिष्टं पैशुन्ये परनिन्दने। अभ्याख्याने तथा रागे प्रत्येकं सजलं विदुः।।67।। चतुर्विधेऽनर्थदण्डे गुरुर्गुरुभिरावृतः। षण्ढादीनां विवाहे च तथैवान्यविवाहने।।68।। प्रत्येकमेतयोः शीतं पूर्वार्धमपरे पुनः।

मतान्तर– दशदिक्षु दिग्विरतिभञ्जनेऽप्येवमेव हि। जानन्नपि हि सर्वं यो व्रतं दर्पान्निकृन्तति।।89।। तस्यैव शुद्धये प्रोक्ताः प्रत्येकं द्वादशान्तिमाः। प्रायश्चित्तविधिश्चायं श्राद्धानामुपदर्शितः।।90।।

(आचारदिनकर, भा. पृ. 256-257)

- दिग्व्रत एवं भोगोपभोगव्रत का खण्डन होने पर तथा रात्रि में भोजन बनाने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- अहंकारवश मक्खन, मदिरा, मांस एवं मधु का भक्षण करने पर प्रत्येक के लिए **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- औषधि के रूप में मक्खन एवं शहद का सेवन करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- मदिरालय में मदिरा का सेवन करने पर, अनंतकाय का भक्षण करने पर तथा पाँच उदुम्बर फलों का भक्षण करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- प्रत्येक वनस्पतिकाय का सचित्त रूप में भक्षण करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• सचित्त, द्रव्य, वस्त्र, शय्या आदि चौदह प्रकार के नियमों का भंग करने पर प्रत्येक नियम के लिए **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• सचित्तवस्तु त्याग का नियम होने पर भी प्रत्येक वनस्पतिकाय रूप आमफल आदि का भक्षण करने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• चुगली, परनिन्दा, मिथ्यादोषारोपण एवं राग करने पर प्रत्येक के लिए **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• चार प्रकार के अनर्थदण्ड का सेवन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• नपुंसक आदि का विवाह करने पर तथा अन्य विवाह करवाने पर प्रत्येक विवाह के लिए क्रमशः **आयंबिल** एवं **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

मतान्तर से दसों दिशाओं में आने-जाने के परिमाणरूप दिग्परिमाणव्रत का भंग होने पर तथा इसी प्रकार अज्ञानतावश एवं अभिमान पूर्वक शेष गुणव्रतों का भंग करने पर प्रत्येक व्रत के लिए **पाँच उपवास** का **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

4. चार शिक्षाव्रत सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त

श्रावक जीतकल्प के अनुसार–

देशावकाशिके भग्ने पौषधे भग्न एव च। अतिथीनामनर्चायां क्रमात्तप उदीर्यते।।24।। आनाहारश्च कामघ्नं कामघ्नं मुक्त एव च। प्रायश्चित्तमिदं प्रोक्तं व्रतेषु द्वादशस्वपि।।25।। अयमेव श्राविकाणां प्रायश्चित्तविधिः स्मृतः। विशेषः कोपि तासां तु पुनरेव प्रकीर्त्यते।।26।। सामायिकव्रतस्थायाः स्थितायाः पौषधेऽथवा। नृसंघट्टे मन्त्रजापः पञ्चविंशतिसंख्यकः।।27।। तत्रापि वालस्वीकारे कार्यमोदयमञ्जसा। पञ्चाणुव्रतभङ्गे तु तासां शोधनमन्तिमम्।।28।। प्रत्याख्यानवियुक्तौ तु चतुःपादोप्यकारणात्। प्रत्याख्याने च चरमे कृते प्राहुः सुभोजनम्।।29।। जीवोदकस्य संशोषे षट्पदीनां च घातने। मठचैत्यनिवासे च तासां शोधनमन्तिमम्।।30।। श्राविका यस्य तपसः प्रत्याख्यानं भनक्ति च। प्रत्याख्यानं तदेव स्यात्करणीयं तया पुनः।।31।। *(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 249)*

• सामायिकव्रत के अतिचारों का सेवन करने पर, देशावगासिकव्रत एवं पौषधव्रत का भंग होने पर तथा अतिथिसंविभागव्रत का सम्यक् रूप से

परिपालन न करने पर इन चतुर्विध शिक्षाव्रतों की शुद्धि के लिए क्रमशः **उपवास, आयंबिल, आयंबिल** एवं **उपवास** तप का प्रायश्चित्त बताया गया है।

आचारदिनकर के अनुसार से बारहव्रतों में लगे दोषों से मुक्त होने के लिए जो प्रायश्चित्त ऊपर में कहे गये हैं वह श्रावक एवं श्राविकाओं में समान ही हैं। यद्यपि श्राविकाओं के लिए कुछ विशेष इस प्रकार हैं–

- सामायिकव्रत या पौषधव्रत में स्त्री का यदि पुरुष से संस्पर्श हो जाये तो **पच्चीस बार नमस्कार मन्त्र** का जाप करना चाहिये।
- पाँचों अणुव्रतों के भंग होने पर स्त्रियों को **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- प्रत्याख्यान होने पर भी कारणवशात उन अतिचारों का सेवन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- रात्रि में चतुर्विध आहार के त्याग की प्रतिज्ञा नहीं करने पर अथवा उसका भंग करने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।
- अप्काय के जीवों को सन्तापित करने पर, षट्पदी (जूं) को मारने पर एवं मठ या चैत्य में निवास करने पर–इन दोषों की शुद्धि के लिए **दस उपवास** का प्रायश्चित्त बताया गया है।
- श्राविका ने जिस तप का प्रत्याख्यान (नियम) किया है यदि उसका भंग होता है तो उसे पुनः वही तप करना चाहिए।

व्यवहार जीतकल्प के अनुसार–

नियमे सति सामायिकस्याकणभङ्गयोः।।69।। उपवासोऽम्बुवह्न-यादिस्पर्शे तत्संख्यया लघुः। राज्ञां धर्मश्च देशावकाशिभङ्गे विलम्बकः।।70।। नियमे सति तत्काले पौषधाकरणे पुनः। साधुदानाद्यकरणे शोधनाय गुरुः स्मृतः।।71।। अथ पौषधभङ्गानां प्रायश्चित्तमुदीर्यते। नैषेधिक्याद्यकरणे स्थण्डिले वा प्रमार्जिते।।72।। कफमूत्रविडुत्सर्गे पृथिव्या अप्रमार्जिते। अप्रमार्जितवस्तूनां ग्रहणक्षेप-योरपि।।73।। अमार्जितकपाटानामुद्घाटनपिधानयोः। अप्रमार्जितकायस्य क्वचित्कण्डूयने तथा।।74।। अप्रमार्जितकुड्यादिस्तम्भावष्टम्भनेपि च। ईर्यापथाप्रतिक्रमे उपध्यप्रतिलेखने।।75।। एतेषु सर्वेष्वाख्यातं विरसं दोषघातनम्। परगात्रस्य संघट्टे ज्योतिषः स्पर्शने लघु।।76।। विनालोमपटीं

विप्रुट्स्पर्शने लघु चेष्यते। पाते च मुखवस्त्रस्य चतुःपादो विशुद्धिकृत्।।77।। अप्रतिलेखिते स्थाने कृते मूत्रविसर्जने। दिवास्वापे च विज्ञेयमेकान्नं शुद्धिहेतवे।।78।। एवं सामायिकेपि स्यात्प्रायश्चित्तं यथोचितम्। *(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 256)*

- नियम होने पर भी सामायिक न करने पर तथा सामायिक का भंग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- सामायिक में जल एवं अग्नि आदि का स्पर्श करने पर जितनी बार स्पर्श किया हो, उतने **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- राजा तथा धर्म के कारण देशावगासिक व्रत का भंग होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- नियम होने पर भी पौषध न करे तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- उपाश्रय से बाहर जाते समय 'निसीहि' आदि न बोलने पर, स्थण्डिलभूमि की प्रमार्जना न करने पर, प्रमार्जन किये बिना वस्तु लेने या रखने पर, प्रमार्जन किये बिना कपाट आदि खोलने या बन्द करने पर, काया का प्रमार्जन किये बिना खुजली करने पर, दीवार-स्तम्भ आदि का प्रमार्जन किये बिना सहारा लेने पर, गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना न करने पर तथा उपधि की प्रतिलेखना न करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- पौषधव्रत में दूसरों के अंगों का स्पर्श होने पर तथा ज्योति का स्पर्श होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- मुखवस्त्रिका कहीं गिर जाये तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- अप्रमार्जित भूमि पर मूत्र का विसर्जन करने पर और पौषध व्रत में दिन लेकर सोने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

मतान्तर से चारों शिक्षाव्रतों का खण्डन होने पर प्रत्येक व्रत के विशोधनार्थ **पाँच उपवास** या **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

5. ज्ञानाचार से संबंधित दोषों के प्रायश्चित्त

'ज्ञानाचारे श्रावकाणां प्रायश्चित्तमुदीर्यते। अकालाविनयाद्येषु ज्ञानभङ्गेषु चाष्टसु।।1।। प्रत्येकं शुद्धये तेषु प्राणाधार उदीरितः। ज्ञानिनां प्रत्यनीकत्वे ज्ञानस्य च सुभोजनम्।।2।। पाठव्याख्यानयोर्विघ्नकरणे पाद

इष्यते। पातने पुस्तकादीनां कक्षाया धारणे तथा।।3।। दुर्गन्धहस्तोद्वहने पादनिष्पूतघट्टने। एषु प्रत्येकमाख्येयं शोधनं धातुहृत्परम्।।4।। जघन्याशात नायां तु ज्ञानस्यैव विलम्बकः। मध्यायां परमश्चैव प्रकृष्टायां द्विपादकम्।।5।। केचिदत्र गुरुं प्राहुर्विशेषादागमस्य च। आशातनायामाचाम्लं तत्सूत्रस्य पुनर्गुरुः।।6।।

(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 254)

- व्यवहार जीतकल्प के अनुसार ज्ञानाचार का भंग होने पर, अकाल, अविनय आदि आठ अतिचारों के लगने पर प्रत्येक अतिचार की शुद्धि हेतु **एकासन** का प्रायश्चित्त बताया गया है।
- ज्ञानी एवं ज्ञान के साधनों के प्रति उपेक्षा भाव रखने पर या उनकी आशातना करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- अध्ययन करते समय एवं व्याख्यान के समय कोई विघ्न उत्पन्न करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- पुस्तक आदि ज्ञान उपकरणों को नीचे भूमि पर रखने से, बगल (कांख) में रखने से, अपवित्र हाथों द्वारा उठाने से अथवा उन पर अपवित्र वस्तु का लेप करने से–इन सभी दोषों में प्रत्येक के लिए **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- ज्ञान की जघन्य आशातना करने पर पुरिमड्ढ, मध्यम आशातना करने पर **एकासन** तथा उत्कृष्ट आशातना करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है। किंच गीतार्थ इसके लिए **उपवास** का प्रायश्चित्त भी कहते हैं।
- सामान्यतः आगम की आशातना करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु उसके किसी सूत्र विशेष की आशातना करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

6. दर्शनाचार से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त

तथा च दर्शनाचारे शङ्कादिषु च पञ्चसु। देशाक्रान्तेषु प्रत्येकं कामघ्नं शुद्धये दिशेत्।।7।। कृतेषु सर्वतस्तेषु निःपापात्पापशोधनम्। असंयमस्थिरीकामे मिथ्यादृष्टिप्रशंसने।।8।। पार्श्वस्थादिषु वात्सल्ये देशादेकान्नमादिशेत्। सर्वतस्तेषु मुक्तं च तथाऽसंयमघोषणे।।9।। देशतः प्राहुरेकान्नं सर्वतो धर्म एव च। यतिप्रवचनश्लाघ्येषु [1]प्रशस्तोपबृंहणम्।।10।। अकृते चैव वात्सल्ये सामर्थ्येऽप्यप्रभावने। प्रत्येकं देशतो ज्ञेयं शोधनं धातुहृत्परम्।।11।। सर्वतश्चाकृतेष्वेषु प्रत्येकं गुरुरिष्यते।

अर्हद्बिम्बाशातनायाः सामान्यकरणे गुरुः।।12।। ततो विशेषाद्बिम्बस्य पदनिष्पूतमर्शने। धूपपात्रकुम्पिकादिवस्त्रादिलगने लघुः।।13।। अविधेर्मार्जने शान्तं विलम्बो बिम्बपातने। केचिदाहुः प्रतिमाया जघन्याशातने लघुम्।।14।। मध्यमाशातने शीतमेकान्नं बहुशातने। *(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 254)*

- दर्शनाचार के शंका आदि पाँचों अतिचारों का देशतः (आंशिक) सेवन करने पर प्रत्येक अतिचार के लिए **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है तथा उनका सर्वतः (पूर्णतया) सेवन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- संयम छोड़ने की भावना करने पर, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करने पर, पार्श्वस्थ आदि के साथ वात्सल्य भाव रखने रूप दोषों का आंशिक रूप से सेवन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है तथा इन दोषों का सम्पूर्ण रूप से सेवन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- मुनि के श्लाघनीय प्रवचन की प्रशंसा न करने पर, साधर्मी भक्ति न करने पर, सामर्थ्य होने पर भी शासन प्रभावना न करने पर–इनमें अंशतः की अपेक्षा प्रत्येक दोष के लिए एक **आयंबिल** तथा सर्वतः की अपेक्षा प्रत्येक दोष के लिए एक-एक **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- सामान्य रूप से अरिहंत परमात्मा के बिम्ब की आशातना करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु जिनबिम्ब पर अपवित्र लेप लगाने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- धूपदानी, कुम्पिका आदि तथा स्वयं के वस्त्रादि जिनबिम्ब के लगने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- अरिहंत परमात्मा के बिम्ब का विधिपूर्वक प्रमार्जन न करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- हाथ से बिम्ब नीचे गिर जाये तो **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- कुछ आचार्य प्रतिमा की जघन्य आशातना में **पुरिमड्ढ**, मध्यम आशातना में **आयंबिल** तथा उत्कृष्ट आशातना में **उपवास** का प्रायश्चित्त बताते हैं।

7. चारित्राचार से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त

अथवा – चरणाचारेष्वप्तेजोवायुभूरुहाम्।।15।। स्पर्शने कारणाभावाद्यतिकर्म समादिशेत्। आगाढतापने प्राहुः पितृकालं

विशुद्धये।।16।। गाढ संतापने धर्मं सजलं तदुपद्रवे। तथा ह्यनन्तकायानां चतुर्द्वित्र्यक्षधारिणाम्।।17।। संघट्टे पितृकालः स्याच्च तुःपादउपद्रवे। एकस्यापि द्वीन्द्रियस्य विनाशे मुक्त इष्यते।।18।। द्वयोर्विनाशे द्विगुणस्त्रयाणां त्रिगुणः पुनः। यावद्द्वीन्द्रियघातः स्यात्तत्संख्या गुरवः स्मृताः।।19।। त्र्यक्षाणां चतुरक्षाणां विनाशेप्येवमादिशेत्। असंख्यानां द्वीन्द्रियाणां विनाशे स्यात्सुखद्वयम्।।20।। सुखत्रयं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियदेहिनाम्। असंख्यानां विघाते स्याच्छुद्धिर्भद्रचतुष्टयात्।।21।। पञ्चेन्द्रियाणां संघट्टे शुद्धये स्यात्सुभोजनम्। अगाढतापने शीतं गाढसन्तापने गुरु।।22।। प्रमादादेकपञ्चाक्षघाते पुण्यं समादिशेत्। एवं प्रमादात्पञ्चाक्षा यावन्तः स्युर्विघातिताः।।23।। तावन्मात्राणि भद्राणि संभवन्ति विशुद्धये। दर्पादेकं च पञ्चाक्षं हत्वा संशुद्धिरन्तिमात्।।24।। एवं दर्पेण यत्संख्याः पञ्चाक्षाः स्युर्विघातिताः। देयास्तावन्त आदेयाः प्राणिनः शुद्धिहेतवे।।25।।

(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 254-255)

- बिना किसी प्रयोजन के अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय का स्पर्श करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है। इन्हें अल्प पीड़ा देने पर **पुरिमड्ढ**, अत्यधिक पीड़ा देने पर **उपवास** तथा इन जीवों को उपद्रवित करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

- अनन्तकाय एवं विकलेन्द्रिय जीवों का स्पर्श करने पर **पुरिमड्ढ** तथा उनको कष्ट देने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है।

- एक संख्या में बेइन्द्रिय जीव का घात करने पर **एक उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- दो संख्या में बेइन्द्रिय जीवों का विनाश करने पर **दो उपवास**, तीन संख्या में बेइन्द्रिय जीवों का नाश करने पर **तीन उपवास**, इसी तरह जितनी संख्या में बेइन्द्रिय जीवों का घात किया जाए, उतनी ही संख्या में **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- तेइन्द्रिय एवं चउरिन्द्रिय जीवों का घात करने पर भी पूर्ववत प्रायश्चित्त आता है।

- असंख्य बेइन्द्रिय जीवों का नाश करने पर **दो बेले** का, असंख्य तेइन्द्रिय जीवों का नाश करने पर **तीन बेले** का और असंख्य चउरिन्द्रिय जीवों

का नाश करने पर **चार बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• पंचेन्द्रिय पशु या निर्बल मनुष्य आदि का स्पर्श होने पर **एकासन**, उन्हें अल्प संतापित करने पर **आयंबिल**, अत्यधिक संतापित करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्रमाद वश एक पंचेन्द्रिय जीव का घात होने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार प्रमादवश जितने पंचेन्द्रिय जीवों का घात हो, उतने ही **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• अहंकार पूर्वक एक पंचेन्द्रिय जीव का घात करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार दर्प पूर्वक जितनी संख्या में पंचेन्द्रिय जीवों का घात हो उतनी ही मात्रा में **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

8. तपाचार से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त

तपोतिचारेऽथ तपः कुर्वतां विघ्ननिर्मितौ। निन्दायां विरसं शुद्ध्यै नियमे सति सर्वदा।।26।। प्रत्याख्यानाकृतौ धर्मौ नियमस्याप्यभावतः। अप्रत्याख्यानतः शुद्धिः श्राद्धस्य विरसं शुभम्।।27।। पौरुषीमन्त्रयुतयोः शान्तपूर्वार्धयोरपि। आचाम्लपूतधर्माणां भङ्गे कार्ये च तत्पुनः।।28।। वमनादिवशाद्भङ्गे शान्तं विरसमेव वा। ग्रन्थिमुष्ट्याभिग्रहादिभङ्गे मध्याह्नमादिशेत्।।29।। दिने दिने लघुप्रत्याख्यानस्याकरणे लघु। मन्त्रयुक्पौरुषीग्रन्थियुतादीनां च भङ्गतः।।30।। कैश्चिदष्टोत्तरशतमन्त्रजापो निगद्यते। *(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 255)*

• किसी के तप में विघ्न डालने पर तथा उसकी निन्दा करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• नवकारसी, पौरुषी, पुरिमड्ढ, एकासना, नीवि, आयंबिल एवं उपवास का प्रत्याख्यान भंग होने पर पुनः उसी प्रत्याख्यान का प्रायश्चित्त आता है।

• वमन आदि के कारण प्रत्याख्यान का भंग होने पर **एकासना** या **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• गंठिसहियं या मुट्ठिसहियं प्रत्याख्यान का भंग होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्रतिदिन नवकारसी आदि के प्रत्याख्यान नहीं करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• नवकारसी, पौरुषी एवं गंठिसहियं प्रत्याख्यान का भंग होने पर कुछ जन एक सौ आठ नमस्कार मन्त्र का जाप करने के लिए भी कहते हैं।

9. वीर्याचार से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्त

तथा वीर्यातिचारेऽपि सामर्थ्ये बहुले सति।।31।। देवार्चनं च स्वाध्यायं तपोदानातिविक्रियाः। कायोत्सर्गावश्यकादेस्तोकत्वकरणे सति।।32।। प्रत्येकं परमं प्राहुस्तपोज्ञानविभासनम्। मायया कुर्वतो धर्मो द्रव्यात्क्षेत्राच्च कालतः।।33।। भावतोऽभिग्रहं किंचित्सत्यां शक्तावगृह्णतः। तथा खण्डयतश्चापि पूर्वार्धं शुद्धिहेतवे।।34।।

(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 255)

• अत्यधिक सामर्थ्य होने पर भी परमात्मा की पूजा, स्वाध्याय, तप, दान आदि उत्साहपूर्वक न किया हो, शक्ति होने पर भी आवश्यक क्रिया रूप कायोत्सर्ग आदि अल्पमात्रा में भी न किया हो, तो प्रत्येक दोष के लिए **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

• कपट पूर्वक तप एवं ज्ञान की आराधना करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• *द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से शक्ति होने पर भी अति सामान्य* अभिग्रह धारण करें, अभिग्रह आदि धारण ही न करें अथवा अभिग्रह लेकर उसे तोड़ दिया जाए तो **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

श्रमण (सर्वविरतिधर) धर्म से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

चारित्रधर्म को अंगीकार करने वाले साधु-साध्वी भी मोक्ष प्राप्ति की पूर्व अवस्था तक कर्मों से आबद्ध होते हैं अतः साधना की परिपक्वता एवं पूर्णता के अभ्यास काल में जाने-अनजाने तथा पूर्व संचित शुभाशुभ कर्मोदयवश किसी तरह की त्रुटि होना संभव है। जैन वांगमय में अकरणीय कृत्य को दोष या अपराध कहा गया है। उन दोषों से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है।

आचारदिनकर के उल्लेखानुसार मुनि जीवन में शक्य दोषों के प्रायश्चित्त निम्न प्रकार हैं–

1. ज्ञानाचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त

अथ ज्ञानातिचारेषु प्रायश्चित्तकरणं काल 1 विनय 2 बहुमानो 3 पधान 4 निह्नव 5 व्यञ्जनार्थं तदुभयातिक्रमादष्टविधोऽतिचारस्तत्र प्रायश्चित्तं यथा–

'उद्देशेऽध्ययने चैव श्रुतस्कन्धे तथाङ्गके। अनागाढेषु चैत्येषु प्रायश्चित्तं क्रमाद्भवेत्।।1।। विरसः पितृकालश्च प्राणाधारो द्विपादकः। अगाढेषु तथैतेषु प्रायश्चित्तं क्रमाद्भवेत्।।2।। कालातिक्रमणं पाद आचाम्लं धर्म एव च। सूत्रार्थभङ्गे सामान्ये कामघ्नमुक्तमेव च।।3।। उद्देशवाचनाद्येषु प्राप्ताप्राप्तेषु कर्हिचित्। अविसर्जनतः काले मण्डल्या अप्रमार्जनात्।।4।। सर्वेषु निर्महोऽमीषु गुरुरक्षासनाशनात्। अनागाढे तथा गाढे भग्ने किंचिच्च सर्वथा।।5।। तत्तद्यागे सक्रिये च भग्ने किंचिच्च सर्वथा। क्रमात्पथ्यं तथा पुण्यं सजलं पथ्यमेव च।।6।। इति ज्ञानातिचारतपः।।

(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 244)

- काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय–इन आठ प्रकार के ज्ञानाचार में जो अतिक्रमण होता है उसे ज्ञानाचार सम्बन्धी अतिचार (दोष) कहते हैं।

- अनागाढ़ सूत्रों के योग में विशेष कारण के होने पर उद्देशक में दोष लगे तो **नीवि**, अध्ययन के सम्बन्ध में दोष लगे तो **पुरिमड्ढ**, श्रुतस्कन्ध के विषय में दोष लगे तो **एकासना** और अंगसूत्र के सम्बन्ध में अतिचार लगे तो **आयंबिल** तप का प्रायश्चित्त आता है।

- आगाढ़ सूत्रों के योगोद्वहन में विशेष कारण से उद्देशक, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध एवं अंगसूत्र के सम्बन्ध में अतिचार लगने पर इन दोषों की विशुद्धि के लिए क्रमशः **पुरिमड्ढ, एकासना, आयंबिल** एवं **उपवास** प्रायश्चित्त कहा गया है।

- सामान्य रूप से सूत्र का भंग होने पर **आयंबिल** तथा अर्थ का भंग होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- आगम सम्बन्धित उद्देशक आदि वाचना में कदाचित योग्य एवं अयोग्य का विचार न किया हो, समय पर वाचना का विसर्जन न किया हो अथवा मण्डली स्थान का प्रमार्जन न किया हो तो इन सभी में **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

- अनागाढ़ योग का भंग किंचित भी होता है और सर्वथा भी होता है। इसी प्रकार आगाढ़योग का भंग किंचित भी होता है और सर्वथा भी। अनागाढ़ योग का किंचित और सर्वथा भंग होने पर दोनों ही परिस्थितियों में **बेले** का

प्रायश्चित्त आता है तथा आगाढ़योग का किंचित भंग होने पर **आयंबिल** का तथा सर्वथा भंग होने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

लघुजीतकल्प के अनुसार–

अथान्यविधिना साधुश्राद्धयोः पापनाशनः। प्रायश्चित्तविधिः शुद्धः शास्त्रदृष्ट्या निगद्यते।।1।। पूर्वं च पञ्चाचारेषु लङ्घितेषु प्रमादतः। प्रायश्चित्तं यतीनां च तत्तद्भेदैरुदीर्यते।।2।। पूर्वं सूत्राशातनायां कामघ्नं शुद्धये विदुः। तस्यामर्थगतायां च चतुःपादः प्रकीर्तितः।।3।। आशातनायां हीनायां मध्यमोत्तमयोरपि। विलम्बः परमः शीतं क्रमात्तप उदाहृतम्।।4।। सामान्याशातनायां तु परमाः पञ्च कीर्तिताः। काले चावश्यके स्वाध्यायप्रस्थापन उज्झिते।।5।। विरसोऽक्षपरित्यागे व्याख्याने धर्म ईरितः। अविधाने निषद्याया गुरोर्निःपाप उच्यते।।6।। कायोत्सर्गवन्दनयोस्त्यागेप्येवं तपः स्मृतम्। अनागाढेषु योगेषु देशभङ्गे च धातुहृत्।।7।। सर्वभङ्गे प्रशमनं प्रायश्चित्तं प्रचक्षते। तथाचागाढयोगेषु देशभङ्गे गुरुः स्मृतः।।8।। सर्वभङ्गे सुन्दरं च पूतं सद्गुणनिन्दने। ज्ञानाचार इदं प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मुनीश्वरैः।।9।। *(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 249)*

- प्रमादवश पंचाचार का उल्लंघन करने पर पूर्वनिर्दिष्ट यति प्रायश्चित्त के अनुसार प्रायश्चित्त देना चाहिए।
- सूत्रों की आशातना करने पर **आयंबिल** तप का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु सूत्रों का सम्यक् अर्थ न करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- आगम सूत्र की जघन्य आशातना में **पुरिमड्ढ**, मध्यम अशातना में **एकासन** एवं उत्कृष्ट आशातना में **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- शास्त्र की सामान्य आशातना करने पर **पाँच एकासने** का प्रायश्चित्त आता है।
- समय पर आवश्यक क्रिया न करने पर और स्वाध्याय-प्रस्थापना करके उसे बीच में छोड़ देने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- व्याख्यान के समय स्थापनाचार्य को स्थापित न करने पर अथवा जान बूझकर लापरवाही कर देने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- गुरु के आसन की आशातना करने पर अथवा गुरु से ऊँचे आसन पर स्थित होकर उन्हें वन्दना करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• गुरु को वन्दन एवं योगोद्वहन सम्बन्धी कायोत्सर्ग न करने पर भी **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अनागाढ़ योगों का देशत: भंग होने पर **आयंबिल** और सर्वभंग होने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• आगाढ़ योगों का देशत: भंग होने पर **उपवास** और सर्वभंग होने पर **तेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• गुणीजनों की निन्दा करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• अनागाढ़ सूत्रों के योग में उद्देशक, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध एवं अंगसूत्र की वाचना हेतु की जाने वाली विधि का भंग होने पर अथवा उसमें अतिचार लगने पर क्रमश: **एकासन, पुरिमड्ढ, एकासन** एवं **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• आगाढ़ सूत्रों के योग में उद्देश, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध एवं अंग की वाचना विधि का भंग होने पर क्रमश: **पुरिमड्ढ, एकासन, आयंबिल** एवं **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• अयोग्य व्यक्ति, मूर्ख या वक्रजड़ को सूत्र की वाचना देने पर **आयंबिल** एवं **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

2. दर्शनाचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त

अथ दर्शनातिचारे नि:शङ्कितादिलङ्घने यथा–'शङ्काद्येष्वतिचारेषु चतु:पादतपो भवेत्। मिथ्योपबृंहणाज्ज्ञेयं प्रायश्चित्तं कमादिदम्।।7।। विलम्ब: सर्वसाधूनां साध्वीनां च सुभोजनम्। सजलं श्रावकाणां चाश्राविकाणां गुरुस्तथा।।8।। साध्वादीनां चतुर्णां च मिथ्याशास्त्राभिभाषणात्। विरसश्च विलम्बश्च प्राणाधारो द्विपादक:।।9।। यतेस्तु दर्शनाचारे परिवारादिपालने। व्रतसाधर्मिकार्थं च प्रायश्चित्तं न किंचन।।10।।' *(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 244)*

• आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि दर्शनाचार के अतिचारों का सेवन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• मिथ्या प्रशंसा करने पर क्रमश: साधु को **पुरिमड्ढ**, साध्वी को **एकासना**, श्रावक को **आयंबिल** एवं श्राविका को **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ के द्वारा मिथ्याशास्त्र, का भाषण करने पर साधु को **नीवि**, साध्वी को **पुरिमड्ढ**, श्रावक को **एकासना**

एवं श्राविका को **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

लघुजीतकल्प के अनुसार–

आशातनायां देवस्य गुरोः स्थाप्यगुरोरपि। शान्तेश्च स्थापनाचार्यनाशे शीतमुदाहृतम्।।10।। कालातिक्रम आदिष्टस्त(थै)स्यैवाप्रतिलेखने। अवतारणकादीनां करणे ग्राह्यमिष्यते।।11।। शङ्कादिपञ्चके कार्यं देशादेव विलम्बकम्। तत्राचार्यस्य परमं पाठकस्य च धातुहृत्।।12।। आचार्यस्य पाठकस्य मुक्तं शीतं क्रमात्क्वचित्। इत्येवं दर्शनाचारे प्रायश्चित्तमुदाहृतम्।।13।। *(आचारदिनकर, पृ. 250)*

- देव, गुरु और स्थापनाचार्य की आशातना करने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।
- स्थापनाचार्य का नाश करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- सम्यक्त्व को दूषित करने वाले शंका आदि दोषों का अंशमात्र भी सेवन करने पर सामान्य मुनि को **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है किन्तु आचार्य को **एकासना** का तथा उपाध्याय को **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- कुछ गीतार्थों के मतानुसार आचार्य एवं उपाध्याय द्वारा इन दोषों का सेवन करने पर क्रमशः **उपवास** एवं **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है।

3. चारित्राचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त

।।अथ चारित्राचारप्रणिधानयोगादिलङ्घने प्रायश्चित्तं यथा– एकेन्द्रियाणां संघट्टे तथा तत्परितापने। महासंतापने चैव तथोत्थापनमेव च।।11।। आद्ये विरसमाख्यातं द्वितीये च विलम्बकम्। प्राणाधारस्तृतीये च चतुर्थे सजलं भवेत्।।12।। विकालाख्यानन्तकायानां संघट्टेऽल्पतापने। महासंतापने चैव तथोत्थापन एव च।।13।। प्रथमे पितृकालश्च द्वितीये विरसस्तथा। तृतीये चैककामघ्नश्चतुर्थे धर्म एव च।।14।। पञ्चेन्द्रियाणां संघट्टे तथेषत्परितापने। अत्यन्ततापने चैव स्थानादुत्थापने क्रमात्।।15।। यतिस्वभावः प्रथमे द्वितीये धातुकृत्पुनः। तृतीये पथ्य उद्दिष्टश्चतुर्थे भद्र एव च।।16।। मृषावादव्रते नूनमदत्तादान एव च। द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्भग्ने हीनाधिकोत्तमे।।17।। कार्यं क्रमादेकभक्तं कामघ्नमुक्तमेव च। लिप्ते पात्रे स्थिते रात्रावनाहारः प्रकीर्तितः।।18।। पुण्यं चैव विधातव्यं निशायां शुष्कसंनिधौ। स्थिते निश्यशने कार्यं सुन्दरं मुनिसत्तमैः।।19।।

दोषाः पिण्डे षोडश स्युरुद्गमे चातिदारुणाः। षोडशोत्पादनायां स्युरेषणायां दशैव ते।।20।। पञ्चग्रासैषणायां च चत्वारिंशच्च सप्त च। एवं पिण्डे सर्वदोषास्तत्प्रायश्चित्तमुच्यते।।21।। आधाकर्मो 1 द्देशिकं 2 च प्रतिकर्म 3 विमिश्रकम् 4। स्थापना 5 प्राभृतं 6 चैव प्रादुःकरणमेव च 7।।22।। क्रीतं 8 तथा च प्रामित्यं 9 परिवर्तित 10 मेव च। अभ्याहृतं 11 तथोद्भिन्नं 12 मालापहृतमेव च 13।।23।। आच्छेद्य 14 मनुसृष्टं च 15 तथा चाध्यवपूरकम् 16। पिण्डोद्गमे षोडशैतेदोषा धीरैरुदाहृताः।।24।। धात्री 1 दूती 2 निमित्तं च 3 जीविका च 4 वनीपकः 5। चिकित्सा 6 क्रोध 7 मानौ 8 च माया 9 लोभौ 10 च संस्तवः 11।।25।। विद्या 12 मन्त्र 13 स्तथा चूर्णं 14 योगो 15 वैमूलकर्म च 16। उत्पादनायां पिण्डस्य दोषाः स्युः षोडशाप्यमी।।26।। शङ्कितं 1 म्रक्षितं 2 चैव निक्षिप्तं 3 पिहितं 4 तथा। संहृतं 5 पादको 6 न्मिश्रे 7 ततश्चापरिमाणकम् 8।।27।। लिप्तं 9 चैव परिभ्रष्टं 10 दश दोषा उदाहृताः। गृहिसाधूभयभवाः पञ्चाथ ग्रासजाः पुरः।।28।। संयोजना 1 प्रमाणं च 2 तथाङ्गारश्च 3 धूमकः 4। कारणं 5 सप्तचत्वारिंशद्दोषाः पिण्डजा अमी।।29।। एतेषां च यथायुक्त्या प्रायश्चित्तमुदाहृतम्। एषणोत्पादना ग्रासोद्गमदोषाः समाः क्वचित्।।30।।

कर्मणोद्देशिके चैव तथा च परिवर्तिते। पाखण्डैः स्वग्रहैर्मिश्रैर्बादरप्राभृतेऽपि च।।31।। सत्प्रत्यवायाहृते च पिण्डे लोभेन चाहृते। प्रत्येकानन्तवत्पाद्यैर्निक्षिप्ते पिण्डितेऽथ वा।।32।। संहृते च तथोन्मिश्रे संयोगाङ्गारयोरपि। द्विविधे च निमित्ते च प्रायश्चित्तं गुरुः परम्।।33।। कर्मण्यौद्देशिके मिश्रे धात्र्यादौ च प्रकाशने। पुरः पश्चात्संस्तवे च कुत्सिते कर्मणि स्फुटम्।।34।। संसक्ते पुनरालिप्ते करे पात्रे च कुत्सितैः। परीते चैव निक्षिप्ते पिहिते संहृतेपि च।।35।। मिश्रिते कुत्सितैरेवमतिमाने प्रमाणके। धूमे दुष्कारणे चैव प्रायश्चित्तं च धातुहृत्।।36।। कृतेऽध्युपकृते पूतौ परम्परगते तथा। अदनान्ते तथा मित्रेऽनन्तरानन्तरागते।।37।। एवमादिषु कर्तव्यमेकभक्तमघापहम्। ओघोपकरणात्पूतौ स्थापिते प्राभृतेपि च।।38।। उद्देशिके लोकपरे प्रमेये परिवर्तिके। परभावे तथाक्रीते स्वग्रामादाहृतेपि च।।39।। मालोपहृतके चादौ जघन्ये दर्दरादिके। चिकित्सायां संस्तवे च सूक्ष्मे च म्रक्षिते त्रिके।।40।। दायकोपिहिते चैव प्रत्येकं च परम्परान्। स्थापिते

पिहिते मिश्रेऽनन्तरे च तथाविधः।।41।। शङ्कायां दोषयुक्तायां कालातिक्रम इष्यते। इतरस्थापिते सूक्ष्मे सरजस्के तथा विधिः।।42।। स्निग्धे च प्रक्षिते मिश्रे स्थापिते च परम्परम्। परिष्ठापनिकायां च विरसं प्राहुरुत्तमाः।।43।। एतेषु सर्वदोषेषु विस्मृतेरप्रतिक्रमात्। पिण्डीभूतेषु कर्तव्यं यतिभिर्धर्ममीहितैः।।44।।

धावने लङ्घने चैव संघर्षे सत्वरं गतौ। क्रीडायां कुहनायां च वान्ते गीते स्मितेऽधिके।।45।। परुषे भाषणे चैव प्राणिनां रुत एव च। स्यात्प्रायश्चित्तमेतेषु पथ्यं गीतार्थभाषितम्।।46।। त्रिविधस्योपधेर्भ्रंशे विस्मृते प्रतिलेखने। क्रमादमोपने श्रेष्ठं पूर्वार्धं च सुभोजनम्।।47।। एतत्रयस्याकरणे कामघ्नं प्राहुरादिमाः। गृहीते शोषिते चैव (सु) धौते चोपमण्डले।।48।। दाने भोगे तथाऽदाने क्रमात्तप उदीरितम्। प्राणाधारश्च कामघ्नः पथ्यः पापहरः स्मृतः।।49।। सर्वेषां चैव करणे पुण्यं प्राहुर्मुनीश्वराः। पतने मुखवस्त्रस्य तथा धर्मध्वजस्य च।।50।। विरमश्च तथा पथ्यो नाशे पथ्यो हितस्तयोः। अनाध्याने च कालस्य परिभोगे च विस्मृते।।51।। आद्ये निःस्नेहमादिष्टं द्वितीये धर्म एव च। अविधेरशनादीनां कालातिक्रम इष्यते।।52।। असंवृतौ च प्राणस्य त्रिभूम्यप्रतिलेखने। निर्मदं कथयन्तीह सर्वस्यासंवृतावथ।।53।। अनादाने तथा भङ्गे कालातिक्रममादिशेत्। तपसां प्रतिमानां चाभिग्रहाणां समानतः।।54।। पक्षे चैव चतुर्मासे वत्सरे चाप्रतिक्रमे। क्रमात्रिपादकामघ्नचतुःपादाः प्रकीर्तिताः।।55।। कायोत्सर्गे वन्दने च तथा शक्रस्तवेपि च। उत्सारिते वेगकृते भग्ने ज्ञेयं क्रमात्तपः।।56।। पूतमध्याह्नपादाख्यं सर्वेषु सजलं पुनः। चरित्राचार आख्यातं प्रायश्चित्तं तपोमयम्।।57।।

(आचार दिनकर भा. 2, पृ. 244-246)

- आचारदिनकर में वर्णित विधि के अनुसार एकेन्द्रिय जीवों का संस्पर्श होने पर **नीवि**, उन्हें सामान्य पीड़ा देने पर **पुरिमड्ढ**, उन जीवों को महासंतापित करने पर **एकासना** तथा उन्हें मारणान्तिक कष्ट देने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

- विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चउरिन्द्रिय) एवं अनंतकाय वनस्पति का संस्पर्श होने पर **पुरिमड्ढ**, उन जीवों को सामान्य पीड़ित करने पर **नीवि**,

उन जीवों को अत्यधिक कष्ट देने पर **आयंबिल** तथा उन्हें प्राण रहित करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• पंचेन्द्रिय जीवों का भी पूर्ववत संस्पर्शन, परितापन, महासंतापन एवं उत्थापन करने पर क्रमश: **एकासना, आयंबिल, बेला** एवं **बेला** तप का प्रायश्चित्त आता है।

• मृषावाद और अदत्तादान इन दोनों का द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव की अपेक्षा आचरण करने पर जघन्यत: **एकासना**, मध्यमत: **आयंबिल** एवं उत्कृष्टत: **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• पात्र वगैरह रात्रि भर भोज्य पदार्थ से लिप्त रह जायें तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• इसी प्रकार बादाम, सुपारी, सौंफ आदि शुष्क वस्तुओं को रात्रि में रखने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• कदाचित सूर्यास्त हो जाने के पश्चात तक भी अशन-पान का सेवन किया हो तो उसके प्रायश्चित्त के लिए **अट्ठम** करना चाहिए।

• मुनि धर्म का पालन करते हुए ज्ञाताज्ञात अवस्था में आहार से सम्बन्धित 47 दोषों के लगने की भी सम्भावना रहती है। उन 47 दोषों के प्रायश्चित्त इस प्रकार हैं–

• कर्म औद्देशिक पिण्ड, परिवर्तित पिण्ड, स्वग्रहपाखण्डमिश्र पिण्ड, बादरप्राभृतिक पिण्ड, सप्रत्यवाद अभ्याहृत पिण्ड के ग्रहण करने पर अथवा लोभवश अतिमात्रा में पिण्ड ग्रहण करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• इसी प्रकार प्रत्येक वनस्पतिकाय अथवा अनंतकाय से निक्षिप्त पिण्ड के ग्रहण करने पर तथा संहृतदोष, उन्मिश्रदोष, संयोजनादोष, अंगारदोष आदि दोषों से युक्त पिण्ड एवं निमित्तपिण्ड का उपभोग करने पर एक **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• औद्देशिक, मिश्र, धात्री, प्रकाशकरण, पूर्व-पश्चात्संस्तव आदि कुत्सित दोषों से युक्त आहार का स्पष्ट रूप से सेवन करने पर अथवा इन दोषों से संसक्त, लिप्त, संलग्न, निक्षिप्त, पिहित, संहृतपिण्ड का उपभोग करने पर अथवा इन कुत्सित दोषों से मिश्रित पिण्ड का उपभोग करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• इसी प्रकार धूमदोष एवं अकारणदोष से युक्त पिण्ड का उपभोग करने पर भी **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• कृतदोष, अध्यवपूरकदोष एवं पूतिदोष से युक्त आहार, मिश्रदोष से युक्त पिण्ड तथा अनन्तर-अनन्तरागत दोष से युक्त पिण्ड ग्रहण करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

• ओघऔद्देशिक दोष (सामान्य रूप से साधुओं के लिए बनाया गया आहार), औद्देशिक दोष, उपकरणपूति दोष, स्थापना दोष, प्राभृतदोष, लोकोत्तरप्रामित्य दोष, लोकोत्तरपरिवर्तित दोष, परभावक्रीत दोष, स्वग्रामअभ्याहृत दोष, मालापहृत दोष, जघन्य-दर्द-रादिक दोष, सूक्ष्मचिकित्सा दोष, सूक्ष्मसंस्तव दोष, प्रक्षितत्रिक दोष, दायक-पिहित दोष, प्रत्येक-पिहित दोष, परम्परापिहित दोष, दीर्घकालीन स्थापित दोष, अनन्तरस्थापित पिहितमिश्र दोष–इसी प्रकार अन्य दोषों की शंका होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• स्थापित सूक्ष्मदोष, सरजस्कदोष, स्निग्धदोष, प्रक्षितदोष, परम्परमिश्रदोष, परिष्ठापनदोष तथा इसी प्रकार के अन्य दोषों का सेवन करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

चारित्राचार सम्बन्धी अन्य दोष

• भिक्षाचर्या एवं भिक्षाग्रहण सम्बन्धी उपरोक्त दोषों की विस्मृति होने पर तथा इनका प्रतिक्रमण किए बिना यदि अनालोचित आहार को ग्रहण कर लिया हो, तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• दौड़ने, लांघने, शीघ्र गति से चलने, संघर्षण करने, क्रीड़ा करने, कौतुक करने, वमन करने, गीत गाने, अधिक हँसने, ऊँचे स्वर से बोलने या कठोर वचन बोलने, प्राणियों की आवाज निकालने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• पूर्वकथित तीन प्रकार की उपधि भ्रान्ति या विस्मृति के कारण प्रतिलेखना के बिना रह जाये, तो उन तीनों उपधि में क्रमशः **नीवि, पुरिमड्ढ** एवं **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

• ज्येष्ठ मुनि को निवेदन किए बिना कोई किसी की उपधि उठा ले जाए, उसका हरण कर ले, उसे धोए, अन्य किसी को दे, स्वामी की आज्ञा के बिना उसका भोग करे तो जघन्य से **एकासन**, मध्यम से **उपवास** एवं उत्कृष्ट से **बेले** का प्रायश्चित्त बताया गया है।

• मुखवस्त्रिका अथवा रजोहरण में से किसी एक के गिरने पर **नीवि** का तथा दोनों के गिर जाने या नष्ट हो जाने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• अविधि पूर्वक भोजन करने पर **नीवि** तथा भोजन में काल का ध्यान न रखने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• भोजन-पानी को ढके नहीं तथा मल-मूत्र एवं कालभूमि का प्रतिलेखन नहीं करें तो **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• नवकारसी-पौरुषी वगैरह के प्रत्याख्यान न करें या प्रत्याख्यान लेकर तोड़ दें तो उसके लिए **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• इसी प्रकार तप प्रतिमा का अभिग्रह नहीं करें अथवा लेकर तोड़ दिया जाए तो उसका भी प्रायश्चित्त **पुरिमड्ढ** कहा गया है।

• पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण नहीं करें, तो क्रमशः **नीवि, आयंबिल** एवं **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• गुरु के पारने के पहले ही कायोत्सर्ग पूर्ण कर लें, कायोत्सर्ग में पाठ उच्चारण जल्दी-जल्दी करें, कायोत्सर्ग का बीच में ही भंग करें, वन्दन एवं शक्रस्तव में भी इसी प्रकार करें तो क्रमशः **नीवि, पुरिमड्ढ** एवं **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

लघु जीतकल्प के अनुसार–

व्रते प्राणातिपाताख्ये पृथ्व्यप्तेजोमरुत्वताम्। प्रत्येकशाखिनां चैव संस्पर्शे विरसं विदुः।।14।। अगाढतापे पूर्वार्धं गाढतापे सुभोजनम्। विघातने पुनः शीतं वदन्ति श्रुतवेदिनः।।15।। सूक्ष्माम्बुतेजसोः स्पर्शे पूर्वार्धं शोधनं परम्। तयोर्बादरयोः स्पर्शे कामघ्नं विदुरादिमाः।।16।। स्पर्शे जलचराणां तु प्राणाधारं विनिर्दिशेत्। जलार्द्रवस्त्रसंघट्टे कथयन्ति सुभोजनम्।।17।। कम्बलेनाप्तेजसोश्च स्पर्शने विरसं मतम्। ज्वलने शङ्कितपदं स्पृष्टे सजलमिष्यते।।18।। हरिताङ्कुरसंमर्दे क्रोशेक्रोशे गुरुर्गुरुः। हरितानां च संस्पर्शे भूयसा बीजमर्दने।।19।। सुन्दरं किसलोन्मर्दे धर्माच्छुद्धिर्दिनेदिने। नद्युत्तारे गुरुः कार्यस्तस्माच्छुद्धिरुदीरिता।।20।। तथाचानन्तकायानां चतुस्त्रिव्द्यक्षदेहिनाम्। संस्पर्शे पितृकालस्तु शीतं मर्दलवादने।।21।। आगाढपरितापे तु प्राणाधारः प्रकीर्तितः। एषां च गाढसंतापे सजलं शोधनं विदुः।।22।। विघाते च तथैतेषां धर्मपुण्यमपि

क्वचित्। असंख्यद्वीन्द्रियध्वंसे पुण्यद्वयमुदाहृतम्।।23।। असंख्यत्रीन्द्रियध्वंसे शुद्धयै पुण्यत्रयं विदुः। असंख्यचतुरक्षाणां ध्वंसे पुण्यचतुष्टयम्।।24।। असंख्यासंज्ञिनां ध्वंसे शोधनं पुण्यपञ्चकम्। षट्पदीबहुनाशे तु कर्तव्यं पुण्यपञ्चकम्।।25।।

पञ्चेन्द्रियाणां संघट्टे प्राणाधारे विशुद्धिकृत्। तेषामागाढसंतापे कामघ्नं पापनाशनम्।।26।। तेषां च गाढसंतापे निःपापः पापखण्डनः। विघातने पुनः पुण्यं बहूनां च विघातने।।27।। तेषां तत्संख्यया पुण्यकारणानि विनिर्दिशेत्। जीवघाते प्रमादेन प्रायश्चित्तं न कोपतः।।28।। अमार्जिताङ्गकण्डूयाकरणे निर्मदं वदेत्। भित्तिस्तम्भासनादौ च संस्पृष्टे मार्जनोज्झिते।।29।। युवतीवस्त्रसंघट्टे कायभूम्यप्रमार्जने। एतेषु सर्वदोषेषु विरसं शोधनं विदुः।।30।। आर्द्रामलकमाने च पृथिवीकायमर्दने। चुलुमात्रसचित्ताम्बु पुरःपाश्चात्यकर्मसु।।31।। द्विक्रोशमात्रमुडुपनौभ्यां प्रतरणेऽम्बुनः। नाभिमात्राम्बुसंस्पर्शे बह्वग्निस्पर्शने तथा।।32।। भक्तस्त्रीदेशराट्वार्ताकरणे क्रोधमानयोः मायायाश्च संविधाने प्रचुरे च प्रमादतः।।33।। शव्द्या (?) दानप्रमाणायां तथा सन्निधिभोजने। तथा च कालवेलायां जलपानेऽङ्घ्रिधावने।।34।। एतेषु सर्वदोषेषु कामघ्नं शोधनं परम्। पूर्वार्धार्हमथो पापशोधनं परिकीर्त्यते।।35।। उपयोगस्याकरणे गोचरस्याप्रतिक्रमे। तयोरविधिना कृत्ये नद्याः संतरणे तथा।।36।। अमार्जने क्रमणयोर्गृहिप्रत्यक्षमेव च। करणे च पुरीषादेर्भाषणे गृहिभाषया।।37।।

तथार्हत्प्रतिमापार्श्वे कफादिपरिमोचने। मात्रादिधारणे चैव ग्लानादीनामपालने।।38।। श्राद्धेभ्यः सहवासिभ्यः कारिते चाङ्गमर्दने। अकालसंवाहनायां शय्याद्यप्रतिलेखने।।39।। द्वारप्रवेशे निर्याणे तद्भूम्यप्रतिलेखने। स्वाध्यायेऽप्यकृते चैव जलान्नग्रहणे तथा।।40।। पारणा मुखवस्त्रं च विनाभुक्तान्नपानयोः। गुरोरग्रेप्यनालोच्य प्राशने भक्तपानयोः।।41।। अकाले च मलोत्सर्गभूमौ गमन एव च। अनाचाराचरणे च चैत्यसाध्वोरवन्दने।।42।। गृहस्थासनभोगे च ईर्यापथ्यप्रतिक्रमे। मुखवस्त्रेण सच्चित्तवस्तुग्रहण एव च।।43।। क्षणमात्रं पदत्राणवाहनादिपरिग्रहे। अचक्षुर्विषये मार्गे परिभ्रमण एव वा।।44।। पात्राद्युपधिवृन्देभ्यो बीजादेरपसारणे। एतेषु शुद्धिविषये कालातिक्रम

इष्यते।।45।। दीर्घाध्वगमने चैव दीर्घकालरुजासु च। वर्षारम्भे वस्त्रशौचे त्रिष्वाचाम्लमुदाहृतम्।।46।। केचिदेष्वेव च प्राहुरादेयं शोधनं परम्। संवत्सरचतुर्मास्योरन्ते ग्राह्यमदूषणे।।47।। चतुर्मासावसाने च सर्वातीचारशोधने। प्राहुः पुण्यं केचिदन्ये ग्राह्यमाहुः सुसाधवः।।48।।

(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 250-251)

- पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु एवं प्रत्येक वनस्पतिकाय का संस्पर्श होने पर **नीवि**, इन जीवों को अल्प संतापित करने पर **पुरिमड्ढ** तथा इन्हें गाढ़ संतापित करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- सूक्ष्म अपकाय एवं तेजसकाय का स्पर्श होने पर भी **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- बादर अपकाय एवं तेजसकाय का स्पर्श होने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- जलचरों का संस्पर्श करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- गीले वस्त्रों का संस्पर्श होने पर भी **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- ऊनी कम्बल से अप्काय एवं तेजस्काय का स्पर्शन करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- तेजस्काय का स्पर्श होने पर भी मन में शंकित होना कि स्पर्शन हुआ या नहीं, **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- यात्रा (पाद विहार) करते समय अंकुरित वनस्पति को कुचलने पर प्रत्येक कोश के हिसाब से **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- हरी वनस्पति का संस्पर्श करने पर तथा अत्यधिक मात्रा में बीजों को कुचलने पर निरन्तर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- पल्लवित कोपलों को जितने दिन तक कुचला जाए उतने दिन के **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- मार्गस्थ नदी को पार करने पर उस दोष की शुद्धि के लिए **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- अनंतकाय एवं विकलेन्द्रिय जीवों को अल्प परितापित करने पर **एकासन** तप का प्रायश्चित्त आता है। उन्हें अत्यधिक संतापित करने पर **आयंबिल** प्रायश्चित्त का विधान बतलाया है तथा उनका घात करने पर **उपवास**

अथवा कभी-कभी **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

- असंख्य बेइन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर **दो बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- असंख्य तेइन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर **तीन बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- असंख्य चउरिन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर **चार बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- असंख्य असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर **पाँच बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- अधिक मात्रा में षटपदी (जूँ) का नाश करने पर भी **पाँच बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- पंचेन्द्रिय जीवों (तिर्यंच पशु, निर्बल मनुष्य आदि) का पीड़ा युक्त संस्पर्श करने पर **एकासन**, उन्हें अल्प संतापित करने पर **आयंबिल**, उनको अत्यधिक पीड़ा देने पर **उपवास** तथा उनका घात करने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- अधिक मात्रा में पंचेन्द्रिय जीवों का घात करने पर संख्या के अनुसार उतने **बेले** करने का निर्देश दिया गया है। यह प्रायश्चित्त जीवों का प्रमादवश घात करने पर ही दिया जाता है। क्रोध पूर्वक हिंसा करने पर अन्य प्रायश्चित्त दिया जाता है।
- अंग का प्रमार्जन किये बिना खुजलाने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- प्रमार्जन किये बिना भित्ति, स्तम्भ, आसन का संस्पर्श करने पर, युवती के वस्त्र का संस्पर्श होने पर तथा शरीर एवं भूमि का प्रमार्जन न करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- गीले आँवलों का एवं पृथ्वीकाय का मर्दन करने पर, चुल्लू मात्र सचित्त जल का स्पर्श करने पर, पूर्व एवं पश्चात कर्म का दोष लगने पर, नदी आदि पार करते समय नाभि तक जल का स्पर्श होने पर, अधिक मात्रा में अग्निकाय का स्पर्श होने पर, राजकथा-देशकथा-स्त्रीकथा एवं भक्तकथा करने पर, क्रोध, मान एवं माया करने पर, अत्यधिक मात्रा में प्रमाद करने पर भिक्षा

में मिला हुआ आहार किसी अन्य को देने पर, उसका संचय करने पर, काल-वेला के समय आहार करने एवं पैर धोने पर– इन सभी दोषों की शुद्धि के लिए उत्कृष्टत: **आयंबिल** और जघन्यत: **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• भिक्षाकाल में 47 दोषों का उपयोग न रखने पर, गोचरी की प्रतिलेखना न करने पर, नदी आदि पार करने पर, प्रमार्जन किए बिना पैर फैलाने पर, गृहस्थ के सामने पैर फैलाने पर, मल-मूत्र आदि का विसर्जन करते समय बोलने पर, गृहस्थों की भाषा में बोलने पर, अरिहंत-प्रतिमा के समीप कफ आदि का त्याग करने पर, लघुनीति आदि रोकने पर, ग्लान आदि की सेवा न करने पर, गृहस्थों से अथवा सहयोगियों से अंग का मर्दन करवाने पर, अकाल में अंग-मर्दन करने पर, शय्या की प्रतिलेखना न करने पर, द्वार में प्रवेश करने तथा निकलने की भूमि का प्रतिलेखन न करने पर, स्वाध्याय किए बिना आहार-पानी ग्रहण करने पर, मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना किए बिना आहार-पानी करने पर, गुरु के समक्ष आलोचना किए बिना आहार ग्रहण करने पर, अकाल में आहार-पानी ग्रहण करने पर, अकाल के समय अकारण मलोत्सर्ग भूमि में जाने पर, चैत्य एवं साधुओं को वन्दन आदि न करने पर, गृहस्थ के आसन का उपयोग करने पर, गमनागमन की आलोचना न करने पर, मुखवस्त्रिका के द्वारा सचित्त वस्तु ग्रहण करने पर, क्षणमात्र के लिए जूते, वाहन आदि का उपयोग करने पर, अज्ञातमार्ग में परिभ्रमण करने पर, पात्र, उपधि आदि में से बीज आदि निकलने पर–इन दोषों की शुद्धि के लिए **पुरिमड्ढ** करना आवश्यक है।

• लम्बे समय तक चलने पर, इसी प्रकार दीर्घ समय तक श्रम करने पर, वर्षा के प्रारम्भ में वस्त्र शुद्धि करने पर– इन तीनों दोषों के लिए **आयंबिल** का प्रायश्चित्त बताया गया है। कुछ आचार्य इन दोषों की शुद्धि के लिए **बेले** का प्रायश्चित्त बताते हैं।

• संवत्सरी एवं चातुर्मास के अन्त में दोष लगने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। कुछ आचार्यों के अनुसार चातुर्मास के अन्त में सर्व अतिचारों की शुद्धि के लिए **बेले** का प्रायश्चित्त आता है तो कुछ मुनिजन **दस उपवास** का प्रायश्चित्त भी बताते हैं।

4. तपाचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त

अथ तप आचारे तप:प्रायश्चित्तं यथा:–'संजाते तु तप:स्नाने

लघ्वम्लपरमाकृतौ। तद्भङ्गे चापरः कार्यो दिवा चाप्रतिलेखिते।।58।। व्युत्सृष्टे निशि मूत्रादौ वासरे शयनेपि च। क्रोधे च दीर्घे भीते च सुरभिद्रव्यसेवने।।59।। अशने चाऽऽसवादीनां कालातिक्रममादिशेत्। ज्ञातिबन्धनभेदार्थे निवासात्खजनालये।।60।। निस्नेहः शेषलोकानामालये च विलम्बकः। एवं च तपआचारे प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्।।61।।'

(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 246)

आचारदिनकर के अनुसार तप नहीं करने पर या उसका भंग होने पर जघन्यत: **पुरिमड्ढ**, मध्यमत: **आयंबिल** एवं उत्कृष्टत: **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- दिन में प्रतिलेखन किए बिना कार्य करने पर, पूर्व में अप्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र आदि विसर्जित करने पर और दिन में शयन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- दीर्घ समय तक क्रोधित या भयभीत रहने पर, सुगन्धित पदार्थों का सेवन करने पर तथा मद्यादि का सेवन करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

यहाँ उपरोक्त कुछ दोष तपाचार से सम्बन्धित प्रतीत नहीं होते हैं। आचार्य वर्धमानसूरि ने अप्रतिलेखना आदि दोषों को किन अपेक्षाओं से तपाचार में अन्तर्भूत किया है यह ज्ञानीगम्य है।

लघुजीतकल्प के अनुसार–

अथो तपोतिचारस्य प्रायश्चित्तमुदीर्यते। यत्तपो भज्यते तत्र तत्तपः पुनरिष्यते।।49।। ग्रन्थ्यादिनियमादीनां निर्गमेऽष्टोत्तरं शतम्। मन्त्रं जपेदिदं प्रोक्तं प्रायश्चित्तं तपोविधौ।।50।। प्रत्याख्यानस्य भङ्गे च कदाचित्स्मृत्यभावतः। तद्दिने न त्यजेत्तच्च प्रत्याख्यानं समाहितः।।51।। विचिन्त्य भग्नो नियमः प्रायश्चित्तान्न शुद्ध्यति। अस्मृत्या चैव भग्नस्य शुद्धिः स्याद्गुरुवाक्यतः।।52।। सत्यां शक्तौ चेन्न किंचिज्ज्ञानाभ्यासस्तपोदमम्। वैयावृत्यं च शुश्रूषा संयमोपायमेव च।।53।। कुर्यात्तस्य विशुद्ध्यर्थं सुभोजनमुदाहृतम्। *(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 251)*

- जिस तप का भंग हुआ हो, प्रायश्चित्त के रूप में पुन: वही तप करना चाहिए।
- गंठिसहियं आदि नियमों का भंग होने पर पूर्व में कही गई तप-विधि का तथा एक सौ आठ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करें।

- प्रायश्चित्त के निमित्त किए जाने वाले तप का भंग होने पर अथवा तप का प्रत्याख्यान न करने पर उस तप के प्रत्याख्यान में ही लीन रहे।
- जानबूझकर नियम का भंग करने पर उसकी शुद्धि प्रायश्चित्त से नहीं होती है। प्रत्याख्यान का विस्मरण होने पर तथा उनका भंग होने पर उसका प्रायश्चित्त गुरु के कथनानुसार करे।
- शक्ति होने पर भी किंचित ज्ञानाभ्यास या तप न करें, इसी प्रकार संयम के साधन रूप वैयावृत्य एवं सेवा-शुश्रुषा न करे तो **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

योगोद्वहन-तप सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

आगमसूत्रों का अध्ययन करने हेतु तप-वाचना आदि से सम्बन्धित जो विधि क्रिया की जाती है उसे योगोद्वहन कहते हैं। यदि मुनियों में स्वाध्याय, ज्ञानार्जन, आगम रहस्य आदि जानने की रुचि हो तो यह तपोनुष्ठान दीर्घ अवधि तक प्रवर्तित रहता है।

असंघट्टितमन्नादि भुङ्क्ते चेद्यो-गसाधकः। निशि संस्थापयेत्पात्रं पाना(न्ना) दिविगुण्ठितम्।।55।। भुक्तेऽन्नपानमात्मघ्नं संनिधं क्वथितं च वा। अकाले च मलोत्सर्गं कुरुते मूत्रमेव च।।56।। स्थण्डिलाप्रतिलेखी च स्थण्डिलातीतकर्मकृत्। अमाधुकरवृत्तिस्थः क्रोधं मानं च कैतवम्।।57।। लोभं वा कुरुते गाढं पूर्णां पञ्चमहाव्रती। विराधयति वा किंचिदश्याख्यानं करोति वा।।58।। पैशुन्यं परनिन्दां च भूमौ वा पुस्तकं क्षिपेत्। कक्षायां च स्थापयेद्वा गृह्णीयाद्दुष्करेण वा।।59।। लेपयेदथ निष्पूतैः पुस्तकाशातनाकरः। एतेषु सर्वदोषेषु निःपापः पापनाशनः।।60।। शुभाशुभस्य शब्दस्य गन्धस्य च रसस्य च। स्पर्शस्य चैव रूप्यस्य रागे सजलमिष्यते।।61।। प्रत्येकमेषां विद्वेषे चतुःपादः प्रकीर्तितः। उपविष्टावश्यके च सजलं पापनाशनम्।।62।। सत्यां शक्तावुपविष्टप्रतिक्रमण एव च। आवश्यकस्याकरणे तमालच्छदनेषु च।।63।। एलालवङ्गक्रमुकचन्द्रजातीफलेषु च। भुक्तेषु चैव ताम्बूलपञ्चसौगन्धिकाशने।।64।। तथा च गुरुसंघट्टे दिवास्वापेप्यकारणात्। गन्त्र्या योजनयाने च पादुभिर्योजनक्रमे।।65।। योजनोऽनक्षविषये साधूनां क्रान्त एव वा। अमाधुकरवृत्तौ च वन्दनेऽविधिना कृते।।66।। योजनं

गमनादेव नौभिः क्षुद्रप्लवैश्च वा। रजन्यां योजनं याने स्त्रीकथाकरणे तथा।।67।। स्वाध्याये च चतुःकालमकृते च प्रमादतः। योजनं च नदीमध्यगमने चरणक्रमात्।।68।। तटिनीदीर्घिकादीनां संचारादप्रतिक्रमे। मण्डलीवञ्चने चैव साधूनाम(भि) निमन्त्रणे।।69।। एतेषु सर्वदोषेषु धर्मः पापविशुद्धिकृत्। प्राशुकानां च कायस्य भक्षणे लघु शोधनम्।।70।। अधिकां विकृतिं भुक्त्वा निर्मदेन विशुद्ध्यति।

पञ्चेन्द्रियस्यैकस्यापि दर्पेण प्रतिघातने।।71।। आदेय (?) न परं शुद्धिर्महापापादुदाहृता। पञ्चेन्द्रियाः पीडिता वा यावन्तः स्युः सजीविताः।।72।। तेषु प्रत्येकमाधेयं भद्रं पापस्य हानये। पुरुषस्त्रीविघाते च प्रत्येकं शुद्धिरन्तिमात्।।73।। मृषावादे तथा स्तेये तथा चैव परिग्रहे। भग्ने जघन्यतः कार्ये प्रत्येकं च सुभोजनम्।।74।। मध्यभङ्गे तथैकान्नं मुक्तमुत्कृष्टभङ्गके। दर्पाद्भङ्गे त्रयाणां च शोधने ग्राह्यमिष्यते।।75।। स्वप्ने भङ्गे त्रयाणां च कायोत्सर्गा उदाहृताः। चतुःप्रमाणैः प्रत्येकं सचतुर्विंशतिस्तवैः।।76।। मैथुनस्य काङ्क्षणे स्याच्छुद्धिः स्यादुत्तमात्परः। कृते च करसंभोगे सुखं शोधनमुत्तमम्।।77।। तस्मिंश्च बहुधा क्लृप्ते कार्यमादेयमञ्जसा। स्त्रिया चैव तिरश्चा वा षण्ढेन पुरुषेण वा।।78।। मैथुने भाषिते क्लृप्ते प्रत्येकं मूलमिष्यते। स्त्रीणां स्तनादि स्पर्शे च विधेयं धातुहृत्परम्।।79।। वस्त्रस्पर्शे च नारीणां यतिधर्ममुदाहरेत्। कैश्चिदष्टोत्तरशतं मन्त्रजाप इह स्मृतः।।80।। दर्पेण ब्रह्मचर्यस्य भङ्गे ग्राह्यमुदाहृतम्। स्वप्नेऽपि व्रतभङ्गेऽत्र कायोत्सर्गे समाचरेत्।।81।। समन्त्रयुक्तसंध्यातः सचतुर्विंशतिस्तवम्। लिप्तपात्रस्थापने च शुष्कसन्निधिभोजने।।82।। प्रत्येकमुपवासेन शुद्धिरस्मादुदाहृता। दोरके मुखवस्त्रे वा पात्रे तृप्तिकरादिके।।83।। निशि लिप्तस्थिते कार्यमुपवासेन शोधनम्। वैकृते सन्निधौ भुक्ते पुण्यमाहुर्विशोधनम्।।84।। दिवा स्थितं दिवा भुक्तमिति भङ्गचतुष्टयम्। आद्ये भङ्गे सुखं प्रोक्तं शेषभङ्गत्रयेऽष्टमम्।।85।। शुष्कसन्निधिरक्षायां मध्याह्नः स्याद्विशोधनम्। तस्मिन्नार्द्रे स्थापिते च निःपापात्स्यादपापता।।86।।

केचिदाहुः शुद्धयेऽत्र पूर्वाह्णं मुनिपुङ्गवाः। आधाकर्माशने मुक्तं शान्तं पूत्यशने तथा।।87।। आत्मक्रीतपरक्रीतभागे कामघ्नमिष्यते। उद्देशिकाशने

शीतं शेषेषु गुरुरिष्यते।।88।। अचिरस्थापनाभोगे निःस्नेहः शोधनं परम्। चिरस्थापनभोगे तु कालातिक्रम उच्यते।।89।। सूक्ष्मप्राभृतिकाभोगे यतिकर्म विशोधनम्। बादरप्राभृते भुक्ते चतुःपादो विशोधनः।।90।। पृथिव्या रूषिते भुक्ते निर्मदं प्राहुरादिमाः। हस्ते पादे पङ्कलिप्ते कालातिक्रम इष्यते।।91।। अप्तेजोवायुसंमिश्रभुक्ते सजलमादिशेत्। एभिराप्रक्षिते चैव भुक्ते श्रेष्ठौघघातनः।।92।। परग्रामाहृते भुक्ते स्वीयग्रामाहृते तथा। क्रमादाद्ये च सजलं द्वितीये लघु कीर्तितम्।।93।। प्रत्येकवनवाट्यम्बुतेजः स्वप्राशकेषु च। भुक्तेषु मुक्त आख्यातः प्रमादे पापशोधनः।।94।। पश्चात्कार्ये च कामघ्नं शोधनं परमं मतम्। सच्चित्तैः पिहिते चापि संश्रिते वापि चाशने।।95।। भुक्ते गुरुश्चाल्पतरे दायके लघुरिष्यते। दायकेन्ये च कामघ्नं परे स्याच्छुद्धये गुरुः।।96।। कालान्यथो वाऽतीते च कृते निर्मद इष्यते। तस्यैव परिभोगे च चतुःपादो विशुद्धये।।97।।

शय्यातरीयपिण्डस्य खादने धर्ममादिशेत्। तथा वर्षति पर्जन्ये आनीतेऽन्नेऽम्लमादिशेत्।।98।। रूक्षपारिष्ठापने च स्निग्धत्यागे तथैव च। क्रमाच्छोध्नमाख्यातं पूर्वाह्णं धर्म एव च।।99।। अन्नादिलिप्तपात्रस्य स्थापने शीतमिष्यते। अकाले च विडुत्सर्गे विट्पात्रे कृमिसंभवे।।100।। सविट्कृमित्वे वन्तौ च प्रत्येकं कार्य उत्तमः। उपधौ पतिते प्राप्ते विस्मृतः प्रतिलेखने।।101।। परैर्निवेदिते वापि जघन्ये विरसं विदुः। मध्यमे पितृकालश्च शान्तमुत्कृष्ट एव च।।102।। सर्वोपधौ च पतिते लब्धे मन्त्रजपः स्मृतः। अश्वेन्दुवेद 412 संख्यातस्ततः शुद्धिः प्रजायते।।103।। जघन्ये चोपधौ किंचिद्विस्मृतः प्रतिलेखने। कामघ्नं शोधनं प्रोक्तं धर्मे धौते च हारिते।।104।। मध्यमे चोपधौ धौते हारिते शीतमादिशेत्। उत्कृष्टे हारिते धौते शोषणे धर्म एव च।।105।। सर्वोपधौ हारिते च गुरोरग्रे निषेदिते। उच्छृङ्खले च शुद्धौ स्यात्पुण्यं मुनिभिरादृतम्।।106।। उपधिस्तु जघन्यः स्याद्गुच्छकः पात्रकेसरी। पात्रस्य स्थापनं चैव मुखवस्त्रं चतुर्थकम्।।107।। मध्यमश्चोपधिः प्रोक्तः पटलाः पात्रबन्धनम्। रजोहतिश्चोलपट्टो रजस्त्राणं च मात्रकम्।।108।। उत्कृष्टश्चोपधिः पात्रं द्वौ कल्पौ सूत्रसंभवौ। एक ऊर्णामयश्चैवमुपधेः कल्पनां विदुः।।109।। सर्वोपधौ च वर्षासु धौते ग्राह्यं विशुद्धये। अदत्ते गुरुणा भुक्ते दत्तेऽन्येभ्यः

सुखं वदेत्।।110।। मुखवस्त्रेप्यसंघट्टे तथा धर्मध्वजेपि च। शुद्धये विरसः कैश्चिदनाहार उदाहृतः।।111।। अलब्धेऽप्यथ लब्धे वा हारिते मुखवाससि। उपवासः परं शुद्ध्यै सूरिभिः समुदाहृतः।।112।। धर्मध्वजे हारिते च न प्राप्ते सुखमिष्यते। धर्मध्वजाननसिचोरेवं तप उदीरितम्।।113।। नष्ट योश्च द्वयोः प्राप्तौ निःपापः शुद्धिहेतवे। अप्राप्तौ च द्वयोः कार्यं पुण्यमेव मनीषिभिः।।114।। मुखवस्त्रप्रतिलेखे यतिकर्म समाचरेत्। धर्मध्वजाप्रतिलेखे पितृकालो विशोधनम्।।115।। अकृते घस्रचरमप्रत्याख्याने च निर्मदम्। प्रत्याख्याने पानसत्के संख्यास्वाध्यायजेऽथवा।।116।। प्रत्याख्यानेप्यरचिते सुभोजनमपापकृत्। चतुर्विधाहारजे च प्रत्याख्यानेप्यनिर्मिते।।117।। सन्ध्यायां च विभाते च प्रत्याख्यानाद्यनुद्यमे। कृतस्यापि हि भङ्गे च पितृकालो विशुद्धिकृत्।।118।। स्थण्डिलाप्रतिलेखे च यतिकर्मविशुद्धये। स्थण्डिलेऽन्यप्रतिलेखिते मलोत्सर्गतो निशि।।119।। गुरु सर्वपात्रभङ्गे सजलं शोधनं परम्। सूचीनिर्गमने मुक्तं प्राहुः केचित्तथान्तिमम्।।120।। कपाटं वा कटं वा प्रतिलिख्योद्घाटनाल्लघु। षट्पदीगाढसंघट्टे प्राणाधारो विशोधनः।।121।। कलस्याप्रतिक्रमणे गोचरस्याप्रतिक्रमे। नैषेधिक्याद्यकरणे यतिकर्म समादिशेत्।।122।। *(आचारदिनकर, भा. 2 पृ. 251-253)*

- योगवाही अप्रासुक आहार का भक्षण करे, रात्रि के समय भोजन-पानी को पात्र से ढ़ककर रखे अथवा रात्रि में उसका क्वाथ बनाए, अकाल में मलमूत्र का विसर्जन करे, अप्रतिलेखित स्थण्डिलभूमि पर मलमूत्र का विसर्जन करे, शरीर शुद्धि करे, मधुकरीवृत्ति से गोचरी ग्रहण न करे। प्रगाढ़ रूप से क्रोध, मान, माया एवं लोभ करे, पंच महाव्रतों की पूर्णरूप से विराधना करके उसकी आंशिक आलोचना ही करे, दूसरों की चुगली और निन्दा करे, पुस्तक को भूमि पर या बगल में रखे या उसे दूषित हाथों से ग्रहण करे–तो इन सब दोषों की शुद्धि हेतु **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- शुभ या अशुभ शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के प्रति क्रमशः राग रखने पर **आयंबिल** का तथा द्वेष करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- आवश्यक क्रिया बैठकर करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- शक्ति होने पर भी बैठे-बैठे प्रतिक्रमण करे अथवा आवश्यक क्रिया न

करे, तम्बाकू, इलायची, लवंग, सुपारी, चन्द्र जाति के फलों का भक्षण करे, ताम्बूल (पान) आदि पंच सुगन्धी वस्तुएँ खाए, गुरु का संस्पर्श करे, बिना कारण दिन में सोए, वाहन से एक योजन तक जाए, जूते पहनकर एक योजन तक जाए, मधुकरीवृत्ति से आहार ग्रहण न करे, गुरु आदि को अविधिपूर्वक वंदन करे, एक योजन तक नदी आदि को नौका द्वारा पार करे, अल्पमात्रा में पानी में भींगे, रात्रि में एक योजन तक जाए, स्त्रीकथा करे, प्रमादवश स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करे, पैरों से एक योजन तक नदी के मध्य जाए, भोजन मण्डली का पालन न करे और साधुओं को आहार हेतु निमन्त्रित न करे–इन सब दोषों की शुद्धि के लिए **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- प्रासुककाय (जैसे प्रवाल–पिष्टी) का भक्षण करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- अत्यधिक विकृति का सेवन करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।
- अहंकार पूर्वक एक भी पंचेन्द्रिय जीव का घात करने पर उस महापाप की शुद्धि **बेले** के तप से भी नहीं होती है।
- सामान्यत: जितने पंचेन्द्रिय जीवों को पीड़ित करें, उतनी ही संख्या में **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- पुरुष तथा स्त्री का घात करने पर प्रत्येक के लिए **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- योगोद्वहन करते समय मृषावाद, अदत्तादान और परिग्रहव्रत का भंग करने पर प्रत्येक व्रत के लिए जघन्य से **एकासन**, मध्यम से **आयंबिल** और उत्कृष्ट से **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- अहंकार पूर्वक इन तीनों व्रतों का भंग करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- इन तीनों व्रतों का स्वप्न में भंग होने पर प्रत्येक व्रत के लिए चार लोगस्ससूत्र के कायोत्सर्ग का प्रायश्चित्त आता है।
- मैथुन की आकांक्षा करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। किन्हीं परिस्थितियों में **बेले** का प्रायश्चित्त भी आता है।
- हस्त मैथुन करने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- नपुंसक पुरुष, तिर्यंच और स्त्रियों के साथ मैथुन की अत्यधिक इच्छा

होने पर तथा मैथुन योग्य भाषण करने पर प्रत्येक के लिए **मूल** प्रायश्चित्त आता है।

- स्त्रियों के स्तन आदि का स्पर्श होने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- योगकाल में स्त्रियों के वस्त्रों का स्पर्श होने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है। कुछ गीतार्थों की मान्यतानुसार पूर्वदोष के प्रायश्चित्त के लिए एक सौ आठ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करना चाहिए।
- अहंकार पूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का खण्डन करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- स्वप्न में ब्रह्मचर्य का भंग होने पर नमस्कारमन्त्र सहित एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- आहार से खरड़ा हुआ पात्र रह जाये तथा शुष्क भोजन का संचय करें, तो प्रत्येक के लिए **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- रात्रि के समय डोरी, मुखवस्त्रिका, पात्र एवं तिरपणी आदि आहार से लिप्त रह जाए, तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- विगय द्रव्यों का संचय करने पर एवं उनका सेवन करने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- योगोद्वहन काल में शुष्क वस्तु का संचय करने पर **पुरिमड्ढ** का तथा आर्द्रित वस्तु का संचय करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है। कुछ मुनिजन इसके लिए **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त भी बताते हैं।
- आधाकर्म से दूषित आहार करने पर **उपवास** तथा पूतिकर्म से दूषित आहार करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- आत्मक्रीत एवं परक्रीत से दूषित आहार करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।
- औद्देशिक से दूषित आहार करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है। आहार सम्बन्धी शेष दोषों से दूषित आहार करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- अल्पकालीन स्थापना दोष से दूषित आहार करने पर उत्कृष्टत: **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है। दीर्घकालीन स्थापना दोष से दूषित आहार करने पर

पुरिमड्ढ का प्रायश्चित्त आता है।

• सूक्ष्म प्राभृतिकादोष से दूषित आहार करने पर **एकासना** का प्रायश्चित्त आता है। बादर प्राभृतिकादोष से दूषित आहार करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• पृथ्वीकाय को पीड़ित करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• हाथ और पैर कीचड़ से लिप्त होने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• अप्काय, तेउकाय और वायुकाय से मिश्रित आहार करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• परग्रामाहृतदोष से दूषित आहार ग्रहण करने पर क्रमश: **आयंबिल** एवं **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्रमाद पूर्वक अप्रासुक प्रत्येक वनस्पतिकाय एवं अग्नि का सेवन करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• पश्चात्कर्म से दूषित आहार करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है। अन्य मतानुसार **एकासना** का प्रायश्चित्त भी आता है।

• सचित्त से पिहित एवं संश्रित आहार का सेवन करने पर **उपवास** तथा अल्पदूषित पिण्ड का सेवन करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• दायक की प्रशंसा करके प्राप्त किए गए आहार का सेवन करने पर सामान्यतया **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है किन्तु उत्कृष्टत: **उपवास** का प्रायश्चित्त भी आता है।

• आहार का समय बीतने के पश्चात आहार करे, तो **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है तथा उस अतिक्रमित आहार का विशेष रूप से परिभोग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• शय्यातर के पिण्ड का भक्षण करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• वर्षा के समय लाये गए अन्न का आहार करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्रात:काल में लाए गए आहार को सन्ध्या तक रखने पर तथा वर्षाऋतु में अतिरिक्त आहार को फेंक देने पर क्रमश: **पुरिमड्ढ** एवं **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• अन्नादि से खरड़े हुए पात्रों को रखने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

• अकाल के समय मल का विसर्जन करने पर, मलोत्सर्ग के पात्र में कृमि होने पर, तथा उल्टी होने पर इन सभी में **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• उपधि कहीं गिर गई हो और पुन: प्राप्त होने पर वह प्रतिलेखन करने से रह गई हो अथवा दूसरों से उस उपधि का प्रतिलेखन करने हेतु कहें, तो जघन्य प्रकार की उपधि के लिए **नीवि**, मध्यम प्रकार की उपधि के लिए **पुरिमड्ढ** तथा उत्कृष्ट प्रकार की उपधि के लिए **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

• सर्व उपधि कहीं गिर जाए और पुन: प्राप्त हो जाए, किन्तु प्रतिलेखन करने से रह जाए तो **चार सौ बारह नमस्कार मन्त्र** के जाप का प्रायश्चित्त आता है।

• कदाचित विस्मृति वश जघन्य उपधि (मुँहपत्ति, पात्र केसरिका, गुच्छा, पात्र स्थापनक) की प्रतिलेखना रह जाए, तो **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है तथा उसे कोई चुरा ले जाए या धोए तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• मध्यम उपधि (पड़ला, पात्रबंध, चोलपट्टक, मात्रक, रजोहरण, रजस्त्राण) को कोई चुरा ले जाए या धोने ले जाए या धोये तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• सम्पूर्ण उपधि चुरा ली जाए अथवा आचार्य आदि को निवेदन किए बिना स्वेच्छा से उपधि वगैरह ले ली जाए, तो मुनियों को **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• वर्षाकाल में सर्व उपधि को धोने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• गुरु को दिखाए बिना आहार करने पर तथा अन्य को देने पर **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।

• गुरु के रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका का प्रमाद पूर्वक संस्पर्श (संघट्टा) होने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है। कुछ लोग इसके लिए **उपवास** का प्रायश्चित्त भी बताते हैं।

• मुखवस्त्रिका कहीं गिर जाए अथवा चुरा ली जाए, तो उत्कृष्टत: **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• यदि रजोहरण चुरा लिया जाए और पुनः नहीं मिले, तो **बेले** का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार रजोहरण के लिए **अट्ठम** का प्रायश्चित्त भी बताया गया है।

• मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण को नष्ट करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण कहीं गिर जाएं और पुनः प्राप्त भी हो जाएं, किन्तु प्रतिलेखना करने से रह जाएं तो **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण गुम होकर पुनः न मिले तो **बेले** का प्रायश्चित्त बताया गया है।

• मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना न करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

• रजोहरण की प्रतिलेखना न करने पर **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• सन्ध्या के समय प्रत्याख्यान न करने पर **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• प्रत्याख्यान का भंग करने पर उस प्रत्याख्यान के समतुल्य बताए गए नमस्कार मन्त्रों की संख्या का जप करना चाहिए।

• प्रत्याख्यान करने के बाद भूल जाएं कि मैंने प्रत्याख्यान किया या नहीं, तो उसके लिए **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

• संध्या के समय चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान न किया हो और प्रभातकाल में नवकारसी, पौरुषी आदि का प्रत्याख्यान न किया हो या प्रत्याख्यान करने पर भी वह प्रत्याख्यान टूट गया हो, तो उसके लिए **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।

• स्थण्डिल भूमि का प्रतिलेखन न करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

• अन्य मुनि के द्वारा प्रतिलेखित भूमि पर रात्रि में मलोत्सर्ग करने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• सभी पात्रों को खंडित करने पर उत्कृष्टतः **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• मांगकर लाई गई सूई खो जाने पर **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। कुछ मुनिजन इसके लिए **दस उपवास** का प्रायश्चित्त बताते हैं।

- बिना प्रतिलेखन किए द्वार खोलें या संथारा बिछाएँ तो **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है।
- षट्पदी (जूँ आदि) को संस्पर्शित करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- समय पर प्रतिक्रमण न करें, गौचरी का प्रतिक्रमण न करें, नैषेधिक आदि दसविध सामाचारी का पालन न करें, तो **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

वीर्याचार में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त

निवेशाच्च प्रमादौघादासने प्रतिलेखिते। तत्कार्ये यत्र सवधे प्रायश्चित्तमुदाहृतम्।।62।। अनापृच्छ्य स्थापने च गुरूनसर्वेषु वस्तुषु। अरसः स्यात्तपःशक्तिगोपनाच्च सुभोजनम्।।63।। मुक्तः सर्वासु मायासु दर्पात्पञ्चेन्द्रियादिषु। उद्वेजने च संक्लिष्टकर्मणां करणेऽपि च।।64।। दीर्घमेकत्र वासे च ग्लानवत्स्वाङ्गपालने। सर्वोपधस्तथा पूर्वपश्चाच्चा-प्रतिलेखने।।65।। एतेषु सर्वदोषेषु चतुर्मासव्यतिक्रमे। वत्सरातिक्रमे चापि साधुभिर्ग्राह्यमिष्यते।।66।। तथा च छेदरूपेपि प्रायश्चित्ते समाहितः। न गर्वे तद्विधानेन दध्याद्वाचंयमः क्वचित्।।67।। छेदादिकरणाच्छुद्धे प्रायश्चित्ते महामुनिः। कुर्वीत तपसा शुद्धिं जीवकल्पानुसारतः।।68।।

(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 246)

आचारदिनकर के उल्लेखानुसार- प्रमादवश अप्रतिलेखित घास के आसन पर बैठें, तो उसका वही प्रायश्चित्त आता है, जो एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा का बताया गया है।

- शक्ति का गोपन करने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- अहंकार पूर्वक पंचेन्द्रिय आदि को पीड़ा दें, संक्लिष्ट कर्म करें, शरीर के पोषण हेतु लम्बे समय तक रूग्ण मुनि के साथ रहें तथा प्रथम एवं अन्तिम पौरुषी के समय सर्व उपधि की प्रतिलेखना नहीं करे-इन सब दोषों की शुद्धि चौमासी या संवत्सरी के दिन में भी नहीं करने पर-**दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु गर्व के कारण इसकी तरफ कोई ध्यान न दिया जाए तो उसको **छेदरूप** प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है।

लघु जीतकल्प के अनुसार-

वीर्यातिचारप्रस्तावे तपःकर्म यथाविधि। पाक्षिकादौ विधेयं हि स्वशक्तया क्षुल्लकादिभिः।।123।। तेषाम करणे दोषः प्रायश्चित्तमिहोच्यते।

पाक्षिके तपसि भ्रष्टे क्षुल्लकस्य तु निर्मदः।।124।। यतेर्यतिस्वभावश्च स्थविरस्य विलम्बकः। उपाध्ययस्य कामघ्ना आचार्यस्य गुरुः पुनः।।125।। चतुर्मासतपोभ्रंशे क्षुल्लकस्य विलम्बकः। प्राणाधारस्तु वृद्धस्य भिक्षोः सजलमिष्यते।।126।। उपध्यायस्य धर्मस्तु तथाचार्यस्य वै सुखम्। सांवत्सरतपोभ्रंशे क्षुल्लकस्य सुभोजनम्।।127।। स्थविरस्य द्विपादं तु भिक्षोरुत्तम ईरितः। उपाध्यायस्य भद्रं तु तथाचार्यस्य सुन्दरम्।।128।। *(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 253)*

लघुजीतकल्प के मतानुसार आचार्य वर्धमानसूरि कहते हैं कि वीर्यातिचार सम्बन्धी जो तप विधि पाक्षिक आदि में करने योग्य है उन्हें यथाशक्ति क्षुल्लक आदि के द्वारा किया जाना चाहिए। तदनुसार–

- पाक्षिक हेतु बताया गया तप न करने पर क्षुल्लक को **नीवि**, मुनि को **एकासन**, स्थविर को **पुरिमड्ढ**, उपाध्याय को **आयंबिल** एवं आचार्य को **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- निर्दिष्ट चातुर्मासिक तप न करने पर क्षुल्लक को **पुरिमड्ढ**, वृद्धमुनि को **एकासन**, सामान्य मुनि को **आयंबिल**, उपाध्याय को **उपवास** एवं आचार्य को **बेले** का प्रायश्चित्त आता है।
- वार्षिक तप न करने पर क्षुल्लक को **एकासन**, स्थविर को **आयंबिल**, सामान्य मुनि को **उपवास**, उपाध्याय को **बेला** एवं आचार्य को **तेले** का प्रायश्चित्त आता है।

किंच सामान्य दोष

- मुनि यदि लोच की पीड़ा से चलायमान हो जाए तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- बाईस परीषहों को सहन न कर पाए, तो भी **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।
- अध्यापन करवाते समय हाथ उठाया जाय तो उस दोष की शुद्धि **प्रतिक्रमण** से होती है।
- मुमुक्षु यदि सद्गुरु की आज्ञा का विधि पूर्वक पालन न करे तो **नीवि** का प्रायश्चित्त आता है।

• अविधि पूर्वक गुरु वन्दन करें अथवा उनसे बातचीत करें तो **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• रोग आदि में चिकित्सा करवाने पर **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है।

• कामभाव के बिना भी स्त्रियों के साथ अत्यधिक संलाप (वार्तालाप) करने पर, अन्य तैर्थिकों से वाद-विवाद करने पर, कौतुकवश उन्हें देखने पर तथा मिथ्याशास्त्र का अध्ययन करने पर **आयंबिल** का प्रायश्चित्त आता है।

• पार्श्वस्थ एवं अवसन्न भिक्षु के साथ रहने पर या उनके जैसा आचरण करने पर **मूल** प्रायश्चित्त आता है।

• बलात्कार पूर्वक सर्व व्रतों का भंग करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। *(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 257)*

ध्यातव्य है कि प्रायश्चित्त अधिकार में जहाँ भी मुनि या साधु के नाम का उल्लेख हो वहाँ साध्वी का भी समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ श्रावक या गृहस्थ के नाम का सूचन हो वहाँ श्राविका का अन्तर्भाव कर लेना चाहिए।

द्रव्य दोषों की प्रायश्चित्त विधि

आचार्य वर्धमानसूरि ने भाव प्रायश्चित्त के समान द्रव्य प्रायश्चित्त का भी निरूपण किया है। जिस प्रकार भाव दोषों के प्रायश्चित्त के रूप में दस प्रकार की प्रायश्चित्त विधि बताई गई है उसी प्रकार बाह्य (द्रव्य) दोषों की शुद्धि के लिए पाँच प्रकार के प्रायश्चित्त बताए गए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

1. स्नान के योग्य 2. करने के योग्य 3. तप के योग्य 4. दान के योग्य और 5. विशोधन के योग्य।

(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 258)

सभी प्रकार के सुगन्धित पदार्थों से युक्त जल द्वारा नख से शिखा पर्यन्त स्नान करना, पंचगव्य एवं देवता के स्नात्र जल से आचमन करना। इसी प्रकार तीर्थों के जल एवं गुरु के चरणों से स्पर्शित जल द्वारा आचमन करना स्नान योग्य प्रायश्चित्त कहा जाता है।

जिन पापों की शुद्धि शान्तिक-पौष्टिक कर्म, तीर्थयात्रा, देव-गुरु की पूजा, संघ-पूजा आदि धार्मिक क्रियाओं के द्वारा होती हो, उन्हें विचक्षणों ने करणीयार्ह (करने के योग्य) प्रायश्चित्त कहा है।

जिन पापों की शुद्धि एकभक्त, रसत्याग, फलाहारी एकासन द्वारा होती हो, उन्हें तपोर्ह (तप के योग्य) द्रव्य प्रायश्चित्त कहा गया है।

जिन पापों की शुद्धि पुस्तक आदि खरीदकर साधुओं को देने पर हो, उसे दानार्ह (दान करने योग्य) बाह्य प्रायश्चित्त कहा जाता है।

स्नान योग्य प्रायश्चित्त

चण्डालम्लेच्छभिल्लानां खराणां विड्भुजामपि। काकानां कुर्कुटानां च करभाणां शुनामपि।।22।। मार्जाराणां व्याघ्रसिंहतरक्षुफणिनामपि। परनीचकारुकाणां मांसास्थ्नां चर्मणामपि।।23।। रक्तमेदोमज्जसां च पुरीषमूत्रयोरपि। शुक्रस्य दन्तकेशानामज्ञातानां च देहिनाम्।।24।। मृतपञ्चेन्द्रियाणां च तथोच्छिष्टान्न

(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 258-259)

चाण्डाल, म्लेच्छ, भील, नापित, भड़भूँजा, कौआ, मुर्गा, ऊँट, कुत्ता, बिल्ली, व्याघ्र, सिंह, सर्प, अन्य नीच जाति, कारु (शिल्पी), मांस, अस्थि, चर्म, रक्त, मेद, मज्जा, मल-मूत्र, शुक्र-दन्त, केश एवं अज्ञात व्यक्ति के देह, मृत पञ्चेन्द्रिय एवं उच्छिष्ट आहारभोजी (भिखारी) का स्पर्श होने पर उसकी शुद्धि स्नानमात्र से हो जाती है। मुनिजनों की शुद्धि तो जल के छिड़काव मात्र से हो जाती है। इस प्रकार उक्त प्राणियों और अशुचि द्रव्यों का स्पर्श होने पर उसकी शुद्धि स्नान से होती है।

करने योग्य प्रायश्चित्त

विरुद्धाचारजाद्दोषात्करणीयैर्विशुद्ध्यति। शूद्रात्प्रतिग्रहं कृत्वा ब्राह्मणे गोप्रदानतः।।27।। शुद्धिं भजेत्क्षत्रियस्तु शूद्रसेवी तथैव हिं। अशास्त्रं व्यवहारं च ज्योतिषं कथयन्द्विजः।।28।। मासमात्रेण मौनेन शुद्धिं प्रामोति नान्यथा। अस्वाध्यायकरो विप्रो मौनी पक्षाद्विशुद्ध्यति।।29।। विप्रक्षत्रियवैश्यानां त्रुटिते कण्ठसूत्रके। पतिते वा प्रमादेन न वदेन्न क्रमं चरेत्।।30।। परिधायान्यसूत्रं तु चरेत्पादं वदेद्वचः त्रिरात्रं यवभोजी च जपेन्मन्त्रमघापहम्।।31।। दैन्यमर्थिनकारं च स्वस्तुतिं परगर्हणम्। विधाय क्षत्रियः कुर्यात्त्रिरात्रं जिनपूजनम्।।32।। कृतोपवासः कनकं दत्त्वा तस्माद्विशुद्ध्यति। संग्रामाद्गोग्रहादन्ययुद्धस्थानादयुद्धकृत्।।33।। निवृत्तः क्षत्रियः शान्तं कृत्वा दानाद्विशुद्ध्यति। युद्धे हत्वारिसैन्यं तु स्नानादेव विशुद्ध्यति।।34।। इति

करणीयार्हं द्रव्यप्रायश्चित्तं संपूर्णम्।।।। भेषजार्थं च गुर्वादिनिग्रहे परबन्धने। महत्तराभियोगे च तथा प्राणार्तिभञ्जने।।35।। यद्यस्य गोत्रे नो भक्ष्यं न पेयं क्वापि जायते। तद्भक्षणे कृते शुद्धिरुपवासत्रयान्मता।।36।। अन्यद्विजाशनं भुक्त्वा पूर्वाह्णाच्छुद्ध्यति। द्विजः। शुद्ध्यत्येकान्नभोजी च भुक्त्वा च क्षत्रियाशनम्।।37।। वैश्याशनं पुनर्भुक्त्वा शुद्धः स्यादुपवासकृत्। शूद्रान्नभोजनाच्छुद्धिस्तस्यान-शनपञ्चकात्।।38।।

(आचारदिनकर, भा.2, पृ. 259)

विरुद्ध आचरण से उत्पन्न दोषों की शुद्धि करने योग्य प्रायश्चित्त से होती है। यदि शूद्र का दान ग्रहण करें, तो ब्राह्मण को गौ प्रदान करने से उस दोष की शुद्धि होती है। शूद्र सेवी क्षत्रिय की शुद्धि भी उसी प्रकार होती है। ब्राह्मण, शास्त्र के विरुद्ध व्यवहार करें तथा शास्त्र के विरुद्ध ज्योतिष का कथन करें, तो एक मास का मौन करने मात्र से उसकी शुद्धि हो जाती है। स्वाध्याय न करने वाले विप्र की शुद्धि एक पक्ष का मौन करने से होती है। विप्र, क्षत्रिय एवं वैश्य के कण्ठ का सूत्र टूट जाए या प्रमादवश कहीं गिर जाए, तो वह न तो बोले और न ही चले। अन्य सूत्र धारण करके ही पैरों से चले और मुँह से बोले। उसकी शुद्धि के लिए तीन दिन तक जौ का सेवन करे तथा मन्त्र का जाप करे। यदि क्षत्रिय दीन-दु:खियों को दान न दे, स्वयं की प्रशंसा एवं दूसरों की निन्दा करे, तो तीन दिन तक परमात्मा की पूजा एवं उपवास करे तथा सोने का दान देकर उस पाप की विशुद्धि करे। यदि क्षत्रिय संग्राम, गौग्रह (अर्थात् गाय की रक्षा) तथा युद्धस्थान में युद्ध न करे, उससे निवृत्त या शान्त होकर बैठ जाए, तो उसकी शुद्धि दान देने से होती है। युद्ध में शत्रु सैन्य का नाश करने पर उस पाप की विशुद्धि स्नान करने से हो जाती है।

तप योग्य प्रायश्चित्त

कारुभोजनतः शुद्धिर्दशानशनतो ध्रुवम्। क्षत्रियश्चैव शूद्रान्नं भुक्त्वा प्रायेण शुद्ध्यति।।39।। वैश्यस्तु शूद्रकार्वन्नं भुक्त्वा चाम्लेन शुद्ध्यति। शूद्रश्च कारुकान्नादः शुद्ध पूर्वाह्णतो भवेत्।।40।। म्लेच्छस्पृष्टान्नभोगे च शुद्धिः स्यादुपवासतः। अन्यगोत्रे सूतकान्नं भुक्त्वा शुद्धिस्तथैव हि।।41।। ब्रह्मस्त्रीभ्रूणगोसाधुघातिनामन्नभोजनात्। दशोपवासतः शुद्धिं कथयन्ति पुरातनाः।।42।। आहारमध्ये जीवाङ्गं दृष्ट्वान्नं तत्तदेव हि। भोक्तव्यमेकभक्तेन

द्वितीयेहनि शुद्ध्यति।।43।। एवं भोजनकाले च श्वमार्जाररजस्वलाः। स्पृष्ट्वा चर्मास्थ्यन्यजातीन् शुद्धिर्जीवाङ्ग-वद्भवेत्।।44।।

(आचारदिनकर भा. 2, पृ. 259)

औषधि के निमित्त, गुरु आदि के आदेश से, दूसरों के बन्धन में होने पर, महत्तरा अभियोग की दशा में तथा प्राण नाश की सम्भावना हो–ऐसी दशा में, जिन गोत्रों का न तो आहार किया जाता है और न ही कभी पानी पीया जाता है, ऐसे व्यक्तियों के घर का आहार-पानी ग्रहण करने पर **तीन उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। ब्राह्मण यदि किसी अन्य जाति के ब्राह्मण का आहार खाता है, तो उसे **पुरिमड्ढ** का प्रायश्चित्त आता है। ब्राह्मण क्षत्रिय का आहार ग्रहण करता है, तो **एकासन** का प्रायश्चित्त आता है। ब्राह्मण वैश्य का आहार ग्रहण करता है, तो **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है तथा शूद्र का आहार ग्रहण करने पर **पाँच उपवास** का प्रायश्चित्त आता है। शिल्पी का आहार ग्रहण करने पर **दस उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

इसी प्रकार क्षत्रिय यदि शूद्र का अन्न खाए, तो उसकी शुद्धि भी उसी प्रकार होती है। वैश्य यदि शूद्र का अन्न खाए, तो उसकी शुद्धि भी उसी प्रकार होती है। वैश्य यदि शूद्र एवं कारु (शिल्पी) का अन्न खाए, तो **आयम्बिल** करने से शूद्र होता है। शूद्र यदि कारु का अन्न खाए, तो **पुरिमड्ढ** करने से शुद्ध होता है। म्लेच्छ से संस्पर्शित भोजन का सेवन करे, तो **उपवास** करने से शुद्धि होती है। अन्य गोत्र के व्यक्ति के यहाँ सूतक का अन्न खाने पर भी उपवास करने से ही शुद्धि होती है। ब्राह्मण, स्त्री, भ्रूण, गाय एवं साधु का घात करने वाले के यहाँ का अन्न खाने पर विद्वानों ने उसकी शुद्धि के लिए **दस उपवास** का प्रायश्चित्त बताया है। आहार के मध्य में प्राणियों के शरीर के अंग (जीवांग) दिखाई देने पर भी वह आहार उसी प्रकार कर ले, तो दूसरे दिन **एकासना** करने से उस पाप की शुद्धि होती है। इसी प्रकार भोजन के समय कुत्ता, बिल्ली, रजस्वला स्त्री, चर्म, अस्थि एवं अन्य जाति के लोगों का स्पर्श होने पर भी उसकी शुद्धि जीवांग की शुद्धि के समान ही करें।

दान योग्य प्रायश्चित्त

यतिभिश्च विरोधाच्च सौहृदात्पापकारिभिः। सम्बन्धिन्यादिसंभोगात्प्रमादात्साधुनिन्दनात्।।45।। सत्यां विपुलशक्तौ च दीनाद्यप्रतिपालनात्।

शरणागतजन्तूनां सत्यां शक्तवरक्षणात्।।46।। निन्द्यकर्मकृतेश्चैव गुर्वाज्ञालङ्घनादपि। पितृमातृणां संतापात्तीर्थमार्ग-निवर्तनात्।।47।। शुद्धधर्मापहासाच्च हास्यार्थं परकोपनात्। इत्यादिदोषात्संशुद्धिर्दानादेव हि जायते।।48।। तत्संपत्त्यनुसारेण व्यलीकानुमतेरपि। गुरवो विप्रसाधुभ्यो दापयन्ति तदर्पयेत्।।49।।

(आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 259)

यतियों के सत्कार्यों का विरोध करे, पापकार्यों में उनकी सहायता करे, उनसे यौन सम्बन्ध स्थापित करे, प्रमादवश साधु की निन्दा करे, शक्ति होने पर शरणागत जीवों की रक्षा न करें, निन्दनीय कर्म का सेवन करे, गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करे तथा माता-पिता को पीड़ित करे, तीर्थयात्रा से बीच में ही लौट आए, मस्करी हेतु शुद्धधर्म का उपहास करे, दूसरों पर क्रोध करे–इत्यादि दोषों की शुद्धि शक्ति अनुसार दान देने से होती है। झूठी साक्षी दें, तो उस पाप की विशुद्धि के लिए विप्रों को दान दिया जाए एवं गुरुओं को आहार आदि दिया जाए।

विशोधन योग्य प्रायश्चित्त

उषित्वा म्लेच्छदेशेषु म्लेच्छीभूय परिग्रहात्। म्लेच्छबन्दिनिवासाच्च प्रमादाभक्ष्यभक्षणात्।।50।। अपेयपानतश्चैव म्लेच्छादिसहभोजनात्। परजातिप्रवेशाच्च विवाहकरणादिभिः।।51।। महाहत्याविरचनात्कु-प्रतिग्राहिसंगमात्। कुप्रतिग्रहतः शुद्धि स्यात्पूर्वोक्ताद्विशोधनात्।।52।।

(आचारदिनकर, भा., 2पृ. 259)

म्लेच्छदेश में उत्पन्न म्लेच्छ स्त्री का परिग्रहण करें, म्लेच्छ बन्दीजनों के साथ निवास करें, प्रमाद के कारण अभक्ष्य वस्तुओं का भक्षण करें, अपेय द्रव्य का पान करें, म्लेच्छ आदि के साथ भोजन करें, अन्य जाति में प्रवेश करें, अन्य जाति में विवाह करें, कुप्रतिग्राही (दुराचारी) के साथ महाहत्या का षड्यन्त्र रचें, महाहत्या करें, कुप्रतिग्राही का साथ करें–इन सभी की शुद्धि इसमें बताई गई विशोधन विधि से करें।

दिगम्बर ग्रन्थों में उल्लिखित प्रायश्चित्त दान

जिस प्रक्रिया के द्वारा अध्यवसायों का विशोधन एवं संचित पाप कर्मों का पृथक्कीकरण किया जाता है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। दिगम्बर आम्नाय में भी

प्रायश्चित्त-दान से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ हैं और आज भी यह विधि अक्षुण्ण रूप से प्रवर्तित है। हमें 'प्रायश्चित्त संग्रह' नाम की एक कृति उपलब्ध हुई है जिसमें भिन्न-भिन्न रचयिताओं की चतुर्विध प्रायश्चित्त विधियाँ संकलित हैं।

प्रथम रचना का नाम 'छेदपिण्ड' है। वह इन्द्रनन्दि योगीन्द्र विरचित (लगभग वि.सं. 1376 की) प्राकृत भाषा में है। इसकी संस्कृत छाया पं. पन्नालालजी द्वारा की गई है। इस ग्रन्थ में प्रमुख रूप से साधु के छह व्रतों में लगने वाले दोष, पाँच समिति में लगने वाले दोष, पाँच इन्द्रियों से होने वाले दोष, लोच में लगने वाले दोष, आवश्यक क्रियाओं के दोष, अचेलक-अस्नान-अदंतधोवण-अगृहशय्या-एकासन आदि मूलगुण में लगने वाले दोषों एवं उत्तरगुण सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त कहे गये हैं। इसी क्रम में प्रायश्चित्त के दस प्रकार, गृहस्थधर्मी के बारह व्रत एवं पंचाचार आदि में संभावित दोषों के प्रायश्चित्त बताये गये हैं।

दूसरी रचना 'छेदशास्त्र' के नाम से है। इसका दूसरा नाम छेदनवति भी है क्योंकि इसमें नवति (90) गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ के मूलकर्त्ता एवं वृत्तिकर्त्ता का नाम अज्ञात है। उसकी संस्कृत छाया पं. पन्नालालजी द्वारा लिखी गई है। इस ग्रन्थ में भी पूर्ववत जैन मुनि के मूलगुणों एवं उत्तरगुणों सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त का निरूपण है। इसी के साथ गृहस्थवर्ग (श्रावक-श्राविका) से सम्बन्धित प्रायश्चित्त अधिकार के प्रारम्भ में कहा गया है कि जो प्रायश्चित्त मुनियों के लिए हैं वह श्रावकों के निमित्त भी होता है किन्तु उत्तम श्रावकों को मुनि की अपेक्षा आधा प्रायश्चित्त दिया जाता है, ब्रह्मचारी को उससे भी आधा प्रायश्चित्त दिया जाता है, मध्यम श्रावकों को उससे भी आधा प्रायश्चित्त दिया जाता है तथा जघन्य श्रावकों को उससे भी आधा प्रायश्चित्त दिया जाता है।

वहाँ किन्हीं आचार्य के मतानुसार यह उल्लेख भी किया गया है कि ऋषियों के प्रायश्चित्त का उत्तम श्रावक को दूसरा भाग, ब्रह्मचारी को तीसरा भाग एवं सामान्य श्रावक को चतुर्थ भाग जितना प्रायश्चित्त देना चाहिए। इस ग्रन्थ में गृहस्थधर्मी के बारहव्रतों आदि से सन्दर्भित दोषों की चर्चा न करके जिन पूजा, पाँच उदुम्बर, मृतसूतक आदि किंच दोषों के प्रायश्चित्त कहे गये हैं।

तीसरी रचना का नाम 'प्रायश्चित्त चूलिका' है। इसके कर्त्ता का नाम गुरुदास एवं वृत्ति रचयिता का नाम नन्दिगुरु बतलाया गया है, यद्यपि नामों में

सन्देह है। इस कृति में छेद पिण्ड की भाँति ही साधु के मूलगुण, उत्तरगुण एवं श्रावक-श्राविका सम्बन्धी सामान्य दोषों के प्रायश्चित्त बतलाये गये हैं।

चौथी रचना आचार्य अकलंक विरचित है। जिसमें, गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए उनमें संभावित सामान्य दोषों के प्रायश्चित्त का वर्णन है।

दिगम्बर परम्परा में 'प्रायश्चित्त विधान' के नाम से भी एक रचना प्राप्त होती है। उसके रचयिता श्री आदिसागर अंकलीकर हैं जिन्हें 20वीं शती के महान आचार्यों में प्रमुख माना जाता है। यह रचना 108 गाथाओं में निबद्ध है। इसमें वर्णित प्रायश्चित्त विधि संक्षेप में इस प्रकार है–

गृहस्थ सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

- यदि नित्य नैमित्तिक जापादि अनुष्ठानों का समय उल्लंघित हो जाये तो एक सौ आठ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करना चाहिए। इससे प्रमादजन्य दोष की निवृत्ति हो जाती है।।9।।
- पंचपरमेष्ठी की त्रिकाल पूजा करनी चाहिए। यदि प्रमाद वश एक काल का उल्लंघन हो जाये तो उसकी शुद्धि के लिए एक सौ आठ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करना चाहिए।।10।।
- परमात्मा की पूजा अर्चना एवं स्तुति तीनों संध्याओं में करने का नियम है। यदि इन कालों में से एक अथवा दो समय का उल्लंघन हो जाये तो क्रमशः नवकार मन्त्र की एक या दो माला गिननी चाहिए।।11।।
- यदि एक दिवस के अनुष्ठान की हानि हो जाये तो उस शुद्धि के लिए जिन प्रतिमा का नब्बे कलशों से महाभिषेक करना चाहिए तथा तीन सौ पुष्प चढ़ाते हुए तीन सौ बार नवकार मन्त्र का जाप करना चाहिए।।13-14।।
- तीन दिन पर्यन्त यदि दैनिक धर्माचरण की हानि हो जाये तो प्रतिमा का नब्बे कलशों से अभिषेक कर एक हजार महामन्त्र (दश माला) का जाप करे।।17।।
- यदि चार दिन आचार विधि का पालन न हुआ हो तो उसकी शुद्धि हेतु प्रथम दिन की अपेक्षा चार गुणा कुम्भ स्थापित करें, सम्यक प्रकार से चारों को सूत्र वेष्टित करें। चारों दिशाओं में एक-एक तथा मध्य में चार कुम्भ स्थापित करे। पुनः चारों विदिशाओं में बारह कलश स्थापित करें। इस प्रकार विधिवत अभिषेक क्रिया कर अपने दोषों की शुद्धि की जानी चाहिए।।19।।

• यदि गृहस्थ की चार दिनों तक षट्कर्म आचार की हानि हो गई हो तो उस दोष की शुद्धि के लिए उपरोक्त संख्या से पच्चीस कलश अधिक स्थापित कर प्रतिमा का अभिषेक करें तथा पूर्वोक्त विधि से पूजा स्तवन आदि भी करें। यह सर्व विधि पाँच दिवस पर्यन्त करनी चाहिए। इसी के साथ दो हजार बार नवकार मन्त्र का जाप करें। दो दिन एकासन करें तथा प्रत्येक दिशा में कायोत्सर्ग करें। इसका अभिप्राय यह है कि महामन्त्र का दो हजार जाप दिग्वंदना पूर्वक करना चाहिए।।20-21।।

• यदि दस दिवस पर्यन्त नित्य अनुष्ठान का समय उल्लंघित हो जाये तो उस दोष शुद्धि के लिए पाँच सौ कलश स्थापित कर प्रतिमा की अभिषेक पूर्वक पूजा-अर्चना करें। फिर चारों संध्याओं में एक-एक हजार (दशमाला) का जाप करें तथा कुल चार हजार पुष्प चढ़ायें। प्रथम जाप निन्यानवें बार करें तथा चार दिन एकासन करें। सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ प्रभु का गुण स्मरण करें। सोलह कायोत्सर्ग पूर्वक सोलह स्तोत्रों का पाठ करें।।23-25।।

• यदि एक सप्ताह दैनिक नियम का क्रम उल्लंघित हो जाये तो कलशों को सूत्र से सात बार वेष्टित कर क्रम से स्थापित करें। चारों दिशाओं में बीस-बीस कुम्भ संयोजित करें। चारों कोणों विदिशाओं में छब्बीस-छब्बीस घण्टों की स्थापना करें। मध्य में नौ घण्टों की स्थापना करनी चाहिए।।26।।

• यदि एक पक्ष दैनिक षट्कर्मों का अनुष्ठान नहीं कर सके तो उस दोष की निवृत्ति के लिए इक्यासी कलशों को सम्यक् प्रकार से सूत्र द्वारा वेष्टित करें, उनमें सर्वौषधि मिश्रित जल भरें और पंच नवकारमन्त्र का जाप करते हुए जिनबिम्ब का अभिषेक करें। नमस्कार मन्त्र का जाप पचपन सौ बार करें तथा दो उपवास और छह एकाशन करें। पंचपरमेष्ठी का गुण स्मरण करते हुए बीस कायोत्सर्ग करें।।27-29।।

• यदि एक महीने पर्यन्त आवश्यक कर्म की क्षति हो जाये तो सर्वौषधि मिश्रित जल से परिपूर्ण एक सौ आठ कलशों को स्थापित कर यथोक्त विधि से जिन प्रतिमा का अभिषेक करना चाहिए तथा इक्यासी सौ महामन्त्र का एकाग्रचित्त से जाप करें। इसी के साथ तीन उपवास, दो ऊनोदरी तप एवं तीस कायोत्सर्ग करें।

• यदि प्रमादवश प्रतिमाजी का कोई अंग या उपांग भंग हो गया हो तो उसकी शुद्धि के लिए शीघ्र ही खण्डित प्रतिमा जिस धातु की हो उसी परिमाण में वैसी ही नई प्रतिमा बनवायें। जब तक प्रतिमा तैयार नहीं हो तब तक, लघुमास आदि कठोर व्रत करें। वर्षाकाल में तीन, शीतकाल में दो एवं ग्रीष्मकाल में एक उपवास करना लघुमास तप है। फिर विधिवत प्रतिष्ठा करवाकर उसका सर्व शुद्धि से महामस्तकाभिषेक करें। कल्याण नामक तप भी करें–एक निर्विकृति, एक पुरुमण्डल, एक एकलठाणा एक आचाम्ल और एक क्षमण को कल्याणक तप कहते हैं। नीरस भोजन को निविकृति कहते हैं। मुनि की भोजनवेला पुरुमण्डल कहलाता है। एक स्थान पर स्थिर होकर भोजन करने को एकस्थान (एकलठाणा) कहते हैं। कांजी का आहार आयंबिल कहलाता है तथा एक उपवास को क्षमण कहते हैं।

• जिसके द्वारा प्रतिमा खण्डित हुई हो वह दस हजार परिमाण महामन्त्र का जाप करें। मुनि-आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाओं को सौ बार प्रसन्नता से दान दें अथवा चारों वर्णों के ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों को सौ संख्या में दान दें। यथाशक्ति भोजन आदि करावें।।48-53।।

• यदि स्वप्न में अथवा प्रमाद से व्रत का खंडन हो गया हो, तो उसकी शुद्धि हेतु महामस्तकाभिषेक करें। प्रतिदिन ज्ञान, ध्यान आदि से संयुक्त रहकर यथाशक्ति एक हजार पात्रों को यथोचित् दान करें। उपर्युक्त तप का आचरण करें। प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशी पर्व को उपवास करें। विधिवत उपवास आदि हो जाने पर अन्त में एक कल्लाण तप का आचरण करें।।54-57।।

• षड्कर्मों के सम्पादन में यदि प्रमादवश बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का घात हो जाये तो उससे उत्पन्न पाप की शान्ति के लिए क्रमशः एक, दो एवं तीन पौषध तथा सौ, दो सौ और तीन सौ महामन्त्र का जाप करना चाहिए।

• असंज्ञी पंचेन्द्रिय का घात हो जाये तो उसके प्रायश्चित्त हेतु एक कल्लाण और विधिवत दश हजार (100 माला) महामन्त्र का जप करना चाहिए। पूर्ण शुद्धि से महामस्तकाभिषेक, दश कायोत्सर्ग तथा शक्ति अनुसार दान देना चाहिए। संज्ञी पंचेन्द्रिय का घात होने पर उपर्युक्त विधि से द्विगुणित प्रायश्चित्त के रूप में तीन उपवास और दो महामस्तकाभिषेक करें। ।।65-69।।

• भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व यदि कोई मृत जीव दिख जाये तो उस अन्न का त्याग कर अन्य भोजन करना चाहिए।।71।।

• भोजन प्रारम्भ करने के बाद मृत प्राणी का कलेवर दिखें तो उस दिन भोजन का परित्याग कर देना चाहिए।।72।।

• अस्पृश्य-चाण्डाल आदि को देखने पर, उनका वचन सुनने पर तथा मार, काट आदि अशुभ वचन सुनने पर भोजन का त्याग कर देना चाहिए।।74।।

• उपद्रवकारी विडाल (बिल्ली) आदि के द्वारा चूहा पकड़ते हुए देख लिया जाए, उनका घात करते हुए अथवा प्रदीप आदि से आकृष्ट हो पतंग आदि को मरते हुए देखने पर भोजन का त्याग कर देना चाहिए।।75।।

• भोजन करते वक्त दीपक बुझ जाये अथवा अन्य लोकनिन्द्य पदार्थ पके भोजन में दिख जाये तो उसी समय भोजन का त्याग कर देना चाहिए।।77।।

• यदि भोजन सचित्त मिश्रित हो और प्रमादवश देखने में न आये और खाने में आ जाए, तो ज्ञात होने पर भोजन का त्याग करें और स्नान करे ।।79।।

• यदि भोजन रजस्वला स्त्री द्वारा परोसा गया हो तो उसका पूर्णत: त्याग करें और बर्तन को राख से माँजकर अग्नि संस्कार द्वारा उसकी शुद्धि करें।।80।।

• यदि अभक्ष्य या अयोग्य भोजन का सेवन हो जाये तो उसकी शुद्धि के लिए उपवास करें और दश कायोत्सर्ग एवं जप भी करें।।82।।

• अरिहंत परमात्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए चार प्रकार का सूतक बतलाया है। पहला स्त्रियों के मासिक धर्म से होने वाला, दूसरा प्रसूति से होने वाला, तीसरा मृत्यु से होने वाला और चौथा संसर्ग से होने वाला माना गया है।

• किसी बच्चे का जन्म होने पर अथवा नाभिच्छेदन के बाद किसी बालक के मर जाने पर माता-पिता और कुटुम्बियों को पूर्ण सूतक मानना चाहिए। ।।90-92।।

• यदि अपने माता-पिता एवं भाई दूर देश में मर जायें तो पुत्र और भाई को दस दिन का सूतक मानना चाहिए तथा दूर के कुटुम्बियों को एक दिन का सूतक मानना चाहिए।।93।।

• प्रत्येक महीने में रजोधर्मी स्त्री को उस रजोधर्म के होने के समय से तीन दिन तक सूतक रखना चाहिए, चौथे दिन वह स्त्री केवल पति के लिए शुद्ध मानी जाती है तथा दान और पूजा आदि कार्यों में पाँचवें दिन शुद्ध मानी जाती है।।94।।

• रजोधर्म में वह स्त्री पहले दिन चाण्डालिनी के समान, दूसरे दिन अब्रह्मचारिणी के समान और तीसरे दिन धोबिन के समान मानी जाती है। इस प्रकार तीनों दिन अशुद्ध रहती है। चौथे दिन पूर्ण स्नान कर लेने पर वह शुद्ध होती है।।95।।

• क्षुल्लिका एवं आर्यिका आदि दीक्षित स्त्रियों को सामर्थ्य हो तो रजस्वला होने पर तीनों दिन उपवास करना चाहिए अथवा एकान्त में धुली हुई सफेद धोती पहनकर मौन पूर्वक एक से अधिक विगय का त्याग करते हुए एकासन करना चाहिए।।96-98।।

• क्षुल्लिका एवं आर्यिका को ऋतु धर्म में तीनों दिन अत्यन्त शान्त भाव के साथ प्रसन्न मन से व्यतीत करना चाहिए और चौथे दिन दोपहर के समय शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए।।99।।

• यदि पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो प्रसव माता को दश दिन तक किसी को भी नहीं देखना चाहिए। तदनन्तर बीस दिन तक घर के किसी भी कार्य को नहीं करना चाहिए। इस प्रकार पुत्र उत्पन्न करने वाली स्त्री को एक महीने का सूतक लगता है। उसके बाद वह जिन पूजा और पात्रदान के लिए शुद्ध मानी जाती है।।101।।

• यदि कन्या उत्पन्न हुई हो तो उसे दश दिन तक किसी के दर्शन नहीं करने चाहिए और बीस दिन तक घर के काम-काज का त्याग करना चाहिए। उसके बाद पन्द्रह दिनों तक भी उसे जिनपूजा आदि नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार कन्या उत्पन्न स्त्री के लिए पैंतालीस दिन का सूतक माना गया है।।102-103।।

मुनि सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

• यदि किसी मुनि के द्वारा बारह की संख्या में एकेन्द्रिय जीवों का अज्ञानता से घात हो जाये तो **एक उपवास**। यदि छः की संख्या में बेइन्द्रिय जीवों का घात हो जाये तो **एक उपवास**, यदि चार तेइन्द्रिय जीवों का घात हो

जाये तो **एक उपवास**, यदि तीन चतुरिन्द्रिय जीवों का घात हो जाय तो **एक उपवास**, इसी प्रकार छत्तीस एकेन्द्रिय जीवों का घात हो जाये तो प्रतिक्रमण सहित **तीन उपवास**, इसी प्रकार तीन गुणा जीवों के घात का तीन गुणा प्रायश्चित्त आता है। यदि मुनि से अज्ञानतावश एक सौ अस्सी एकेन्द्रिय, नब्बे बेइन्द्रिय, साठ तेइन्द्रिय, पैंतालीस चतुरिन्द्रिय जीवों का वध हो जाये तो प्रत्येक के लिए एक-एक **पंचकल्लाण** का उत्कृष्ट प्रायश्चित्त आता है।

• मूलगुण के चार भेद हैं–स्थिर मूलगुणचारित्रधारी, अस्थिर मूलगुणचारित्राधारी, प्रयत्न चारित्र मूलगुणधारी, अप्रयत्न चारित्र मूलगुणधारी। ये चार भेद उत्तरगुणधारियों के भी होते हैं। इस प्रकार मुनियों के आठ भेद हो जाते हैं। इन सबके प्रायश्चित्त अलग-अलग हैं। जैसे–प्रथम मुनि को **तीन उपवास**, दूसरे को प्रतिक्रमण पूर्वक एक पंच कल्लाण, तीसरे को प्रतिक्रमण पूर्वक तीन उपवास और चौथे को प्रतिक्रमण पूर्वक एक लघु कल्लाण है। इसी प्रकार अनुक्रम से उपर्युक्त प्रायश्चित्त उत्तरगुण वालों के भी होते हैं। यह एक पंचेन्द्रिय असंज्ञी जीव के वध का प्रायश्चित्त है। यदि पूर्व निर्दिष्ट आठ प्रकार के मुनियों द्वारा नौ प्राण वाले असंज्ञी का अनेक बार वध हो जाये तो क्रमशः **तीन उपवास**, **एक कल्लाण, दो लघु कल्लाण, तीन पंचकल्लाण** का प्रायश्चित्त कहा गया है।

• उत्तरगुण को धारण करने वाला साधु प्रमादवश एकेन्द्रियादि से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवों के गमनागमन को रोके तो एक कायोत्सर्ग करें। यदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय के गमनागमन को रोके तो एक उपवास करें। यदि मूलगुणधारी साधु प्रमाद से एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवों के गमनागमन को रोके तो एक कायोत्सर्ग करें, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का गमनागमन रोके तो **उपवास** करें। यदि प्रयत्नाचार एवं अप्रयत्नाचार मुनियों के द्वारा एकेन्द्रिय या असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का गमनागमन रोका जाये तो एक कायोत्सर्ग और संज्ञी पंचेन्द्रिय का गमनागमन रोकें तो **एक उपवास** करें।

• यदि किसी मुनि को मारने के भाव उत्पन्न हो जायें तो एक वर्ष तक निरन्तर **तेला-तेला** पारणा करें तथा श्रावक की हिंसा के भाव उत्पन्न होने पर छह महीने तक **तेला-तेला** पारणा करें। बालहत्या, स्त्रीहत्या, गौ हत्या हो जाने पर अनुक्रम से तीन महीना, डेढ़ महीना और साढ़े बाईस दिन तक **तेला-तेला**

पारणा करें। परमति पाखण्डी को मारने पर छः महीने और उनके भक्त को मारने पर तीन महीने तक **तेला-तेला** पारणा करें।

• इसी प्रकार ब्राह्मण को मारने पर आदि-अन्त में **तेला** करें और छः महीने तक **उपवास** और **एकासन** करें। क्षत्रिय को मारने पर आदि-अन्त में **तेला** और तीन महीने तक एकान्तर **उपवास** करें। वैश्य को मारने पर डेढ़ महीने तक एकान्तर **उपवास** और आदि-अन्त में **तेला** करें। किन्हीं आचार्यों के मतानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को मारने का प्रायश्चित्त आठ महीने, चार महीने, दो महीने और एक महीने तक एकान्तर **उपवास** और आदि- अन्त में **तेला** बतलाया है। इसी प्रकार घास-फूस खाने वाले पशु के मर जाने पर **चौदह उपवास**, मांसभक्षी पशु के मरने पर **ग्यारह उपवास** तथा पक्षी, सर्प, जलचर, छिपकली आदि जीवों के मरने पर **नौ उपवास** का प्रायश्चित्त बताया है।

• यदि एक बार प्रत्यक्ष रूप से असत्य भाषण किया जाए तो उसका प्रायश्चित्त **एक कायोत्सर्ग** है। एक बार परोक्ष रूप से असत्य कहने का प्रायश्चित्त **दो उपवास** है। एक बार त्रिकोटि से असत्य कहने का **तीन उपवास,** अनेक बार प्रत्यक्ष असत्य भाषण करने का **पंचकल्लाण** दोष है। अनेक बार परोक्ष असत्य भाषण का **पंचकल्लाण** है। अनेक बार प्रत्यक्ष परोक्ष मिश्र असत्य कहने का **पंचकल्लाण** है। अनेक बार त्रिकोटि से असत्य कहने का **पंचकल्लाण** है।

• यदि मोहवश एक बार परोक्ष चोरी करे तो **एक कायोत्सर्ग** का प्रायश्चित्त है। एक बार प्रत्यक्ष चोरी करने पर **एक उपवास** है। एक बार परोक्ष में चोरी करने पर **दो उपवास** है। एक बार त्रिकोटि से चोरी करने पर **तीन उपवास**, अनेक बार परोक्ष में चोरी करने पर **पंचकल्लाण**, अनेक बार प्रत्यक्ष चोरी करने पर **पंचकल्लाण** तथा अनेक बार त्रिकोटि से चोरी करने पर **पंचकल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।

• यदि मुनि रात्रि में निद्रा ले और स्वप्न में वीर्यपात हो जाये तो उपवास युक्त प्रतिक्रमण, यदि मुनि नियम पूर्वक रात्रि में निद्रा ले और स्वप्न में वीर्यपात हो जाये तो उपवास युक्त प्रतिक्रमण, यदि पिछली रात्रि में सामायिक से पूर्व वीर्यपात हो जाये तो उपवास युक्त प्रतिक्रमण, यदि शाम की सामायिक के बाद

नियम पूर्वक सोने पर निद्रा में वीर्यपात हो जाये तो उपवास युक्त प्रतिक्रमण, यदि सामायिक करके नियम पूर्वक सोते हुए वीर्यपात हो जाये तो प्रतिक्रमण सहित **तीन उपवास**, यदि कोई मुनि आसक्ति पूर्वक स्त्री से भाषण करे तो प्रतिक्रमण सहित **उपवास**, यदि स्त्री का स्पर्श हो जाये तो प्रतिक्रमण पूर्वक **उपवास**, किसी मुनि के मन में स्त्री का चिंतन होने पर प्रतिक्रमण सहित **उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

- यदि किसी मुनि का आर्यिका के साथ एक बार मैथुन भंग हो जाए तो प्रतिक्रमण सहित **पंचकल्लाण**, यदि अनेक बार मैथुन सेवन करे तो **पुनर्दीक्षा**, यह दुष्प्रवृत्ति लोगों को ज्ञात हो जाये और उसके उपरान्त भी उसका त्याग न करे तो **देश निष्कासन** का प्रायश्चित्त आता है।
- एक बार उपकरण संग्रह की इच्छा होने पर **उपवास**, एक बार ममत्व पूर्वक उपकरण रखने पर **एक उपवास**, यदि अन्य लोगों से दान दिलवाये तो **पंचकल्लाण**, यदि सब परिग्रहों को रखें तो पुनर्दीक्षा का प्रायश्चित्त आता है।
- मुनि रोग आदि के कारण एक रात्रि में चारों प्रकार का आहार करें तो **तीन उपवास**, यदि रोग आदि के कारण जल ग्रहण करें तो **एक उपवास**, यदि कोई मुनि अपने दर्प से अनेक बार भोजन करें तो **पुनर्दीक्षा** प्रायश्चित्त है। एक कोस अप्रासुक भूमि में गमन करें तो **एक उपवास** का प्रायश्चित्त है। यदि कोई मुनि वर्षाकाल में तीन कोस तक प्रासुक भूमि में गमन करे तो **एक उपवास**, यदि कोई मुनि वर्षाकाल के समय दिन में दो कोस अप्रासुक मार्ग में गमन करे तो **एक उपवास**, यदि कोई मुनि वर्षा काल में रात्रि में एक कोस गमन करे तो **चार उपवास**, यदि शीतकाल में दिन के समय छः कोस अप्रासुक भूमि में गमन करे तो **एक उपवास**, यदि शीतकाल में रात्रि के समय चार कोस प्रासुक मार्ग पर गमन करे तो **एक उपवास**, यदि गर्मी के दिनों में नौ कोस प्रासुक भूमि में गमन करने पर **एक उपवास**, यदि गर्मी के दिनों में छः कोस अप्रासुक भूमि में गमन करे तो **एक उपवास** तथा यदि गर्मी में रात्रि में छः कोस अप्रासुक मार्ग से गमन करे तो **दो उपवास** का प्रायश्चित्त है। यदि मुनि बिना पींछी के सात पैर तक चले तो **एक कायोत्सर्ग** तथा बिना पींछी के एक कोस गमन करे तो **एक उपवास** है। यदि मुनि घुटने से चार अंगुल ऊपर तक पानी में गमन करे तो **एक उपवास** और इसके आगे प्रति चार अंगुल पर दुगने-दुगने प्रायश्चित्त हैं।

• यदि मुनि को भाषा समिति में दोष लगे तो **एक कायोत्सर्ग** करें। यदि कोई मुनि सम्यग्दृष्टि श्रावक के दोष प्रकाशित करे तो **चार उपवास**, यदि जल, अग्नि, बुहारी, चक्की, उखली और पानी आदि के वचनों का प्रयोग करें तो **तीन उपवास**, यदि शृङ्गारादि के गीत गायें अथवा किसी से गवायें तो **चार उपवास** का प्रायश्चित्त है।

• यदि मुनि अज्ञानतावश कन्दमूल आदि वनस्पति का एक बार भक्षण करे तो **एक कायोत्सर्ग**, अनेक बार कन्दमूल आदि वनस्पतियों का भक्षण करे तो **एक उपवास**, रोग के कारण कन्द आदि वनस्पतियों का भक्षण करे तो **एक कल्लाण,** अपने रस स्वाद के लिए कन्द आदि का भक्षण करे तो **पंच कल्लाण**, अपने सुख के लिए अनेक बार कन्द आदि का भक्षण करे तो **पुनर्दीक्षा** का प्रायश्चित्त है।

• यदि मुनि के द्वारा आहार ले लेने पर दाता कहे कि भोजन में जीव था उसको दूरकर हमने आपको आहार दिया है नहीं तो अन्तराय हो जाती, ऐसा सुन लेने पर प्रतिक्रमण सहित **उपवास**, आहार लेते समय थाली के बाहर गीली हड्डी आदि भारी अन्तराय दिखाई पड़े तो प्रतिक्रमण पूर्वक **तीन उपवास**, यदि भोजन में गीली हड्डी चमड़ा आदि भारी अन्तराय आ जाय तो प्रतिक्रमण पूर्वक **चार उपवास** प्रायश्चित्त है।

• यदि मुनि सूर्योदय से तीन या चार घड़ी पहले अथवा गोसर्ग समय में एक बार आहार करे तो एक कायोत्सर्ग, अनेक बार भोजन करे तो **एक उपवास**, कोई मुनि रोग के कारण एक बार अपने हाथ से अन्न बनाकर भोजन करे तो **एक उपवास**, इसी प्रकार यदि कोई मुनि रोग के कारण अनेक बार अपने हाथ से बनाकर भोजन करे तो **तीन उपवास**, यदि निरोग अवस्था में कोई मुनि अनेक बार अपने हाथ से बनाकर भोजन करे तो **पुनर्दीक्षा** का प्रायश्चित्त आता है।

• यदि कोई मुनि दिन में काठ, पत्थर आदि हटाये या दूसरी जगह रखें तो **एक कायोत्सर्ग**, कोई मुनि रात्रि में काठ, पत्थर आदि को उठाये, हिलाये या दूसरी जगह रखे या रात्रि में इधर-उधर भ्रमण करे तो **एक उपवास** का प्रायश्चित्त है।

• यदि मुनि अप्रमत्त होकर स्पर्शन इन्द्रिय का विषय-पोषण करे तो **एक कायोत्सर्ग**, रसना इन्द्रिय को वश में न करे तो **दो कायोत्सर्ग**, घ्राण इन्द्रिय को वश में न करे तो **तीन कायोत्सर्ग**, चक्षु इन्द्रिय को वश में न करे तो **चार कायोत्सर्ग**, कर्ण इन्द्रिय को वश में न करे तो **पाँच कायोत्सर्ग**, यदि कोई मुनि प्रमादी होकर इन इन्द्रियों को वश में न करे तो क्रमशः **एक उपवास**, **दो उपवास**, **तीन उपवास**, **चार उपवास** और **पाँच उपवास** का प्रायश्चित्त आता है।

• यदि मुनि वन्दना आदि छहों आवश्यकों के करने में तीनों कालों के नियमों को भूल जाये अथवा समय का अतिक्रमण हो जाये तो प्रतिक्रमण पूर्वक **एक उपवास**, यदि कोई मुनि तीन पक्ष तक प्रतिक्रमण न करे तो उसका प्रायश्चित्त **दो उपवास**, यदि कोई मुनि चातुर्मासिक प्रतिक्रमण न करे तो **आठ उपवास**, तथा यदि कोई मुनि वार्षिक प्रतिक्रमण न करे तो **चौबीस उपवास** का प्रायश्चित्त आता आता है।

• यदि कोई रोगी मुनि चार महीने के बाद केशलोंच करे तो **एक उपवास**, एक वर्ष के बाद केशलोंच करे तो **तीन उपवास**, पाँच वर्ष के बाद केशलोंच करे तो **पंचकल्लाण**, यदि कोई नीरोग मुनि चार महीने के बाद एक-एक वर्ष के बाद या पाँच वर्ष के बाद केशलोंच करे तो निरन्तर **पंचकल्लाण** का प्रायश्चित्त आता है।

• यदि मुनि उपसर्ग से बचने के कारण वस्त्र ओढ़े तो **एक उपवास**, व्याधि के कारण वस्त्र ओढ़े तो **तीन उपवास**, अपने दर्प से वस्त्र ओढ़े या अन्य किसी कारण से वस्त्र ओढ़े तो पुनर्दीक्षा का प्रायश्चित्त आता है।

• यदि मुनि एक बार स्नान करे तो **एक पंच कल्याणक,** एक बार कोमल शय्या पर शयन करे तो **एक कल्लाणक**, यदि कोई मुनि प्रमादवश एक बार बैठकर भोजन करे तो **पंच कल्लाणक**, यदि कोई मुनि प्रमादवश दिन में दो बार भोजन करे तो **पंच कल्याणक**, यदि कोई मुनि अहंकारवश एक बार बैठकर भोजन करे या दिन में दो बार भोजन करे तो **दीक्षा छेद**, यदि कोई मुनि बार-बार बैठकर आहार करे अथवा दिन में दो बार भोजन करे तो **पुनर्दीक्षा** प्रायश्चित्त का भागी होता है।

• यदि मुनि पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, भूमि शयन, केशलोंच और अदन्त धावन इन तेरह मूलगुणों में एक बार संक्लेश परिणाम करे तो **एक कायोत्सर्ग**, यदि कोई मुनि इन तेरह मूलगुणों में बार-बार संक्लेश परिणाम करे तो **एक उपवास**, यदि कोई मुनि शेष पन्द्रह मूलगुणों में एक बार संक्लेश परिणाम करे तो **पंचकल्लाण**, यदि कोई मुनि इन पन्द्रह मूल गुणों में बार-बार संक्लेश परिणाम करे तो **पुनर्दीक्षा** प्रायश्चित्त निर्दिष्ट है।

• यदि मुनि मर्यादा पूर्वक स्थिर योग धारण करे और उसको मर्यादा से पूर्व समाप्त कर दें तो जितना काल शेष रहा **उतने उपवास**, एक महीने के तीन भाग करते हुए उसके प्रथम भाग में प्रतिक्रमण न करें तो **एक पंच कल्लाणक**, दूसरे भाग में प्रतिक्रमण न करें तो उतने **उपवास**, तीसरे भाग में प्रतिक्रमण न करें तो **एक लघुकल्याणक** प्रायश्चित्त है।

• यदि मुनि ने अप्रासुक भूमि में एक बार योग धारण किया तो प्रतिक्रमण पूर्वक **एक उपवास** और अनेक बार योग धारण करे तो **पंचकल्लाणक**, यदि किसी योगकृत की भूमि को मनोहर देखकर उससे मोह करे तो **पंचकल्लाणक**, यदि किसी योग भूमि को मनोहर देखकर उस पर अहंकार करे तो **पुनर्दीक्षा** का प्रायश्चित्त आता है।

• यदि मुनि गाँव, नगर, घर, वसति आदि बनवाने के दोषों को न जानता हुआ उसका उपदेश करें तो **एक कल्लाणक**, यदि गृह निर्माण आदि के दोषों को जानता हुआ आरम्भ का उपदेश करें तो **पंचकल्लाणक**, यदि वह गर्व या अहंकार से उनके बनवाने का उपदेश करे तो **पुनर्दीक्षा** प्रायश्चित्त का विधान है।

• जो मुनि पूजा के आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दोषों को नहीं जानता हुआ एक बार गृहस्थों को पूजा करने का उपदेश करे तो उसके आरम्भ के अनुसार आलोचना या कायोत्सर्ग से लेकर उपवास, यदि वे मुनि बार-बार उपदेश करे तो **कल्लाणक**, जो मुनि पूजा के आरम्भ दोषों को जानते हुए एक बार उपदेश करे तो मासिक **पंचकल्लाणक** तथा जिस पूजा उपदेश से छहकायिक जीवों का वध होता हो तो **छेदोपस्थापना** अथवा **पुनर्दीक्षा** प्रायश्चित्त का भागी होता है।

• यदि कोई सल्लेखना करने वाला साधु क्षुधा, तृषा से पीड़ित होकर लोगों के न देखते हुए भोजन कर ले या सल्लेखना न करने वाला साधु अनेक

उपवासों के कारण भूख-प्यास से पीड़ित होकर लोगों के न देखते हुए भोजन कर ले तो प्रतिक्रमण सहित उपवास, यदि ऊपर लिखे दोनों प्रकार के मुनि किसी रोगी मुनि को देखते हुए भोजन कर ले तो **पंचकल्लाणक** प्रायश्चित्त कहा गया है।

- यदि कोई मुनि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हुए लोगों के साथ या व्रतों से भ्रष्ट हुए लोगों के साथ विहार करे, उनकी संगति करे तो **पंचकल्लाणक**, यदि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुओं की निन्दा करें, झूठे दोष लगायें तो प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग सहित **उपवास** प्रायश्चित्त निर्दिष्ट है।
- यदि कोई मुनि विद्या, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र वैद्य आदि अष्टांग निमित्त, ज्योतिष, वशीकरण, गुटिका चूर्ण आदि का उपदेश करे तो प्रतिक्रमण पूर्वक **उपवास** प्रायश्चित्त आता है।
- यदि मुनि सिद्धान्त के अर्थ को जानते हुए भी उपदेश न करे तो आलोचना पूर्वक कायोत्सर्ग तथा श्रोताओं के मन में सन्तोष उत्पन्न न करते हुए क्षोभ पैदा करे तो **एक उपवास** प्रायश्चित्त आता है।
- यदि अप्रमत्त मुनि जीव जन्तुओं से रहित प्रदेश में शोधे बिना सो जाये तो **एक कायोत्सर्ग**, यदि प्रमत्त मुनि जीव जन्तु रहित स्थान पर बिना शोधे सो जाये तो **एक उपवास**, यदि प्रमत्त मुनि जीव जन्तु सहित स्थान पर संस्तर बिना शोधे सो जाये तो **कल्लाणक** प्रायश्चित्त आता है।
- यदि किसी मुनि से कमण्डलु आदि उपकरण नष्ट हो गये हों अथवा टूट-फूट गये हों तो जितने अंगुल में टूटे-फूटे हों उतने उपवास करना चाहिए।

आर्यिका सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त

सह समणाणं भणियं, समणीणं तहय होय मलहरणं।
वज्जियतियाल जोगं, दिणपडिमं छेदमालं च।।

पूर्व में मुनियों के लिए जो प्रायश्चित्त कहा गया है वैसा ही आर्यिकाओं का प्रायश्चित्त समझना चाहिए। विशेष इतना है कि आर्यिकाओं को त्रिकाल योग एवं सूर्य प्रतिमा योग धारण नहीं करना चाहिए। बाकी सब प्रायश्चित्त मुनियों के समान है।

- यदि आर्यिका रजस्वला हो जाये तो उस दिन से चौथे दिन तक अपने संघ से अलग होकर किसी एकान्त स्थान में रहना चाहिए। उन दिनों आचाम्ल

व्रत, निर्विकृत भोजन अथवा उपवास धारण करके रहना चाहिए। सामायिक आदि का पाठ मुख से उच्चारित नहीं करना चाहिए, किन्तु मन में चिन्तन कर सकती है। उसे दिन में प्रासुक जल से अपने अंग और वस्त्र यथा योग्य रीति से शुद्ध कर लेना चाहिए, पाँचवें दिन प्रासुक जल से स्नानकर तथा यथायोग्य रीति से वस्त्र धोकर अपने गुरु के समीप जाना चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार किसी एक वस्तु के त्याग करने का नियम करना चाहिए।

यदि आर्यिका अप्रासुक जल से वस्त्र धोये तो एक उपवास तथा पात्र एवं वस्त्रों को प्रासुक जल से धोये तो एक कायोत्सर्ग का प्रायश्चित्त आता है।

वैदिक ग्रन्थों में निरूपित प्रायश्चित्त विधान

भारतीय संस्कृति में प्रायश्चित्त का अत्यधिक महत्त्व है। जानबूझकर या अनजाने में किये अपराधों या दुष्कर्मों से छुटकारा पाने के लिए जो दण्ड स्वीकार किया जाता है, वह प्रायश्चित्त कहलाता है।

वैदिक परम्परा में प्रायश्चित्त का सर्वाधिक मूल्य आंका गया है। यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों, संहिताओं, प्रमुख स्मृतियों, श्रुतिस्मृतियों आदि में तत्सम्बन्धी विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित्त के विविध अर्थ किये गये हैं। वैदिक साहित्य में प्रायश्चित्ति एवं प्रायश्चित्त-ऐसे दो शब्दों का प्रयोग है किन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों में समानता है, यद्यपि प्रायश्चित्ति शब्द अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। आचार्य सायण (सामविधान 1/51/1) ने प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि प्र (प्रकर्षेण) उपसर्ग पूर्वक, आयः + प्रायः अर्थात प्राप्ति, चित्तं ज्ञानं (चिति संज्ञाने) प्रायश्चित्तं। किसी विहित कर्म का ज्ञात या अज्ञात अवस्था में सम्पादन न होने के फलस्वरूप अन्त में उन कृत्यों को परिपूर्ण करने की प्रक्रिया प्रायश्चित्त कहलाती है।

अङ्गिरस स्मृति (214) में प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति करते हुए 'प्रायः' को तप एवं 'चित्त' को निश्चय कहा है तथा तप और निश्चय के संयोग को प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं, चित्त निश्चय उच्यते।
तपो निश्चय संयोगात्, प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।

याज्ञवल्क्यस्मृतिकार (3/206) के अनुसार **'प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्'** यहाँ प्रायः का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है शोधन या शुद्धिकरण है।

उक्त अर्थों से स्पष्ट होता है कि यदि कोई अपराध या दोष हो जाये तो उसका निवारण करने वाली विधि प्रायश्चित्त कही जाती है।

इस परम्परा में प्रायश्चित्त स्वीकार के रूप में निम्न साधन बतलाये गये हैं। यहाँ साधन का अभिप्राय है सम्यक् उपाय, जिन्हें अपनाने से व्यक्ति दोष मुक्त बन जाता है। उन साधनों के नाम इस प्रकार हैं–

1. अनुताप (पश्चात्ताप) 2. प्राणायाम 3. तप 4. होम 5. जप 6. दान 7. व्रत 8. तीर्थयात्रा 9. भिक्षाशुद्धि और 10. वेद स्वाध्याय।

जहाँ तक दोषों या अपराधों का सवाल है वहाँ वैदिक साहित्य में हिंसा, झूठ, चोरी, निषिद्ध सम्भोग, सुरापान, जन्म अशुचि, मृतक अशुचि आदि प्रवृत्तियों को दोषयुक्त माना है। जहाँ तक प्रायश्चित्त के स्वरूप का प्रश्न है वहाँ श्रुति-स्मृतिकारों ने एक ही प्रकार के पाप के लिए भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तों का वर्णन किया है। यहाँ विस्तारभय से केवल दोषों का ही नामोल्लेख करेंगे, ताकि यह स्पष्ट हो जाये कि हिन्दू धर्म में अमुक-अमुक प्रकार के कृत्यों को पापरूप एवं प्रायश्चित्त योग्य माना गया है।

यदि विभागीकरण के आधार पर कहा जाए तो–

1. वैदिक धर्म में हत्या करने पर प्रायश्चित्त विधान है। इसमें ब्रह्महत्या, गुरु की हत्या, भ्रूण की हत्या, क्षत्रिय की हत्या, वैश्य की हत्या, शूद्र की हत्या, नारी की हत्या, जीव हत्या, गौ हत्या, शिल्पी एवं कारीगर की हत्या, नपुंसक की हत्या करने पर भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त दिया जाता है।

2. वैदिक शास्त्रों में सुरापान करने पर प्रायश्चित्त विधान है। इसमें पैष्टी सुरा का जलपान, मलमूत्र या मद्य से स्पृष्ट अन्नादि रस का पान, अज्ञान में किसी भी प्रकार का मद्यपान, सुरा के बर्तन में जलपान करना इत्यादि दोषों का अन्तर्भाव होता है तथा इन सभी दोषों में पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

3. यहाँ स्तेय एवं निषिद्ध सम्भोग कर्म में प्रायश्चित्त विधान बतलाया गया है।

इसमें स्तेय के अन्तर्गत ब्राह्मण के हिरण्य की चोरी, मन्दिर के धन की चोरी, सुवर्ण आदि रत्नमय धातुओं की चोरी, अन्न की चोरी, पशु-पक्षी की चोरी, रेशमी वस्त्रों की चोरी, भूमि की चोरी, लकड़ी की चोरी, धरोहर की चोरी, खाट व आसन की चोरी, परस्त्री अपहरण की चोरी को पापकारी माना है तथा निषिद्ध सम्भोग के अन्तर्गत गुरु की भार्या के साथ संभोग, द्विज की स्त्री के साथ संभोग, नीच जाति की नारी से संभोग, मित्र की स्त्री के साथ संभोग, पुत्रवधु के साथ संभोग, चाण्डाल कन्या के साथ संभोग, कुंवारी कन्या के साथ संभोग, रजस्वला स्त्री के साथ संभोग, सहोदर बहन के साथ संभोग, दिन में संभोग, चार महापातकियों से संसर्ग करने पर अपराध माना जाता है। इन सब दोषों की मुक्ति के लिए अलग-अलग प्रायश्चित्त कहे गये हैं।

4. वैदिक मान्यता में अशुद्ध स्पर्श एवं अपवित्र भोजन आदि करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

सामान्यत: अपवित्र व्यक्तियों का संग करने में, पक्षियों को काटने एवं स्पर्श करने में, मृतक अशौच में, जन्म अशौच में, शूद्र का अन्न खाने में, चाण्डाल के गृह में प्रवेश व स्पर्श करने में, निषिद्ध भोजन के सेवन में, पातकी के साथ एक पंक्ति में बैठकर खाने में, प्याज-लहसुन आदि का भक्षण करने में, नीच लोगों से मित्रता करने में पाप माना गया है। इस तरह के दुष्पाप प्रायश्चित्त से ही दूर हो सकते हैं।

5. हिन्दू परम्परा में प्रकीर्ण पापकर्मों से मुक्त होने के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

यहाँ अग्निहोत्र न करने पर, अपवाद सेवन करने पर, अनियमित ढंग से बातचीत करने पर, ऋणों को न चुकाने पर, नास्तिकवादी बनने पर, अयज्ञीय पुरुष द्वारा पुरोहित बनने पर, कुटिलता का वर्णन करने पर, अपने निमित्त भोजन बनाने पर, असत्य भाषण करने पर, संकरीकरण एवं अपात्रीकरण करने पर, सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय शयन करने पर, जल में नग्न स्नान करने पर, वृक्ष आदि का छेदन करने पर, औषधियों को व्यर्थ काटने पर, आक्रोश करने पर, स्वप्न दोष होने पर, पानी में अपनी छाया देखने पर इन कृत्यों को प्रकीर्ण (सामान्य) पापकर्म की संज्ञा दी गई है। इनके सिवाय ब्रह्मचारी, सन्यासी, आजीविका निर्वाहक आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्त भी दर्शाये गये हैं।

इस तरह हम पाते हैं कि वैदिक धर्म में स्थूल एवं सूक्ष्म कईविध दुष्प्रवृत्तियों को पापमय एवं प्रायश्चित्त करणीय माना गया है। इतना ही नहीं, स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों में तो प्रायश्चित्त न करने के दुष्परिणामों की भी चर्चा की गई है।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार पाप कृत्य का सम्यक् प्रायश्चित्त न करने से भयावह एवं कष्टकारक नरक यातना सहनी पड़ती है। मनु के अनुसार जो व्यक्ति दोषों का सम्यक् प्रायश्चित्त नहीं लेते, वे भाँति-भाँति की नरक वेदनाएँ भुगतने के उपरान्त इस लोक में निम्न कोटि के पशुओं, कीट-पतंगों, लता-गुल्मों के रूप में उत्पन्न होते हैं। प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में प्रायश्चित्त विधान (पृ. 50) के अनुसार किया गया है।

विष्णुधर्मसूत्र (45/1) के अनुसार पापात्माएँ नरक गति की पीड़ाओं एवं तिर्यंच गति के दु:खों को भुगत लेने के बाद जब मनुष्य गति में आती हैं तब भी पापों को दर्शाने वाले लक्षणों से युक्त ही रहती हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि प्रायश्चित्त न करने पर व्यक्ति अनेक तरह दु:खों को सहन करता हुआ नरक के समान जीवन व्यतीत करता है इसलिए दुष्कर्मों से रहित होकर प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। यदि ऊपर वर्णित दोषों एवं उनके निराकरण हेतु तज्जन्य प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में विस्तृत परिचय प्राप्त करना हो तो निम्नांकित ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए–

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2. बौधायन धर्मसूत्र 3. गौतम धर्मसूत्र 4. वसिष्ठ धर्मसूत्र 5. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र 6. विष्णुधर्मसूत्र 7. ईषदोपनिषद् 8. मनुस्मृति 9. याज्ञवल्क्यस्मृति 10. पाराशर स्मृति 11. आपस्तम्ब स्मृति 12. कात्यायन स्मृति 13. ऐतरेय आरण्यक 14. तैत्तिरीय आरण्यक 15. ऋग्वेद संहिता 16. काठक संहिता 17. ऋग्वेद भाष्य 18. शतपथ ब्राह्मण 19. तैत्तिरीय ब्राह्मण 20. गोपथ ब्राह्मण 21. मार्कण्डेय पुराण 22. धर्मशास्त्र का इतिहास 23. प्रायश्चित्त कदम्बसार संग्रह 24. प्रायश्चित्तेन्दु शेखर 25. प्रायश्चित्तौधसार 26. प्रायश्चित्तादर्श 27. प्रायश्चित्त कदम्ब आदि।

बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित प्रायश्चित्त विधान

बौद्ध परम्परा में प्रायश्चित्त दान के स्पष्ट वृत्त मिलते हैं। इस धर्म संघ में दण्ड प्रक्रिया को अनेक दृष्टियों से महत्त्व दिया गया है। सामान्य तौर पर बौद्ध

संघस्थ भिक्षु-भिक्षुणियों द्वारा नियम पालन में शिथिलता वर्त्तने या अवहेलना करने पर उन्हें दण्ड दिया जाता है। दण्ड विधान का मूल प्रयोजन भिक्षु-भिक्षुणियों को असत्कर्मों से दूर करते हुए घिनौने कृत्यों से सदैव भयभीत बनाए रखना है।

बौद्ध साहित्य में दण्ड के दो प्रकार वर्णित हैं–

1. कठोर दण्ड और 2. नरम दण्ड।

कठोर दण्ड–इस विभाग में पाराजिक एवं संघादिसेस जैसे दण्ड आते हैं। इसे दुट्ठुलापत्ति, गरुकापत्ति, अदेस नागामिनी आपत्ति, थुल्लवज्जा आपत्ति, अनवसेसापत्ति आदि नामों से जाना जाता है।

नरम दण्ड–इस वर्ग में उक्त दोनों दण्ड को छोड़कर शेष सभी दण्डों का अन्तर्भाव होता है। इसे अदुट्ठुल्लापत्ति, लहुकापत्ति, अथुल्लवज्जा आपत्ति, सावसेसापत्ति, देसनागामिनी आपत्ति आदि नामों से कहा जाता है।

(जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पृ. 145)

बौद्ध संघ में जिन अपराधों के कारण भिक्षु-भिक्षुणियों को दण्ड दिया जाता है उन्हें आपत्ति कहते हैं।

भिक्खुनीपातिमोक्ख के अनुसार बौद्ध परम्परा में आठ प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान उपलब्ध होता है–

1. पाराजिक 2. संघादिशेष 3. नैसर्गिक 4. पाचित्तिय 5. अनियत 6. प्रतिदेशनीय 7. सेखिय और 8. अधिकरण समय।

1. पाराजिक–यह प्रायश्चित्त प्रमुख रूप से हिंसा और चोरी के लिए दिया जाता है। बौद्ध परम्परा में पाराजिक प्रायश्चित्त में अपराधी भिक्षु या भिक्षुणी को संघ से पृथक् कर दिया जाता है तथा उन्हें संन्यास जीवन के अयोग्य मान लिया जाता है।

यहाँ पर पाराजिक प्रायश्चित्त के योग्य निम्न अपराध माने गये हैं। इन अपराधों के करने पर भिक्षु-भिक्षुणी को पाराजिक प्रायश्चित्त देते हैं।

1. संघ में रहकर मैथुन सेवन करना।
2. बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना।
3. मनुष्य आदि की हत्या करना।
4. बिना जाने और देखे अलौकिक बातों का दावा करना।
5. कामासक्त होकर कामुक पुरुष का हाथ पकड़ना आदि।

2. संघादिशेष–इस प्रायश्चित्त में संघ के सन्तोष हेतु अपराधी भिक्षु को कुछ रात्रियों के लिए आवास से बहिष्कृत कर दिया जाता है, किन्तु नियत अवधि के पूर्ण होने के पश्चात उसे पुन: भिक्षु संघ में प्रविष्ट कर देते हैं।

बौद्ध परम्परा में संघादिशेष प्रायश्चित्त के योग्य निम्न 13 आपत्तियाँ मानी गयी हैं–

1. निद्रावस्था को छोड़कर अन्य किसी अवस्था में वीर्यपात करना।
2. वासना के वशीभूत होकर स्त्री-शरीर का स्पर्श करना।
3. वासना के वशीभूत होकर कामुक शब्दों से स्त्री की कामवासना को प्रदीप्त करना।
4. यह कहना कि मुझ जैसे धार्मिक पुरुष से संभोग करना उचित है।
5. स्त्री एवं पुरुष के मध्य काम सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मध्यस्थता करना।
6. भिक्षु संघ की स्वीकृति के बिना भययुक्त एवं बिना खुली जगह में कुटिया का निर्माण करना।
7. भिक्षु संघ की स्वीकृति के बिना स्वयं और दूसरों के लिए भययुक्त स्थान में भिक्षु आवास बनवाना।
8. द्वेष एवं घृणा के वशीभूत होकर किसी अन्य भिक्षु पर पाराजिक अपराध का मिथ्या आरोप लगाना।
9. द्वेष एवं घृणावश किसी मुनि के छोटे अपराध को बड़ा पाराजिक अपराध बताना।
10. किसी सामान्य बात को लेकर संघ-भेद करवाना।
11. संघ-भेद करने वाले भिक्षु का समर्थन करना।
12. संघीय जीवन से स्वयं को पृथक् रखना।
13. दुराचरण करने के उपरान्त भी संघ से पृथक् नहीं होना।

उक्त अपराध करने वाले भिक्षु-भिक्षुणी संघादिशेष प्रायश्चित्त के अधिकारी होते हैं। संघादिशेष की अपराधिनी भिक्षुणी को मानत्त दण्ड दिया जाता है। इसकी अवधि 15 दिन मानी गई है।

3. नैसर्गिक–यह प्रायश्चित्त मुख्य रूप से चीवर एवं पात्र के सम्बन्ध में दिया जाता है। इस दण्ड में अपराधी व्यक्ति को कुछ समय के लिए अपने वस्त्रों

तथा पात्रों का परित्याग करना पड़ता है। संघ, गण या प्रमुख व्यक्ति के समक्ष स्वदोषों को स्वीकार कर लेने पर कृत दोषों का निराकरण हो जाता है।

नैसर्गिक प्रायश्चित्त के योग्य 30 अपराध माने गये हैं। उनमें से कुछ दोष इस प्रकार हैं–

1. अधिक पात्रों का संचय करना।
2. वस्त्र की अदला-बदली करना।
3. याचित वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तु मंगवाना।
4. शीतकाल के लिए मूल्यवान वस्त्र मंगवाना।
5. नानाविध वस्त्रों–औषधियों आदि का क्रय-विक्रय करना।
6. जुलाहा द्वारा चीवर में परिवर्तन करवाना।
7. अतिरिक्त चीवर को चीवर काल से अधिक समय तक ग्रहण करना आदि।

4. पाचित्तिय–यह प्रायश्चित्त आहार, विहार, निवास, भाषण आदि के सम्बन्ध में दोष लगने पर दिया जाता है। इस दण्ड के योग्य अपराधों को आचरण धर्म से पतित करने वाला एवं आर्यमार्ग का अतिक्रमण करने वाला माना गया है। इस प्रायश्चित्त में अपराधी संघ या पुग्गल (व्यक्ति) के सम्मुख स्व अपराधों को स्वीकार करने मात्र से दोष मुक्त हो जाता है। पाचित्तिय दण्ड के योग्य थेरवादी निकाय में 166 एवं महासंघिक निकाय में 141 दोष कहे गये हैं। इनका सेवन करने पर भिक्षु पाचित्तिय धर्म का दोषी माना जाता है। किंच दोषों के नाम इस प्रकार हैं–

1. लहसुन खाना।
2. योनि स्थान को अधिक गहराई तक धोना।
3. भोजन करते समय भिक्षु की जल या पंखे से सेवा करना।
4. नृत्य देखना, गीत या वाद्य सुनना।
5. पुरुष से एकान्त में बातचीत करना।
6. गृहणियों जैसा कार्य करना।
7. अशान्ति पूर्ण बाह्यदेश में एकाकी विचरण करना।
8. वर्षाकान्त में विचरण करना।
9. प्रति-पन्द्रहवें दिन भिक्षु संघ के समीप उपोसथ पूछने या उवाद सुनने न जाना इत्यादि।

5. प्रतिदेशनीय–यह दण्ड मुख्यत: भोजन दोष के सम्बन्ध में दिया जाता है। इसमें एक योग्य भिक्षु या भिक्षुणी के समक्ष अपने अपराध को स्वीकार कर लेने पर उस पाप कार्य का निराकरण हो जाता है। स्वस्थ भिक्षु-भिक्षुणी को तेल, घी, मधु, मछली, मांस आदि लेने का निषेध किया गया है। एतदर्थ इस दण्ड का मुख्य उद्देश्य है कि भिक्षु-भिक्षुणी को अच्छे भोजन के प्रति ममत्त्व या लालच का भाव नहीं लाना चाहिए। प्रतिदेशना के योग्य 8 अपराध स्वीकारे गये हैं।

कुछ दोष निम्न प्रकार हैं–

1. स्वस्थ होते हुए भी घृत माँगकर खाना।
2. स्वस्थ होते हुए भी दही माँगकर खाना।
3. स्वस्थ होते हुए भी मधु माँगकर खाना।
4. स्वस्थ होते हुए भी दूध माँगकर खाना।

6. सेखिय–यह दण्ड किसी तरह का दुष्कर्म या बुरे विचार करने पर दिया जाता है। छोटे अपराधों के दोषी व्यक्ति को इसी प्रकार का दण्ड दिया जाता है।

इस प्रायश्चित्त के योग्य अनेक स्थान हैं।

7. अधिकरण नियम–यह प्रायश्चित्त लगभग 'दुब्भासिय' नाम से भी उल्लिखित है। बुद्ध, धर्म, संघ या किसी के प्रति कटु या बुरे वचनों का प्रयोग करने पर व्यक्ति प्रस्तुत दण्ड का भागी होता है। इस दण्ड का मुख्य उद्देश्य यह है कि साधकों को अपनी वाणी पर संयम रखना चाहिए। प्रतिदेशनीय, सेखिय और अधिकरण नियम शिक्षाएँ हैं, इनकी विस्तृत जानकारी के लिए विनयपिटक-पातिमोक्ख का अवलोकन करना चाहिए।

8. अनियत– इस प्रायश्चित्त के बारे में स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं हो पाया है।

उपर्युक्त वर्णन से परिज्ञात होता है कि बौद्ध परम्परा में प्रायश्चित्त (दण्ड प्रक्रिया) का दायरा अत्यन्त विस्तृत रहा है। शोधार्थियों को चर्चित विषय की अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए अग्रांकित ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए–

1. चुल्लवग्ग, 2. परिवारपालि, 3. परिवारपालि का भाग तृतीय, समन्तपासादिका, 4. पाचित्तिय पालि, 5. भिक्षुणीविनय, 6. पातिमोक्ख (भिक्खु पाचित्तिय) आदि प्रमुख हैं।

तुलनात्मक अध्ययन

गृहस्थ व्रतों एवं मुनि व्रतों में दोष लगने पर तथा लौकिक एवं लोकोत्तर मर्यादाओं का उल्लंघन करने पर उन दुष्कृत्यों की परिशुद्धि के लिए अधिकृत आचार्य आदि द्वारा कहा गया निर्धारित तप, जप एवं स्वाध्याय आदि करना प्रायश्चित्त कहलाता है।

संघीय तथा सामाजिक व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए गृहीत नियमों के भंग होने पर अपराधी को प्रायश्चित्त देना अत्यन्त आवश्यक है।

श्वेताम्बर-दिगम्बर– श्वेताम्बर परम्परा में जीतकल्पसूत्र (21-30) के अनुसार दस प्रकार के प्रायश्चित्त (दण्ड) माने गये हैं–1. आलोचना 2. प्रतिक्रमण 3. तदुभय 4. विवेक 5. व्युत्सर्ग 6. तप 7. छेद 8. मूल 9. अनवस्थाप्य और 10. पारांचिक।

दिगम्बर परम्परा के मूलाचार में भी दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। इसमें प्रारम्भ के आठ वही हैं जो श्वेताम्बर परम्परा में मान्य हैं, शेष दो के नाम परिहार और श्रद्धान है। सम्भवत: इस पंचमकाल के परवर्ती समय में अन्तिम दो प्रायश्चित्तों का व्यवहार बन्द हो जाने से नामों का यह अन्तर आया हो। यद्यपि पारांचिक प्रायश्चित्त और परिहार नामक प्रायश्चित्त का तात्पर्य एक ही है।

उमास्वाति रचित तत्त्वार्थसूत्र में दसवें पारांचिक प्रायश्चित्त का उल्लेख नहीं है। साथ ही मूल नामक प्रायश्चित्त के स्थान पर उपस्थापन और अनवस्थाप्य नामक प्रायश्चित्त के स्थान पर परिहार प्रायश्चित्त का नामांकन है।

श्वेताम्बर परम्परा में कालक्रम से प्रायश्चित्त के विविध प्रतीकाक्षर एवं प्रकार मिलते हैं जैसे सांकेतिक भाषा में ङ्क = चतुर्लघु, ङ्का = चतुर्गुरु, फ्रुं=षड्लघु, फ्रां = षड्गुरु आदि, संख्या के सांकेतिक पदों में ई = 4, र्लृ = 10, ण्का = 4, र्तृ = 5 आदि, शास्त्रीय शब्दों में नक्षत्र = मास, शुक्ल = लघुमास, कृष्ण = गुरु मास आदि। इसी तरह जीतव्यवहार के अनुसार पणग-नीवि, लघुमास-पुरिमड्ढ, गुरुमास-एकासन, चतु:लघु – आयंबिल, चतु:गुरु – उपवास आदि।

दिगम्बर परम्परा की उपलब्ध कृतियों में इस तरह के प्रतीकाक्षर लगभग नहीं है। वहाँ जीतव्यवहार प्रचलित निर्विकृति, पुरिमण्डलं, क्षमणम् आदि शब्दों का ही उल्लेख देखा जाता है।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका के व्रतों में संभावित सर्व प्रकार के दोषों के प्रायश्चित्त बतलाये हैं यानी इस सम्बन्ध में व्यापक चिन्तन प्रस्तुत किया है जबकि दिगम्बर परम्परा की सम्प्राप्त कृतियों में मुनिजीवन सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त की चर्चा विशेष रूप से की गई है।

इस तरह श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में तप दान सम्बन्धी प्रायश्चित्त विधि को लेकर कुछ समानता है और कुछ असमानता हैं।

जैन-हिन्दू– यदि जैन परम्परा और हिन्दू परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो पूर्व चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जैनाचार्यों ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनर्थदण्ड, भोगोपभोग आदि व्रतों का आंशिक या सर्वांश रूप से भंग करने वाले साधक को प्रायश्चित्त योग्य माना है उसी प्रकार वैदिक ग्रन्थकारों ने भी हिंसा-झूंठ, चोरी, निषिद्ध संभोगी, अभक्ष्य सेवी आदि को प्रायश्चित्त करने का अधिकारी सिद्ध किया है।

जैन परम्परा के मूलाचार आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित्त शब्द का जो अर्थ किया गया है उसी से मिलता-जुलता अर्थ वहाँ भी उपलब्ध है। प्रायश्चित्त का मूल प्रयोजन दोनों परम्पराओं में समानप्राय: है। जैन मतानुसार प्रायश्चित्त न करने वाला दुर्गति को प्राप्त करता है वैसे ही धर्मसूत्रकारों-स्मृतिकारों ने भी निर्दिष्ट किया है कि प्रायश्चित्त न करने वाला अपराधी पुरुष नरक-तिर्यञ्च एवं मनुष्य गति में अनेक प्रकार के कष्टों को भोगता है।

जैन अभिमत में प्रायश्चित्त (दण्ड प्रक्रिया) के मुख्यत: तीन साधन प्रवर्तित हैं– तपस्या, जाप और स्वाध्याय। किन्तु परिस्थिति की भिन्नता, अपराधी की मनोवृत्ति एवं अपराध की तीव्रता या मन्दता के आधार पर प्रायश्चित्त-दान की दस कोटियाँ हैं यद्यपि सामान्य प्रकार के दोषों में त्रिविध साधनों का ही प्रयोग (उपयोग) किया जाता है जबकि वैदिक परम्परा में प्रायश्चित्त के दस उपाय कहे गये हैं उनमें जैन परम्परा के तप-जपादि तीनों उपायों का समावेश है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि जैन एवं वैदिक परम्परा के रचनाकारों द्वारा कथित प्रायश्चित्त-विधि मुख्यभूत सन्दर्भों में प्राय: तुल्य है केवल व्रतादि में लगने वाले दोषों के सम्बन्ध में भिन्नता है। जैन मत में दोष सम्बन्धी अधिकार

विस्तृत है, क्योंकि यहाँ गृहस्थ एवं मुनि के व्रतों के अनुसार दोषों की परिगणना की गई है, वैदिक मत में ऐसा नियम नहीं है। वहाँ अधिकांश दोष गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित और वह भी नैतिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण के प्राधान्य से कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त योग्यता एवं आयु की अल्पाधिकता के आधार पर कौन-किस प्रायश्चित्त का अधिकारी हो सकता है? प्रायश्चित्त दानी किन-किन गुणों से युक्त होना चाहिए? प्रायश्चित्त कर्त्ता किन लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए? स्वकृत पापों का निवेदन कब, किस विधि पूर्वक करना चाहिए? इस विषयक स्पष्ट चर्चा जैन ग्रन्थों में ही परिलक्षित होती है।

जैन-बौद्ध– यदि जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा में प्रचलित प्रायश्चित्त-विधि का तुलनात्मक पक्ष उजागर किया जाए तो पूर्व वर्णन के अनुसार कहा जा सकता हैं कि

- जैन संघ में प्रायश्चित्त के 10 प्रकार हैं जिनमें आलोचना, प्रतिक्रमण व कायोत्सर्ग करना जैन साधु-साध्वियों का प्रतिदिन का नियम है जबकि बौद्ध संघ में प्रायश्चित्तों की संख्या 8 है तथा यहाँ प्रतिदिन गुरु के समीप आलोचना आदि करने का विधान नहीं है।

- दोनों परम्पराओं में दण्ड-दान की प्रक्रिया में अन्तर है। जैन संघ में अपने अपराधों का निवेदन अधिकृत आचार्य अथवा गीतार्थ मुनि के समक्ष ही करना होता है जबकि बौद्ध संघ में दोष कथन की प्रक्रिया पूरे संघ के अभिमुख प्रस्तुत की जाती है। साथ ही तीन बार वाचना, ज्ञप्ति एवं धारणा के द्वारा संघ की मौन सहमति को अपराध-मुक्त करने की स्वीकृति मानी जाती है।

- जैन संघ में गृहस्थ या मुनि द्वारा किसी तरह का अपराध या दोष होने पर उसी दिन अपने गच्छ-प्रमुख या प्रवर्त्तिनी या सहवर्ती ज्येष्ठ आर्य्या के समीप उन त्रुटियों का निवेदन करना आवश्यक है। गृहस्थ को उस प्रकार की सुलभता न हो तो, जिस दिन वैसा संयोग प्राप्त हो तब सामान्य आलोचना करने का विधान है।

- बौद्ध संघ में इस प्रकार का नियम नहीं है। यहाँ प्रत्येक पन्द्रहवें दिन उपोसथ के समय पातिमोक्ख नियमों की वाचना होती है, जिसमें सारे नियमों को दोहराया जाता है उस समय ही संघ को भिक्षु-भिक्षुणी के अपराधों की सूचना मिलती है। इसी प्रकार प्रवारण (वर्ष में एक बार) के समय दृष्ट, श्रुत व

परिशंकित अपराधों की जाँच होती है।

• जैन संघ में 'भिक्खु वा भिक्खुणी वा' तथा 'निग्गंथो वा निग्गंथी वा' कहकर साधु-साध्वियों के प्रायश्चित्त सम्बन्धी अधिकांश नियमों में समानता स्थापित की गई है। सामान्य अपराध करने पर मुनि को जो दण्ड दिया जाता है वही साध्वी के लिए भी निर्धारित है। अनवस्थाप्य और पारांचिक दण्ड से भिक्षुणी को मुक्त करने के अतिरिक्त भिक्षु-भिक्षुणियों में अन्य कोई मूलभूत भेद नहीं किया गया है। बौद्ध संघ में भी पारांचिक की तरह परिवास के दण्ड से भिक्षुणियों को मुक्त किया गया है, परन्तु बौद्ध संघ में भिक्खु-पातिमोक्ख तथा भिक्खुनी-पातिमोक्ख जिसमें नियमों का उल्लेख है–का अलग-अलग विभाजन है। भिक्खुनी पातिमोक्ख में नियमों की संख्या भिक्खु पातिमोक्ख के नियमों से ज्यादा है।

• जैन दण्ड-व्यवस्था में अपराध की गुरुता में भेद किया गया है। एक जैसा अपराध करने पर उच्च पदाधिकारियों को कठोर दण्ड तथा निम्न पदाधिकारियों को नरमदण्ड दिया जाता है। संघ के उच्च पदाधिकारी चूँकि नियमों के ज्ञाता होते हैं अत: उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे नियमों का सूक्ष्मता से पालन करें। संघ को सुव्यवस्थित आधार प्रदान करने के लिए उनसे उच्च आदर्श उपस्थित करने की मनोभावना रखी जाती है जिससे अन्य लोग उनका अनुसरण कर सकें। बौद्ध संघ में ऐसी व्यवस्था नहीं है। यहाँ अपराध करने पर संघ के सभी सदस्यों के लिए समान दण्ड का विधान है।

• जैन परम्परा में दो व्यक्ति के समान अपराध होने पर भी परिस्थितियों के अनुसार कम-ज्यादा प्रायश्चित्त दिया जाता है। यदि गृहस्थव्रती या मुनि स्वेच्छा से पापकर्म करते हैं, तो उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता है तथा वही अपराध अनजाने में अथवा विवशता से किया गया हो, तो सरल दण्ड की व्यवस्था है। अपराधी प्रायश्चित्त अधिकारी को उन परिस्थितियों से अवगत कराता है, जिसके माध्यम से वह पापकर्म के लिए प्रेरित होता है। बौद्ध संघ में यह विशेषता नहीं पायी जाती है।

बौद्ध संघ में प्रत्येक नियम के निर्माण के सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख किया गया है, ताकि उसके द्वारा नियम की गुरुता एवं उसकी प्रकृति को सरलता से समझा जा सकता है परन्तु जैन ग्रन्थों में इस प्रकार की घटनाओं

का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

• जैन संघ में भिक्षु-भिक्षुणी के द्वारा किये गये अपराधों को जितनी गम्भीरता से स्वीकार किया है उतना ही गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं के द्वारा कृत दोषों पर भी सूक्ष्मता पूर्वक विचार कर सभी के लिए समान रूप से दण्ड प्रक्रिया प्रस्थापित की गई है तथा वर्तमान में भी यह परिपाटी अक्षुण्ण रूप से प्रवर्त्तित है जबकि बौद्ध साहित्य में भिक्षु-भिक्षुणी सम्बन्धी प्रायश्चित्त का ही प्रधानता से उल्लेख मिलता है।

इस भाँति हम देखते हैं कि दोनों परम्पराओं में प्रायश्चित्त सम्बन्धी नियमों को लेकर कुछ अन्तर है, परन्तु सादृश्यता भी देखी जाती है।

• जैन और बौद्ध परम्पराओं में पारांचिक एवं पाराजिक प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण है। जैन मत में पारांचिक दण्ड देते हुए अपराधी भिक्षु को सदैव के लिए संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। इसी तरह बौद्ध संघ में भी पाराजिक अपराधी को संघ से सर्वदा के लिए निकाल दिया जाता है।

• जिस प्रकार जैन-परम्परा में अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का विधान है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में संघादिशेष प्रायश्चित्त का विधान है। बौद्ध परम्परा में संघादिशेष आपत्ति होने पर भिक्षु को संघ के सन्तोष के लिए भिक्षु आवास के बाहर कुछ रातें बितानी होती हैं और उसके पश्चात्त उसे भिक्षु संघ में पुनः प्रवेश दिया जाता है। इस प्रकार अपने मूल मन्तव्य की दृष्टि से अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त और संघादिशेष प्रायश्चित्त समान ही है।

• बौद्ध परम्परा में प्रायश्चित्त के अन्य प्रकार नैसर्गिक और पाचित्तिय आदि हैं, उनकी तुलना जैन-परम्परा के आलोचना और प्रतिक्रमण से की जा सकती है।

इस प्रकार जैन एवं बौद्ध दोनों संघों में भिक्षु जीवन एवं चतुर्विध संघ को पवित्र बनाये रखने के लिए विभिन्न नियमों और प्रायश्चित्तों का विधान है।

●

अध्याय-7

उपसंहार

दोष-परिहार के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह प्रायश्चित्त है, जिसके द्वारा चित्त की विशुद्धि होती है वह प्रायश्चित्त है,[1] जिसके समाचरण से पूर्वसंचित पापकर्म विनष्ट होते हैं वह प्रायश्चित्त है।[2] सार रूप में कहा जाए तो पापों का शोधन कर आत्मा की विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करवाने वाली क्रिया प्रायश्चित्त है।

असेवनीय कार्यों की लघुता एवं गुरुता के आधार पर प्रायश्चित्त के दस भेद किये गये हैं–1. आलोचना, 2. प्रतिक्रमण, 3. तदुभय, 4. विवेक, 5. व्युत्सर्ग, 6. तप, 7. छेद, 8. मूल, 9. अनवस्थाप्य और 10. पारांचिक।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रायश्चित्त के नौ भेदों का वर्णन मिलता है। इसमें मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक–इन तीन प्रायश्चित्तों के स्थान पर परिहार एवं उपस्थापना–इन दो प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। दिगम्बर साहित्य मूलाचार आदि में नौ एवं अनगारधर्मामृत आदि कुछ ग्रन्थों में दस प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है।

आचार्य अकलंक ने कहा है कि जीव के जितने परिणाम हैं अपराध भी उतने ही होते हैं। इस नियम के अनुसार प्रत्येक जीव के परिणाम असंख्येय हैं अत: अपराध भी उतने ही हैं लेकिन प्रायश्चित्त के भेद उतने नहीं हैं। पूर्वाचार्यों ने प्रायश्चित्त के नौ या दस भेद व्यवहारनय की अपेक्षा समुच्चय रूप में कहे हैं।

पूर्व विवेचन के अनुसार प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में जानने योग्य अनेक तथ्य हैं, केवल अपराध करने या अपराध ज्ञापित करने मात्र से प्रायश्चित्त दिया लिया जाता हो, ऐसा नहीं है। प्रायश्चित्त देने एवं लेने के अनेक हेतु हैं। प्रत्येक दोष या कुकर्म की विविध अपेक्षाओं एवं विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रायश्चित्त प्रदान किया जाता है। प्रायश्चित्त दान में प्रमुखत: अपराधी की मन:स्थिति, कायस्थिति एवं वैचारिक स्थिति का परीक्षण किया जाता है। दो व्यक्तियों के समान अपराध होने पर भी गीतार्थ-अगीतार्थ, यतना-अयतना,

धृतिबल-धृतिहीनता आदि के आधार पर कम-ज्यादा प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है।[3] एक ही गलती में प्रायश्चित्त दान की विविधता का हेतु पक्षपात नहीं, अपितु विवेक है। इस प्रकार प्रायश्चित्त दान के कुछ प्रयोजन निम्नांकित हैं–

1. दोष स्वीकृति के आधार पर प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त दान का प्रथम हेतु यह है कि अपराधी दोष स्वीकार करे तब ही प्रायश्चित्त दिया जाता है, दोष स्वीकारोक्ति के बिना प्रायश्चित्त नहीं होता। भाष्यकार संघदासगणि ने इस प्रसंग में उदाहरण देते हुए समझाया है कि कोई साधु मूलगुण-उत्तरगुण सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करते हुए कुछ आलोचनीय दोषों को विस्मृत कर गया, उस समय आगम व्यवहारी श्रमण उसे वह आलोचनीय बात याद दिला देते हैं। यदि वह स्वीकार कर लेता है तो ठीक है, अन्यथा उसे पुनर्स्मरण नहीं करवाते हैं।

आगम व्यवहारी यह जान लेते हैं कि वह विस्मृत अपराध स्वीकार नहीं करेगा, इसलिए उसे निष्फल स्मरण नहीं करवाते। प्रायश्चित्त दाता अमूढ़ लक्ष्य होते हैं। आलोचक के अस्वीकार करने पर उसे प्रायश्चित्त नहीं देते।[4]

इससे स्पष्ट होता है कि दोष के स्वीकार करने पर ही प्रायश्चित्त के लेन-देन का व्यवहार प्रवृत्त होता है।

2. स्वीकृत व्रतों के आधार पर प्रायश्चित्त

मुनि उत्सर्गत: व्रत सम्पन्न होते हैं, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों के धारक होते हैं। गृहस्थ के लिए भी बारहव्रत आदि स्वीकार करने का नियमत: विधान है। व्रतधारी गृहस्थ को ही श्रावक-श्राविका पद की संज्ञा दी गई है। विशेष ज्ञातव्य है कि अवधारित व्रतों में लगने वाले दोषों की परिमुक्ति के लिए ही प्रायश्चित्त दान होता है। उपलब्ध तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में व्रतदूषण के निराकरण के रूप में ही प्रायश्चित्त विधि कही गयी है। अव्रती की तो समस्त क्रियाएँ संसार हेतुक ही हैं किन्तु व्रतधारी संसारजनक बन्ध को प्रायश्चित्त द्वारा निर्जीर्ण कर सकता है, अत: व्रत स्वीकार अत्यन्त मूल्यवान है।

गृहीत व्रतों में सामान्यतया चार स्तर के दोष लगते हैं–

अतिक्रम– दोष सेवन के लिए संकल्प करना, व्यतिक्रम–दोष सेवन के लिए प्रस्थान करना, अतिचार–दोष सेवन के लिए सामग्री जुटाना, अनाचार–दोष का आसेवन करना।

निशीथभाष्य के अनुसार इनमें अतिचार गुरु और अनाचार गुरुतर है। इनका प्रायश्चित्त भी क्रमशः गुरु, गुरुतर होता है।[5]

निशीथसूत्र में निर्दिष्ट प्रायश्चित्त स्थविरकल्पी के लिए अनाचार सेवन की अपेक्षा से है। स्थविरकल्पी को अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार के लिए तप प्रायश्चित्त नहीं आता, मिथ्यादुष्कृत के उच्चारण आदि से उनकी शुद्धि हो जाती है। जैसे–कोई मुनि आधाकर्म आहार ग्रहण की स्वीकृति दे देता है किन्तु उसके लिए प्रस्थान नहीं करता है अथवा प्रस्थान कर उस आहार को ग्रहण कर लेता है किन्तु परिभोग नहीं करता, उसका परिष्ठापन कर देता है तो वह शुद्ध है। उसे खाने वाला अनाचारजन्य प्रायश्चित्त का भागी होता है। जिनकल्पी को अतिक्रम आदि चारों पदों में प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

व्यवहारभाष्य की टीकानुसार स्थविरकल्पी द्वारा सेवनीय अतिक्रम आदि तीनों दोषों का गुरुमास और अनाचार दोष का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु है तथा जिनकल्पी द्वारा सेवित अतिचार आदि का प्रायश्चित्त लघुमास है।[6]

इस प्रकार यह बोध होता है कि गृहीत व्रतों में लगे दूषणों के आधार पर ही प्रायश्चित्त दान किया जाता है।

3. राग-द्वेष की तरतमता के आधार पर प्रायश्चित्त

जिनशासन की अविच्छिन्न परम्परा की एक विशिष्टता यह है कि यदि अपराधी ने राग-द्वेष के मन्द अध्यवसायों में किसी तरह का पापकर्म किया है तो उसे अल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है तथा राग-द्वेष जन्य तीव्र अध्यवसाय में किये गये दुष्कर्म से तदनुरूप अधिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

तात्पर्य है कि राग-द्वेष की वृद्धि से प्रायश्चित्त में वृद्धि होती है। दूसरी बात जैसे राग-द्वेष की तीव्रता से प्रायश्चित्त बढ़ता है वैसे ही राग-द्वेष की न्यूनता से प्रायश्चित्त अल्प होता है।

आगम टीकाओं के अनुसार मन्द अनुभाव से अनेक विध अपराध हो जाने पर भी उनकी विशोधि अल्पतप से हो जाती है। पारांचिक (दशवाँ) प्रायश्चित्त जितना अपराध सेवन करने वाला मुनि दसवें, नौवें यावत् नीवि प्रायश्चित्त ग्रहण करके भी विशुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार अन्यान्य अपराध पर भी अल्प-अल्पतम प्रायश्चित्त से विशुद्ध हो जाता है।

प्रतिसेवना (दोषाचरण) की भिन्नता होने पर भी प्रतिसेवक (गीतार्थ या अगीतार्थ) तथा अध्यवसाय के भेद से समान प्रायश्चित्त देने पर भी तुल्य शोधि हो सकती है।

प्रस्तुत विषय की स्पष्टता के लिए निम्न उदाहरण पठनीय है–एक व्यक्ति ने तीव्र अध्यवसाय से मासिक प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना (दोषजन्य प्रवृत्ति) की, तो उसे एक मास का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।

दूसरे ने मन्द अध्यवसाय से दो मास प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना की, तो उसे प्रत्येक मास के पन्द्रह दिनों के अनुपात से एक मास का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।

तीसरे ने मन्दतम अध्यवसाय से तीन माह प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना की, तो उसको प्रत्येक मास के दस-दस दिनों के अनुपात से एक मास का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।

चौथे ने अतिमन्दतम अध्यवसाय से चार माह प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना की, तो उसको प्रत्येक मास के साढ़े सात दिनों के अनुपात से एक मास का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।[7]

इस बात की पुष्टि हेतु भाष्यकार ने 'पाँच वणिक् एवं पन्द्रह गधे' का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वह संक्षेप में इस प्रकार है–एक गाँव में पाँच वणिक भागीदारी में व्यापार करते थे। उन पाँचों का समान विभाग था। उनके पास पन्द्रह गधे हो गए। वे सभी गधे भिन्न-भिन्न भारवहन करने में समर्थ थे। उनके भारवहन की क्षमता के आधार पर उनके मूल्य में भी अन्तर आ गया। वे पाँचों उनका समविभाग न कर पाने के कारण परस्पर झगड़ने लगे। आखिर समाधान पाने के लिए एक बुद्धिमान व्यक्ति के पास गए। उसके द्वारा पूछे जाने पर गधे का सही-सही मूल्य बतलाया गया। तब उस बुद्धिमान व्यक्ति ने कलह का निपटारा करते हुए साठ रुपये के मूल्य वाला एक गधा एक व्यापारी को दिया, दूसरे को तीस-तीस रुपयों के मूल्य वाले दो गधे दिए, तीसरे को बीस-बीस रुपयों के मूल्य वाले तीन गधे दिए, चौथे व्यापारी को पन्द्रह-पन्द्रह रुपयों के मूल्य वाले चार गधे दिए और पाँचवें को बारह-बारह रुपयों के मूल्य वाले पाँच गधे दे दिए। इससे सभी व्यापारियों को समान लाभ हो गया।[8]

प्रायश्चित्त के इस हानि क्रम की भाँति वृद्धि का क्रम भी है। जिस प्रतिसेवना की शुद्धि नीवि से हो सकती हो उसी प्रतिसेवना के लिए राग-द्वेष की तीव्रता के आधार पर पारांचित प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है।

अध्यवसायों का चमत्कार तो इतना जबर्दस्त है कि कोई व्यक्ति अनेक मासिक प्रायश्चित्त स्थानों का सेवन कर एक बार में ही सभी की आलोचना कर लेता है और आगे प्रतिसेवना न करने का मानस बना लेता है, वह मासिक प्रायश्चित्त से मुक्त हो सकता है। किन्तु जो मुनि बार-बार प्रतिसेवना करके आलोचना करता है उसे उसी प्रतिसेवना के लिए मूल और छेद का प्रायश्चित्त भी प्राप्त हो सकता है।[9]

व्यवहारभाष्य के अनुसार कोई मुनि अशुभ परिणामों से निष्कारण ही मासिक प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना कर लेता है, वह एक पूरे मास के प्रायश्चित्त से ही विशुद्ध होता है, क्योंकि वह दुष्ट अध्यवसाय के कारण दूषित मनोवृत्तियों से प्रत्यावृत्त नहीं होता।

कोई मुनि शुभ परिणामों के साथ बहुमासिक प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना करता है किन्तु वह एक मास के प्रायश्चित्त से भी विशुद्ध हो जाता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति दण्ड पाकर अपनी आत्मा में दुःखी होता है।[10]

इस प्रकार शुभाशुभ अध्यवसायों के अनुसार अधिक प्रतिसेवना में भी अल्प एवं अल्प प्रतिसेवना में अधिक प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।

4. ज्येष्ठ आदि स्थान के आधार पर प्रायश्चित्त

बृहत्कल्पभाष्य की टीकानुसार आदि अर्थात छोटे-बड़े ज्येष्ठ आदि मुनियों के प्रति एक जैसा अपराध करने पर भी उनमें पद गरिमा के क्रम से बढ़ता हुआ प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

जैसे गुरु के वचन का अतिक्रमण करने से-षड्गुरु, वृषभ के वचन का अतिक्रमण करने से-छेद, कुलस्थविर के वचन का अतिक्रमण करने से-मूल, गणस्थविर के वचन का अतिक्रमण करने से-अनवस्थाप्य, संघस्थविर के वचन का अतिक्रमण करने से-पारांचिक, प्रायश्चित्त आता है।[11]

5. दुर्बलता आदि के आधार पर प्रायश्चित्त

जिनशासन में दुर्बल व्यक्ति को कम प्रायश्चित्त दिया जाता है। एक शिष्य ने जिज्ञासा की-भगवन्! यदि दुर्बल व्यक्ति पश्चात प्राप्त छहमासिक का

पूर्वप्रस्थापित के शेष रहे छह दिनों में ही वहन कर लेता है, इससे तो आपका दुर्बल के प्रति राग और बलिष्ठ के प्रति द्वेष परिलक्षित हो रहा है।

गुरु ने समाधान दिया– हे शिष्य! अरणि घर्षण से उत्पन्न आग बड़े काष्ठ को नहीं जला सकती और शीघ्र बुझ जाती है। किन्तु वही अग्नि काष्ठ या छगण आदि के चूर्ण में डालने से क्रमशः प्रबल हो जाती है। इसी प्रकार धृति-संहनन से दुर्बल व्यक्ति पुनः पुनः छह मासिक तप करता हुआ विषाद को प्राप्त हो सकता है। बड़े काष्ठ की आग बड़े काष्ठ को जलाने में समर्थ होती है। इसी प्रकार धृति-संहनन से सुदृढ़ व्यक्ति ही छह माह का तप पुनः करने में सक्षम होता है।

एक माह के शिशु को चार माह के शिशु का आहार देने पर वह अजीर्ण रोग से ग्रस्त हो जाता है। चार माह के शिशु को एक माह के शिशु का आहार देने पर वह दुर्बल हो जाता है, किन्तु एक माह के शिशु को अल्प और चार माह के शिशु को प्रचुर आहार देने वाला पक्षपात के दोष से रहित होता है। इसी तथ्य को दुर्बल अपराधी के विषय में घटित करना चाहिए।

इस प्रकार निर्बल एवं सबल के आधार पर भी न्यूनाधिक प्रायश्चित्त दिया जाता है।[12]

6. पुरुष भेद के आधार पर प्रायश्चित्त

यहाँ पुरुष शब्द से तात्पर्य भिन्न-भिन्न लिंग, वय, चित्तवृत्ति एवं मनःस्थिति वाले व्यक्ति विशेष हैं। इस अपेक्षा से व्यवहारभाष्य में पुरुष के अनेक भेद हैं यथा– गुरु आदि पुरुष; परिणामी-अपरिणामी और अतिपरिणामी पुरुष; ऋद्धिमानप्रव्रजित-ऋद्धिविहीन प्रव्रजित; पुरुष, स्त्री, नुपंसक; बाल-वृद्ध, स्थिर-अस्थिर, कृतयोगी-अकृतयोगी आदि–इन सबके समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित्त में भिन्नता रहती है।

स्वभाव की अपेक्षा व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं–भद्र और निष्ठुर। इनके तुल्य अपराध होने पर भी इनके प्रायश्चित्त में भेद रहता है।[13]

तप के आधार पर प्रायश्चित्तवाहक पुरुषों के दो भेद हैं–कृतकरण और अकृतकरण।

कृतकरण प्रायश्चित्त वाहक द्विविध होते हैं–

1. सापेक्ष–गच्छवासी, जैसे आचार्य, उपाध्याय, साधु।
2. निरपेक्ष–संघयुक्त, जैसे जिनकल्पिक आदि।

अकृतकरण प्रायश्चित्तवाहक भी दो प्रकार के होते हैं–गीतार्थ और अगीतार्थ। इनके दो-दो भेद हैं–

1. स्थिर–धृति-संहनन सम्पन्न, स्थिर गीतार्थ जितनी मात्रा में प्रायश्चित्त स्थान का सेवन करता है उतनी मात्रा में उसे परिपूर्ण प्रायश्चित्त दिया जाता है।

2. अस्थिर–धृति-संहननहीन एवं अगीतार्थ मुनि को उसकी सामर्थ्य के आधार पर कम या पूर्ण प्रायश्चित्त देते हैं।[14]

इस तरह व्यक्तिभेद से भी हीनाधिक प्रायश्चित्त देने का विधान है।

7. सापेक्ष-निरपेक्ष दृष्टि के आधार पर प्रायश्चित्त

जैन वाङ्मय अत्यन्त गूढ़ है। यहाँ धर्मोपदेष्टा एवं धर्मवाहक का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है उसके परिणामस्वरूप ही धर्म परम्पराएँ अविच्छिन्न रूप से प्रवर्त्तमान रहती है। जहाँ धर्मोपदेशक श्रोता अपनी पात्रता के अनुसार प्रवचन करता है वहीं धर्म की गंगा अविरल रूप से प्रवहमान होती है इस नियम को प्रायश्चित्त-दान के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त किया गया है।

व्यवहारभाष्य में कहा गया है कि प्रायश्चित्तार्ह आचार्य अपराधी मुनि को निरपेक्ष व सापेक्ष उभय दृष्टि से प्रायश्चित्त देते हैं। जैसे कोई शिष्य धृति और संहनन से हीन है उनके प्रति आचार्य निरपेक्ष होकर पूरा प्रायश्चित्त नहीं देते, अन्यथा वे द्रव्य या भाव विनष्ट हो सकते हैं।

वे प्रायश्चित्त प्राप्त शिष्य के प्रति सापेक्ष होकर, वह अपने सामर्थ्य से एक साथ जितना प्रायश्चित्त वहन कर सकता है, उसकी ही अनुमति देते हैं। इतना ही नहीं वे प्रायश्चित्त के अनेक विकल्प प्रस्तुत कर उसे इच्छानुसार विकल्प ग्रहण करने की बात कहते हैं।

आचार्य प्रायश्चित्तवाही मुनि के प्रति सानुकम्प होते हैं, जो जितना कर सकता है, उसे उतना प्रायश्चित्त देते हैं। इस विधि से वह शिष्य को संयम में स्थिर करते हैं और स्वयं जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होते हैं।[15]

इस प्रकार अपराधी की सामर्थ्यता एवं उसकी अभिरुचि के अनुसार न्यूनाधिक प्रायश्चित्त दिया जाता है।

8. अपवाद मार्ग के आधार पर प्रायश्चित्त

उत्सर्गतः अनाचारसेवी मुनि को गुरु द्वारा अपराध के योग्य जितना प्रायश्चित्त दिया जाये उतना यथावत परिपूर्ण करना चाहिए। तदुपरान्त किसी

मुनि को दोष सेवन के दण्डस्वरूप पाँच कल्याणक परिमाण तप दिया गया है और वह उन्हें ज्येष्ठानुक्रम से वहन करने में असमर्थ है, तो आचार्य उसके लिए अनेक विकल्पों का निर्देश करते हैं।

स्वरूपत: पाँच उपवास, पाँच आयम्बिल, पाँच एकासना, पाँच पुरिमड्ढ और पाँच नीवि-इन पच्चीस दिनों का उपवास आदि के क्रम से प्रत्याख्यान करने पर पाँच कल्याणक प्रायश्चित्त का निर्वहन होता है। जो इस रूप में वहन नहीं कर सकता है, आचार्य उसे सानुग्रह दस उपवास का निर्देश देते हैं। यह भी संभव न हो तो इस प्रायश्चित्त के अनुपात से दुगुने-दुगुने के क्रम से वहन करवाते हैं जैसे बीस आयंबिल या चालीस एकासना या अस्सी पुरिमड्ढ या एक सौ साठ नीवि करवाते हैं।

द्वितीय विकल्प के अनुसार यदि पाँच कल्याणक परिमाण तप को क्रमश: न कर सकें तो दूसरा, तीसरा आदि करवाकर शेष कल्याणकों को विच्छिन्न क्रम से करवाते हैं।

तृतीय विकल्प के अनुसार यदि अपराधी मुनि यथाक्रम या विच्छिन्न क्रम से करने में भी असमर्थ हो तो अपवादत: चार, तीन, दो अथवा एक कल्याणक भी करवाते हैं।

इस प्रकार निर्धारित रूप से किन्हीं प्रायश्चित्तों में अशक्यता के अनुसार भी परिवर्तन किया जा सकता है।[16]

उक्त वर्णन के आधार पर हम पाते हैं कि जैन आम्नाय में प्रायश्चित्त-दानविधि का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। यहाँ बाह्य एवं आभ्यन्तर परिस्थितियों की अपेक्षा कभी तुल्य अपराध में भिन्न एवं भिन्न अपराध में भी तुल्य प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसी तरह अल्प दोष का सेवन करने पर अधिक एवं अधिक दोष के आसेवन पर अल्प दण्ड भी दिया जाता है। प्रायश्चित्त दान की इस विविधता का मुख्य कारण अपराधी की मनोवृत्ति एवं उसकी शारीरिक क्षमता तथा अपराध जन्य घटनाओं की सूक्ष्मता व स्थूलता है।

श्रमण संस्कृति की दूसरी धारा बौद्ध संस्कृति प्रायश्चित्त व्यवस्था को अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करती है। जैसे जैन परम्परा में भिक्षु व भिक्षुणी के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है वैसे ही बौद्ध परम्परा में भी दोनों के लिए अलग-अलग नियम हैं। बौद्ध संघ में भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुनी

पातिमोक्ख–ऐसे दो विभाग हैं। भिक्खु पातिमोक्ख के नियमों की संख्या अधिक है किन्तु वर्तमान में हमें यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। यहाँ भिक्षु-भिक्षुणियों को जिस अपराध के कारण दण्ड दिया जाता है उसे आपत्ति कहते हैं।

इस परम्परा में दण्ड (प्रायश्चित्त) के आठ प्रकार माने गये हैं उनके नाम हैं–1. पाराजिक, 2. संघादिदेस, 3. नैसर्गिक, 4. पाचित्तिय, 5. प्रतिदेशनीय, 6. थुल्लच्च, 7. दुक्कट और 8. दुब्भासिय।

विनयपिटक आदि में इन प्रायश्चित्तों के योग्य अपराधों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

थेरवादी निकाय में भिक्षुणियों के लिए 166 प्रायश्चित्त नियम बताये गये हैं तथा महासांघिक निकाय में प्रायश्चित्त धर्म की संख्या 949 है। दोनों में ही पाचित्तिय सम्बन्धी नियम प्राय: समान हैं। उन नियमों में कुछ दुष्कृत्य से सम्बन्धित हैं, कुछ मैथुन जन्य अपराध के लिए प्रायश्चित्त देने सम्बन्धी हैं, कुछ हिंसा सम्बन्धी तो कुछ चोरी सम्बन्धी, कुछ निषिद्ध आहार सम्बन्धी तो कितने ही आचारसंहिता के विरुद्ध कार्य के अपराध के लिए प्रायश्चित्त देने सम्बन्धी हैं।

जैन संघ में किसी भी अपराध का दण्ड अपराधजन्य परिस्थितियों के अनुसार दिया जाता है। यदि कोई साधक स्वेच्छा से दोष सेवन करता है, बार-बार उसकी पुनरावृत्ति करता है, गुरु के समक्ष अपराध स्वीकार नहीं करता है तो उसे कठोर दण्ड देने का विधान है, किन्तु वही अपराध अनभिज्ञता में या विशेष परिस्थिति में हुआ हो तो उसका प्रायश्चित्त कम दिया जाता है। बौद्ध संघ में इस तरह की प्रायश्चित्त व्यवस्था नहीं है। जैनशासन में प्रवर्तित दस प्रायश्चित्तों में से आलोचना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि उस कोटि के प्रायश्चित्त हैं जिन्हें साधक उभय सन्ध्याओं में नियम से करता है पर बौद्ध शासन में किसी भी प्रायश्चित्त को प्रतिदिन के लिए अनिवार्य नहीं माना गया है। वहाँ तो पन्द्रहवें दिन उपोसथ के समय पातिमोक्ख नियमों का वाचन होता है उस समय आपराधिक नियमों को सूचित किया जाता है यानी कोई भी अपराध पन्द्रहवें दिन ही संघ के सामने प्रकट होता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म में प्रायश्चित्त विधान समुचित रूप से विद्यमान है।

भारतीय संस्कृति की एक विशिष्ट संस्कृति के रूप में वैदिक संस्कृति का नाम लिया जाता है। इस परम्परा के ग्रन्थों में ऋषि महर्षियों द्वारा पापरहित होने

के बहुत से उपाय बतलाये गये हैं। ऋग्वेद[17] में विज्ञ पुरुषों के लिए सात मर्यादाएँ कही गयी हैं उनमें से एक का भी अतिक्रमण करने वाले को पापी की संज्ञा दी गयी है। तैत्तिरीय संहिता[18] में ब्राह्मणहत्या को सबसे बड़ा पाप माना है। काठक[19] में भ्रूणहत्या को ब्राह्मणहत्या से भी विशेष पाप माना है। वसिष्ठसूत्र में अपराधियों को तीन कोटि में बाँटा गया है–

1. एनस्वी, 2. महापातकी, 3. उपपातकी।

साधारण पापी को एनस्वी कहा है तथा उसके लिए विशिष्ट प्रायश्चित्त की व्यवस्था का विधान है। निम्न पाँच प्रकार का पाप कार्य करने वाला महापातक कहा गया है–

1. गुरु शय्या को अपवित्र करना, 2. सुरापान करना, 3. भ्रूण की हत्या करना, 4. ब्राह्मण के हिरण्य की चोरी करना, 5. पतित का संसर्ग करना।

अग्निहोत्र का त्याग करने वाला, स्व अपराध से गुरु को कुपित करने वाला तथा नास्तिकों के यहाँ आजीविका उपार्जन करने वाला उपपातकी माना गया है।

तैत्तिरीय संहिता, शतपथब्राह्मण, गौतमधर्मसूत्र, मनुस्मृति, वसिष्ठस्मृति आदि ग्रन्थों में पापकर्मों से मुक्त होने के कई साधन भी बतलाये गये हैं।

जैसे जैन परम्परा में आलोचना करने से कुछ दोष समाप्त हो जाते हैं वैसे ही इस परम्परा में माना गया है कि अपराध स्वीकृत व्यक्ति का पाप कम हो जाता है। बोधायनधर्मसूत्र, शंखस्मृति, मनुस्मृति आदि कतिविध ग्रन्थों में हर तरह के पाप से मुक्त होने का उपाय निर्दिष्ट किया गया है।

जैन परम्परा की भाँति वैदिक परम्परा में भी प्रायश्चित्त सम्बन्धी विपुल साहित्य है। गौतम धर्मसूत्र के 28 अध्यायों में से 10 अध्याय प्रायश्चित्त का वर्णन करते हैं, वसिष्ठ धर्मसूत्र के 30 अध्यायों में 9 अध्याय प्रायश्चित्त सम्बन्धी ही हैं, मनुस्मृति में कुल 222 श्लोक प्रायश्चित्त की चर्चा करते हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के तीसरे अध्याय में 122 श्लोक प्रायश्चित्त पर आधारित हैं, शातातपस्मृति[20] में केवल प्रायश्चित्त का ही वर्णन है। इसी तरह अग्निपुराण[21] गरुड़पुराण[22] कूर्मपुराण,[23] वराहपुराण,[24] ब्रह्माण्डपुराण[25] प्रायश्चित्त सम्बन्धित सामग्री से भरे पड़े हैं। इसके सिवाय मिताक्षर, अपरार्क, पाराशर, माधवीय आदि टीकाओं में प्रायश्चित्त पर गहरा चिन्तन किया गया है। इनके अतिरिक्त

प्रायश्चित्त प्रकरण, प्रायश्चित्त विवेक, प्रायश्चित्त तत्त्व, स्मृति मुक्ताफल, प्रायश्चित्त मयूख, प्रायश्चित्त प्रकाश आदि अनेक रचनाएँ प्रायश्चित्त से ही सम्बन्धित हैं।

जैन परम्परा के समान यहाँ भी सभी व्यक्तियों के लिए तुल्य प्रायश्चित्त का विधान नहीं है तथा समान अपराध में भी परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक प्रायश्चित्त का नियम है। यहाँ प्रायश्चित्त दण्ड एवं अपराध स्वीकार के चार स्तर माने गये हैं–

1. परिषद् के समीप जाना, 2. परिषद् द्वारा यथोचित् प्रायश्चित्त का उद्घोष करना, 3. प्रायश्चित्त का सम्पादन करना और 4. अपराधी के पापकर्म से मुक्त होने का प्रकाशन करना।

स्पष्टार्थ यह है कि इस धर्म में प्रायश्चित्त प्रदान करने वाली एक परिषद् होती है वही अपराध की गुरुता एवं अपराधी की मनोवृत्ति देखकर तदनुसार प्रायश्चित्त (दण्ड) प्रदान करती है।

उपरोक्त विवेचन से यह निर्विवादत: सिद्ध होता है कि जैन, बौद्ध एवं वैदिक त्रिविध धाराओं में अपराध स्वीकार एवं प्रायश्चित्तदान का मूल्य युग के आदिमकाल से रहा है। तीनों ही परम्पराएँ प्रायश्चित्त का उद्देश्य एवं उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में भी प्राय: समान विचार रखती हैं। अत: कह सकते हैं कि प्रायश्चित्त आत्मशुद्धि का अपरिहार्य अंग है, मलीनता के निर्गमित करने का पुष्ट साधन है तथा प्रगाढ़ रूप से आबद्ध पापकर्मों के मोचन का अनन्तर कारण है।

सन्दर्भ-सूची

1. *जीतकल्पभाष्य, 5*
2. *व्यवहारभाष्य, 35*
3. *वही, 4026 की टीका*
4. *वही, 319*
5. *निशीथभाष्य, 6497-6499 की चूर्णि*
6. *व्यवहारभाष्य, 44 की टीका*
7. *वही, 331-332 की टीका*

8. *वही, 329-330 की टीका*
9. *वही, 339*
10. *वही, 340*
11. *बृहत्कल्पभाष्य, 2859 की टीका*
12. *व्यवहारभाष्य, 494*
13. *वही, 4025-4026*
14. *वही, 159-160*
15. *वही, 4202, 4204, 4207-09*
16. *वही, 4205-4207 की टीका*
17. *ऋग्वेद, 10/5/6*
18. *तैत्तिरीय संहिता, 2/5/9/2*
19. *यजुर्वेदीय काठक संहिता,* 13/7/पृ. 126-127
20. *शातातपस्मृति, श्लो. 189*
21. *अग्निपुराण, 69-70*
22. *गरुड़पुराण, श्लो. 269-70*
23. *कूर्मपुराण, अ. 30-34, पृ. 750-803*
24. *वराहपुराण, अ. 131-136, पृ. 115-122*
25. *ब्रह्माण्ड पुराणम्, अध्याय 9 / श्लो. 19-22*

●

सहायक ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अनगार धर्मामृत	पं. आशाधर रचित	माणकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	1919
2.	अनगार धर्मामृत	पं. आशाधर रचित संपा. पं. कैलाशचन्द शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1977
3.	अनगार धर्मामृत (स्वोपज्ञ टीका)	पं. आशाधर रचित	मा.दि. जैन ग्रन्थमाला, समिति, बम्बई	1919
4.	अभिधान राजेन्द्र कोश (भा. 5)	आचार्य राजेन्द्रसूरि	अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद	1986
5.	अग्निपुराण (खंड 1)	पं.श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	1969
6.	अंगसुत्ताणि(भाग 1-3)	युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1992
7.	आचारांग निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1999
8.	आचारसार	वीरनन्दी सैद्धान्तिक चक्रवर्ती	मा. दि. दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	1974
9.	आचार दिनकर (भा.2)	आचार्य वर्धमानसूरि	निर्णय सागर मुद्रालय, मुम्बई	1922
10.	आवश्यकचूर्णि (भा.1-2)	—	जैन श्वे. संस्था, रतलाम	1928 -29
11.	आवश्यक निर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु स्वामी	देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत	वि.सं. 1976
12.	उत्तराध्ययनसूत्र	संपा. मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
13.	उत्तराध्ययन निर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह)	आचार्य भद्रबाहु स्वामी	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, जामनगर	1989

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
14.	उत्तराध्ययन टीका	टीका. शान्त्याचार्य	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई	1973
15.	उपासकाध्ययन	सोमदेवसूरि रचित	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1964
16.	ओघनिर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु	आगमोदय समिति, बम्बई	1919
17.	ओघनिर्युक्ति टीका	टीका. द्रोणाचार्य	आगमोदय समिति, बम्बई	1919
18.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामीकुमार	राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास	वि.सं. 2016
19.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका	शुभचन्द्राचार्य	राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास	वि.सं. 2016
20.	कूर्मपुराण (ख.द्वि.)	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	1970
21.	कूर्मपुराण	अनु.तारिणीश झा	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	1993
22.	गरुड़ पुराण	डॉ.अवधबिहारी लाल	कैलाश प्रकाशन, लखनऊ	1968
23.	गौतमधर्मसूत्राणि	व्याख्या.डॉ.उमेशचन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी	1966
24.	चारित्रसार	चामुण्डराय	मा.दि.जैन ग्रंथमाला,बम्बई	वि.सं. 1974
25.	जीतकल्पसूत्र	जिनभद्रगणि श्रमाश्रमण	जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद	1936
26.	जीतकल्पसूत्र चूर्णि	सिद्धसेनसूरि	जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद	1926
27.	जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भा.1)	जिनेन्द्रवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	1970
28.	तत्वार्थभाष्यवृत्ति	सिद्धसेनगणि	जैन पुस्तकोद्धार फंड,मुंबई	1982

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
29.	तत्त्वार्थवार्तिक(भा.1-2)	आचार्य अकलंकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1953-1957
30.	दशवैकालिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985
31.	दशवैकालिकवृत्ति	आचार्य हरिभद्रसूरि	जैन पुस्तकोद्धार फंड,बंबई	1918
32.	दशवैकालिक (अगस्त्यचूर्णि)	—	प्राकृत टेक्सट सोसायटी, अहमदाबाद	1973
33.	धवला पुस्तक (भा.13)	वीरसेनाचार्य	जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती	1939-1958
34.	धर्मसंग्रह (भा.3)	उपाध्याय मानविजय	निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ	1994
35.	नियमसार	टीका. पद्मप्रभ मलधारिदेव	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	1984
36.	निशीथचूर्णि	—	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1982
37.	निशीथभाष्य	—	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1982
38.	पंचाशक प्रकरण	अनु.डॉ. दीनानाथ शर्मा	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1997
39.	प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्रसूरि	जीवनचन्द साकरचन्द जवेरी, बम्बई	1926
40.	प्रवचनसारोद्धार (भा.1-2)	अनु.साध्वी हेमप्रभाश्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
41.	प्रवचनसारोद्धारवृत्ति	टीका. सिद्धसेनसूरि	जीवनचन्द, साकरचन्द जवेरी, बम्बई	1926
42.	प्रायश्चित्त संग्रह	पं. पन्नालाल सोनी	मा.दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, मुम्बई	वि.सं. 1978
43.	प्रायश्चित्त विधान	संपा. विष्णुकुमार चौधरी	आदिसागर अंकलीकर विद्यालय, इटावा	2003

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
44.	बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति (भा.1-6)	संपा.पुण्यविजय	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	1933-1942
45.	ब्रह्माण्ड पुराण	संशो. के.वी. शर्मा	कृष्णदास अकादमी, वाराणसी	1983
46.	बोधायनधर्मसूत्रम्	संपा.चिन्नस्वामि शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस	1934
47.	भगवती टीका	टीका. अभयदेवसूरि	निर्णय सागर प्रेस, मुंबई	वि.सं. 1974
48.	भगवती आराधना (विजयोदया टीका)	अपराजित सूरि	बलात्कार जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा	1935
49.	भिक्षु आगम विषय कोश (भा.1-2)	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1996-2005
50.	मनुस्मृति	संपा.पं. गोपाल शास्त्री नेने	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी	1970
51.	मनुस्मृति	पाठक गणेशदत्त	श्री ठाकुर प्रसाद पुस्तक भंडार, वाराणसी	2002
52.	मूलाचार	वट्टकेराचार्य	मा.दि.जैन ग्रन्थमाला,बम्बई	वि.सं. 1979 -80
53.	मूलाचार	वट्टकेराचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1984
54.	यजुर्वेदीय काठक संहिता	सातवलेकर	श्री पाद दामोदर, पारडी	1983
55.	याज्ञवल्क्यस्मृति (भा.2)	संपा. गणपति शास्त्री	राजकीय मुद्रण यंत्रालय, त्रिवेन्द्रम	1924
56.	याज्ञवल्क्य स्मृति	नारायण शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी	
57.	योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण	आचार्य हेमचन्द्राचार्य रचित	जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर	1926

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
58.	लाटी संहिता	श्री राजमल्ल विरचिता	श्री मा.दि. जैन ग्रंथमाला समिति हीराबाग, गिरगांव	1984
59.	वराह पुराण	संशो.के.वी. शर्मा	मेहरचन्द लक्ष्मनदास,दिल्ली	1984
60.	विधिमार्गप्रपा	आचार्य जिनप्रभसूरि	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
61.	विधिमार्गप्रपा(सानुवाद)	अनु.साध्वी सौम्यगुणाश्री	श्री महावीर स्वामी देरासर पायधुनी, मुंबई	2006
62.	विशेषावश्यकभाष्य	—	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद	वी.सं. 2489
63.	विंशतिविंशिका	संपा. धर्मरक्षित विजय	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, 39 कलिकुंड सोसायटी,धोलका	
64.	व्यवहारसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
65.	व्यवहारभाष्य	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1966
66.	व्यवहारभाष्य	अनु. मुनि दुलहराज	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2004
67.	व्यवहारभाष्यवृत्ति	—	वकील केशवलाल प्रेमचंद, अहमदाबाद	
68.	शातातपस्मृति (20 स्मृतियाँ भा. 1)	संपा.पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	1966
69.	श्राद्धजीतकल्प	—	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2063
70.	सर्वार्थसिद्धि	अनु.पं.फूलचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1999
71.	सभाष्य तत्त्वार्थधिगमसूत्र	अनु.पं.खूबचन्द जी	श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मंडल, बम्बई	1932
72.	स्थानांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981
73.	स्थानांग टीका	अभयदेवसूरि	सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद	1937

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

विधि संशोधिका का अणु परिचय

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
दीक्षा गुरु	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जनमणि श्रीजी म. सा.
शिक्षा गुरु	:	संघरत्ना प. पू. शशिप्रभा श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

जिन खोजा तिन पाया

- आगमिक संदर्भों में प्रायश्चित्त का स्वरूप ?
- कौन, किस प्रायश्चित्त का अधिकारी ?
- प्रायश्चित्त तप का प्रावधान कब से और क्यों ?
- प्रायश्चित्त दान के विविध प्रकार एवं उसके प्रतीकाक्षर ?
- वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रायश्चित्त की उपयोगिता ?
- आलोचना क्या, क्यों और किसके समक्ष करें ?
- आलोचना किन स्थितियों में और कब ?.
- कैसे करें आलोचना की मानसिक तैयारी ?
- आलोचना न करने के दुष्परिणामों का शास्त्रीय पर्यवेक्षण ?
- आलोचना घाटे का सौदा या फायदे का ?
- जैनाचार्यों की दृष्टि में किस दोष के लिए कौन सा प्रायश्चित्त आवश्यक ?

SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com

ISBN 978-81-910801-6-2 (X)